HINDI KI STREE AATMAKATHAON MEIN AATM AUR ITIHAS KI ABHIVYAKTI

A Thesis submitted during 2013 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a Ph.D. degree in Department of Hindi, School of Humanities.

By

NEELAM PANDEY
08HHPH08

2013

Department of Hindi
School of Humanities

University of Hyderabad
Central University P.O.
Prof. C. R. Rao Road
Gachibowli
Hyderabad – 500 046
Andhra Pradesh
INDIA

D E C L A R A T I O N

I, NEELAM PANDEY, hereby declare that this thesis entitled " **HINDI KI STREE AATMAKATHAON MEIN AATM AUR ITIHAS KI ABHIVYAKTI"** (हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं में आत्म और इतिहास की अभिव्यक्ति) submitted by me under the guidance and supervision of **Prof. GARIMA SRIVASTAVA** is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Name : **NEELAM PANDEY**

(Signature of the Student)
Regd. No. 08HHPH08

Date :

C E R T I F I C A T E

This is to certify that the thesis entitled "**HINDI KI STREE AATMAKATHAON MEIN AATM AUR ITIHAS KI ABHIVYAKTI "** (हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं में आत्म और इतिहास की अभिव्यक्ति) submitted by **Neelam Pandey** bearing Reg. No. 08HHPH08 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in Hindi is a bonafide work carried out by her under my supervision and guidance.

As far as I know, the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

Head of the Department

Dean of the School

अनुक्रमणिका

पृ.सं.

भूमिका **i-viii**

प्रथम अध्याय : आत्म कथा लेखन की सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि **1-60**

(i) भारत में आत्मकथा लेखन की परम्परा

(ii) पश्चिम में आत्मकथा लेखन की परम्परा

द्वितीय अध्याय : स्त्री आत्मकथाओं का वैचारिक परिप्रेक्ष्य **61-98**

तृतीय अध्याय : पुरुष वर्चस्व का प्रतिरोध और स्त्री अस्मिता के आत्म कथात्मक स्वर **99-140**

चतुर्थ अध्याय : हिन्दी की स्त्री आत्मकथाएँ - आत्म और इतिहास की अभिव्यक्ति (प्रमुख स्त्री आत्मकथाओं के विशेष संदर्भ में) **141-268**

पंचम अध्याय : साहित्य की विविध विधाओं के संदर्भ में आत्मकथा विधा का वैशिष्टय **269-288**

उपसंहार **289-301**

संदर्भ ग्रंथ सूची **302-312**

I. आधार ग्रंथ

II. सहायक ग्रंथ

III. पत्र-पत्रिकाएँ (हिंदी)

IV. सहायक ग्रंथ (अंग्रेजी)

भूमिका

हिन्दी में आत्मकथा साहित्य की कोई विकसित परंपरा नहीं रही। आत्मकथा विधा का विकास आधुनिक युग की देन है। प्राचीन काल में इस विधा को रचनाकारों ने विधिवतरूपेण तो नहीं अपनाया, परंतु अपने आत्म उन्नति हेतु सचेष्ट प्रयास अवश्य किए। उनकी भावनात्मक अभिव्यक्ति आत्म ज्ञापन व आत्म प्रसार की लालसा से विमुक्त होते हुए भी उनके संपूर्ण जीवन तथा उनके कार्यान्वयन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस भावनात्मक प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करने के लिए काव्य को माध्यम रूपेण ग्राह्य किया गया। परिणामत: काव्य की एक सुदीर्घ परंपरा आज भी परिवर्तित रूपों में गतिमान है। इस भावनात्मक प्रवृत्ति को आधुनिक युग की यांत्रिकता तथा वैचारिकता ने प्रभावित किया, जिसके कारण गद्य की परंपरागत विधाओं - नाटक, उपन्यास, कहानी और निबंध के व्यापक प्रचार के साथ-साथ जीवनी, दैनंदिनी, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, संस्मरण और आत्मकथा विधा का जन्म हुआ। हिन्दी में सर्वप्रथम आत्मकथा का आरम्भ बनारसी दास कृत आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' (सन् 1641 ई.) से माना जाता है। जिसमें पश्चाताप और प्रायश्चित की भावना को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं का आरंभ सन् 1882 ई. में एक अज्ञात हिन्दू कृत 'सीमन्तनी उपदेश' से माना जा सकता है। जिसमें लेखिका ने अपने वैचारिक आत्मोद्गारों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। गद्य की अन्य विधाओं की तुलना में आत्मकथा विधा की क्षीणकाय परंपरा होने के बावजूद हिन्दी साहित्य में पुरुषों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएँ विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं किन्तु स्त्रियों द्वारा रचित आत्मकथाओं को अंगुलियों पर गिना जा सकता है क्योंकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों को प्राथमिकता प्राप्त हुई। आत्मकथा प्रणयन की परंपरा को समुन्नत बनाने हेतु सन् 1932 ई. में प्रेमचंद के संपादन में 'हंस' पत्रिका का आत्मकथा अंक प्रकाशित हुआ।

हिन्दी की स्त्री आत्मकथा का आशातीत और वास्तविक विकास बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ परन्तु यदि हम अपने विगत पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि स्त्रियों ने अपनी आत्माभिव्यक्ति को गीतों और पदों के माध्यम से व्यक्त करने का साहसिक कदम उठाया। बुद्धकाल की थेरियों (भिक्षुणियों) ने भौतिक/सांसारिक जीवन दु:ख, दर्द, पीड़ा, बंधनों और मुक्ति के भावों को शब्दों में पिरोया जो बाद में थेरी गाथाओं के नाम से विख्यात हुए। एक थेरी मुक्ता कौशल की आत्माभिव्यक्ति इस प्रकार है-

मैं सुमुक्त हो गयी
अच्छी विमुक्त हो गयी
तीन टेढ़ी चीजों से
अच्छी विमुक्त हो गयी
ओखली से। मूसल से। और अपने कुबड़े पति से।

(हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास - सुमन राजे)

मुक्ति का अनुभव उन्हें जीवन को नए ढंग से जीने की प्रेरणा देता है। मध्य युग में सहज एवं ठोस जीवनानुभवों की तीव्रतम अभिव्यक्ति मीरा के द्वारा हुई। मीरा ने पुरुष वर्चस्व को ताक में रखकर स्वतंत्र जीवन की इच्छा, स्वैच्छिक निर्णय को प्राथमिकता दी और अपने पदों में उन्हें अभिव्यक्त भी किया -

छाँड़ दई कुल की लाज का करे कोई
संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई
चूनरी के किए टूक ओढ़ लई लोई
मोती मूँगे उतार वनमाला पोई।

(स्त्री लेखन और समय के सरोकार - हेमलता महिश्वर)

इसी काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति को आधुनिक काल में महादेवी वर्मा ने अपने जीवन का ध्येय बनाया और करुणा, दु:ख, पीड़ा के आत्मानुभवों को अभिव्यक्त किया।

आत्मकथा प्रणयन कंटकों के मध्य निष्कंटक मार्ग बनाना है। एक लेखक के लिए आत्मकथा लेखन सबसे बड़ा चुनौतीपूर्ण कार्य है। अपने आपको सभी के समक्ष अनावरण करना, जीवनानुभवों को बिना किसी लाग लपेट के शब्दों में व्यक्त करना इतना सहज नहीं हो सकता। सामाजिक जीवन की जटिलता और मानसिक उत्कंठा भाव और भाषा को बाधित करते हैं। जीवन की दुर्बलताओं और सफलताओं को ईमानदारी और तटस्थता के साथ उद्घाटित करना आत्मकथा लेखन की प्राथमिक शर्त है। आत्मकथा कल्पित जीवन की यात्रा न होकर बल्कि व्यक्ति विशेष के वास्तविक जीवन की गाथा है। जिसमें 'आत्म' अपना और 'कथा' समाज की कही जाती है।

विभिन्न भारतीय भाषाओं में स्त्री आत्मचरित्र को अभाव होते हुए भी उनकी उपस्थिति मात्र ही आकर्षण का विषय बनी हुई है। हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं के लेखन के संदर्भ में देखें तो धर्मवीर भारती द्वारा संपादित 'सीमन्तनी उपदेश' (सन् 1882 ई.) प्रथम स्त्री वैचारिक उन्मेष, प्रज्ञा पाठक द्वारा संपादित 'सरला एक विधवा की आत्मजीवनी' (सन् 1915 ई.), जानकी देवी बजाज कृत 'जो कहा नहीं गया' (सन् 1996 ई.), पद्मा सचदेव कृत 'बूँद बावड़ी' (सन् 1999 ई.), शीला झुनझुनवाला कृत 'कुछ कही कुछ अनकही' (सन् 2000 ई.), मैत्रेयी पुष्पा कृत 'कस्तूरी कुंडल बसै' (सन् 2002 ई.), अनीता राकेश कृत 'सतरें और सतरें' (सन् 2002 ई.), रमणिका गुप्ता कृत 'हादसे' (2005 ई.), गगन गिल कृत 'दिल्ली में उनींदे' (सन् 2006 ई.), प्रभा खेतान कृत 'अन्या से अनन्या' (सन् 2007 ई.), मन्नू भंडारी कृत 'एक कहानी यह भी' (सन् 2007 ई.), मैत्रेयी पुष्पा कृत 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (सन् 2008 ई.), चन्द्र

किरण सौनरेक्सा कृत 'पिंजरे की मैना' (सन् 2008 ई.), कृष्णा अग्निहोत्री कृत 'लगता नहीं दिल मेरा' (सन् 2010 ई.) आदि आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई। इन स्त्री आत्मकथाओं में अपनी आत्म कहानी अपनी जुबानी कहने के साहस की नींव डाली गयी। इन स्त्री आत्मकथाकारों द्वारा जो प्रथम प्रयास किये गये उसने आत्म के सच को तत्कालीन समय के संदर्भ में किस प्रकार उद्घाटित किया? यही मेरे शोध का विषय बना।

पस्तुत शोध प्रबंध '**हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं में आत्म और इतिहास की अभिव्यक्ति**' में आत्म के विवेचन तथा सामयिक परिदृश्य के गुम्फन को विश्लेषित किया गया है।

अध्ययन की सुविधानुसार विषय को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय का शीर्षक 'आत्मकथा लेखन की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत (क) पश्चिम में आत्मकथा लेखन की परंपरा (ख) भारत में आत्मकथा लेखन की परंपरा को स्पष्ट किया गया है। इस अध्याय में Autobiography शब्द की व्युत्पत्ति, प्रथम प्रयोग तथा विस्तार आदि का विवरणात्मक अध्ययन किया गया है। यह शब्द दो शब्दों के युग्म Auto-आत्म, स्व तथा biography- जीवनी, जीवन चरित अर्थात आत्म की कथा = आत्मकथा। आत्मकथा या Autobiography शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1796 ई. में जर्मनी के हर्डर ने किया था। आरंभ में यह शब्द ब्रिटेन पहुँचा, वहाँ राबर्ट साउथे ने इसका प्रयोग पिरियाडिकल क्वार्टरली रिव्यू में सन् 1908 में किया। (आत्मकथा की संस्कृति - पंकज चतुर्वेदी) आरंभिक दौर में इसे अपोलोजिया (क्षमायाचना) शीर्षक दिया गया। कालांतर में यह आत्मकथा के लिए प्रचलित हुआ। पाश्चात्य में पुरुषों द्वारा आत्मकथा लेखन की परंपरा सन् 1864 ई. से आरंभ मानी जाती है। स्त्री संदर्भ में मार्गे केम्फ द्वारा

1438 ई. में 'बुक ऑफ मार्गे केम्फ' से आरंभ मानी जाती है। इन स्त्री आत्मकथाकारों ने अपने जीवन के कड़वे और मीठे अनुभवों को कागज पर उकेरना आरंभ किया। शनै:-शनै: यह परंपरा सशक्त और समुन्नत होती गई। भारतीय परंपरा के संदर्भ में आत्म चित्रण के संकेत यदा-कदा ही प्राप्त होते हैं। तदंतर यह किंचित प्रयास आत्मलेखन के आरंभ हुए। विधागत प्रथम प्रयास सन् 1641 ई. में जैन कवि बनारसी दास कृत 'अर्द्धकथानक' से माना जाता है। हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं के साथ साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं में लिखी गई स्त्री आत्मकथाओं का परिचयात्मक विवरण दिया गया है।

द्वितीय अध्याय '**स्त्री आत्मकथाओं का वैचारिक परिप्रेक्ष्य**' के अंतर्गत स्त्री आत्मकथाओं का वैचारिक धरातल पर विश्लेषण किया गया है। स्त्री और पुरुष आत्मकथा लेखन के वैचारिक अंतर को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। स्त्री और पुरुष आत्मकथा लेखन के सैद्धांतिक अंतर को भी स्पष्ट किया गया। स्त्री आत्मकथा लेखन के कारक तत्व के रूप में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक पक्षों की भूमिका का विश्लेषण किया गया। किस तरह ये तत्व आत्मकथा लेखन के लिए उत्प्रेरक सिद्ध होते हैं।

तृतीय अध्याय '**पुरुष वर्चस्व का प्रतिरोध और स्त्री अस्मिता के आत्मकथात्मक स्वर**' के अंतर्गत स्त्रियों द्वारा अस्मिता, समानता, स्वतंत्रता के प्रश्नों के साथ-साथ पुरुष वर्चस्व के प्रतिरोध को आत्मकथा के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। पुरुष सत्तात्मक परंपराओं को चुनौती देती स्त्री आत्मकथाएँ अपने अस्तित्व की खोज में प्रयत्नरत है। पुरुष वर्चस्व का प्रतिरोध कभी पितृसत्ता कभी लिंग भेद और कभी वर्गगत कभी भी जातिगत अवरोधों के रूप में किस प्रकार इनके मार्ग का कंटक बना इसका विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय **'हिन्दी की स्त्री आत्मकथाएँ - आत्म और इतिहास की अभिव्यक्ति (प्रमुख स्त्री आत्मकथाओं के विशेष संदर्भ में)** के अंतर्गत मुख्य स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त आत्म और ऐतिहासिक बोध का विश्लेषण व विवेचन किया गया है। आत्मकथा विधा का आधार तत्व आत्म या स्व की उपस्थिति का होना है। इसके अभाव में इस विधा का अस्तित्व ही संदेहगत हो जाएगा। इन आत्मकथाओं में एकात्म अपने विभिन्न रूपों में परिस्थिति विशेष में अनेकात्म में उजागर होता है। ऐतिहासिक बोध के लिए रचनाकार किस तरह अपने समसामयिक घटनाओं और विषयों को राजनीति, धर्म, शिक्षा, संस्कृति को समय सापेक्ष में किस प्रकार देखता व परखता है इसका विश्लेषण किया गया है। क्योंकि कोई भी कृति समय निरपेक्ष नहीं हो सकती, अधिक या कम अपने समय का साक्ष्य अवश्य होती है।

पंचम अध्याय **'साहित्य की विविध विधाओं के संदर्भ में आत्मकथा का वैशिष्ट्य'** के अंतर्गत साहित्य में गद्य की अन्य विधाओं - उपन्यास, कहानी, जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण, दैनंदिनी आदि में आत्मकथा की विशिष्टता को दर्शाया गया है। व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मिक पक्ष के द्वंद्व की अभिव्यक्ति से किस प्रकार उबरता है? व्यक्ति अपने भोगे हुए सच को यथातथ्य जैसे चाहें वैसे व्यक्त करने में स्वतंत्र है, परंतु अन्य विधाओं की भाँति इसमें कल्पना, फैंटेसी तथा सृजन क्षमता के बजाय आत्मविश्लेषण या कार्यकारण के संबंध को स्पष्ट किया गया है। यह विधा व्यक्ति के वास्तविक संसार को प्रस्तुत करने के महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में परिलक्षित होती है।

शोध विषय के विस्तृत अध्ययन के अनन्तर निष्कर्षों को उपसंहार में प्रस्तुत किया गया है। शोध प्रबंध के अंत में शोध को परिपूर्ण बनाने में सहायतार्थ रहे हिन्दी में

प्रकाशित आधारभूत ग्रंथ स्त्री आत्मकथाएँ, संदर्भ ग्रंथ के रूप में अनुवादित आत्मकथाएँ तथा पत्र-पत्रिकाओं की सूची प्रस्तुत की गयी है।

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य विश्व की आधी आबादी (स्त्री) के जीवन संघर्ष तथा उनके वास्तविक संसार को सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत करना है। परिवार और समाज का उपेक्षित व्यवहार उनकी कठिनाइयों को और असाध्य बनाता है। सदियों से उन्हें अबला, आश्रिता, दीन, परित्यक्ता की संज्ञा से विभूषित किया जा रहा है। पुरुष के समतुल्य आँख, कान, नाक, मस्तिष्क होते हुए भी मौन साधने पर विवश किया गया यदि यदा-कदा बोलने का प्रयास किया भी तो तुरंत उसके प्रयत्न विफल कर दिए गए। इन बाधाओं की बाड़ तोड़ते हुए भी स्त्री आत्मकथाकार न्याय और अधिकारों के हेतु संघर्षरत है। अनुभव की प्रखरता, स्वतंत्रता और समानता की इच्छा से परिपूर्ण स्त्री आत्मकथाएँ अपनी उपस्थिति का आभास करा रही है। स्त्री जीवन की जटिलता की ओर ध्यान आकर्षित कर रही है। स्त्री से व्यक्ति विशेष बनने की प्रक्रिया का शुभारंभ इन स्त्री आत्मकथाओं के द्वारा संभव हो रहा है।

प्रस्तुत शोध विषय नया होते हुए भी मेरे जीवनानुभवों से जुड़ा अवश्य था। मेरी शोध निर्देशिका आदरणीया प्रो. गरिमा श्रीवास्तव की प्रेरणा और सुझाव देने पर अनायास ही मैं इस क्षेत्र में शोध कार्य करने के लिए तत्पर हो गई। उचित मार्ग दर्शन तथा शोध प्रबंध को परिपूर्ण कराने हेतु उन्हें कोटि कोटि धन्यवाद।

हिन्दी विभाग के अन्य प्राध्यापकों को धन्यवाद प्रकट करती हूँ जिन्होंने इस शैक्षिक यात्रा की व्यावहारिक कठिनाइयों को समाप्त करने में विशेष दायित्व निभाया।

शोधकार्य की अवधि में शोध विषय से संबंधित रचनाकारों से भेंट व साक्षात्कार की अपनी विशेष भूमिका रहती है। इन स्त्री आत्मकथाकारों में केवल मैत्रेयी पुष्पा जी से भेंट करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हो सका। मेरी जिज्ञासाओं की संतुष्टि उनके

स्नेही व्यवहार और विषय से संबंधित तथ्यों से हो सकी। उनके प्रति मैं हृदय से आभार प्रकट करती हूँ।

शोध प्रबंध के सामग्री संकलन में इंदिरा गांधी स्मृति ग्रंथालय, हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद सिटी ग्रंथालय, उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद अन्वेषी वूमन स्टडी सेंटर, दिल्ली विश्वविद्यालय आदि ग्रंथालयों का आभार प्रकट करती हूँ। इन ग्रंथालयों की समुचित सुव्यवस्था एवं वहाँ के कर्मचारियों की सहायता और सहयोग के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्री संकलन करने में सहायता प्राप्त हुई।

अंत में मैं अपने मित्रों एवं परिवार जनों का आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने परोक्ष या अपरोक्ष किसी भी रूप में मेरे शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरी सहायता की। मेरी सखी मीनाक्षी बी. पाटिल की सहृदयता और कृतज्ञता को शब्द देकर उसे छोटा नहीं कर सकती। मेरी माता एवं पिता की प्रेरणा और संस्कार रूपी धरोहर ने मुझे जीवन की कठिनाइयों से सामना करने का साहस प्रदान किया जो आज भी मेरे पथ का प्रदर्शन कर रहे हैं। उनके प्रति आभार प्रकट करना तो मात्र औपचारिकता का निर्वाह होगा। अंत में मैं अपने जीवन साथी श्री राकेश श्रीवास्तव को हृदय से आभार प्रकट करना चाहती हूँ जिन्होंने अंतिम क्षणों में मेरे शोध प्रबंध को अंतिम रूप देने में मेरी सहायता की।

नीलम पाण्डेय

प्रथम अध्याय

आत्मकथा अर्थ, स्वरूप एवं विभिन्न परिभाषाएँ

आधुनिक युग में गद्य की विभिन्न विधाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ है। प्राचीनकाल में मानव की भावनात्मक प्रवृत्ति उसके संपूर्ण जीवन तथा कार्यों पर स्पष्ट परिलक्षित होती है जिसके कारण वह कविता की ओर आकर्षित होता गया। चाहे वह सृजन का क्षेत्र हो या पठन का। इसलिए काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा अपना प्रभाव जमाये रही। इस भावनात्मक प्रवृत्ति को आधुनिक यंत्र युग की बौद्धिकता तथा वैचारिकता ने अपनी उपस्थिति से प्रभावित किया। परिणामत: गद्य की परम्परागत विधाओं - नाटक, उपन्यास, कहानी और निबंध के व्यापक प्रसार के साथ-साथ संस्मरण, रिपोर्ताज, दैनन्दिनी, रेखाचित्र, जीवनी और आत्म कथा को जन्म दिया।

साहित्य के बहुआयामी क्षेत्र ने आत्माभिव्यक्ति की नवीन शैलियों को विकसित किया है। जब भी कभी नवीन विधा का उद्भव होता है तब प्रतिभा संपन्न साहित्यकार साहित्य, कथ्य तथा शिल्प के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग करके उस विधा को साहित्य संपन्न करते हैं। फिर उस विधा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व परिलक्षित होता है। गद्य की आत्मकथा विधा उन्हीं नवीन शैलियों में से एक है। प्राचीन काल में मानव अपने आत्मोत्थान हेतु सचेष्ट तो था परन्तु आत्मप्रसार और प्रचार की लालसा न के बराबर थी।

साहित्यकार के आत्मोत्थान की चेष्टा उसके रचना प्रक्रिया के मूल में ही समाहित रही, फिर चाहे वह वैदिक युग या संस्कृत या पूर्व आधुनिक काल का समय हो। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि आत्मकथा का समय सापेक्ष में

विकसित न होना। परन्तु वर्तमान समय में आत्मकथा साहित्य शनै:-शने: विकास की ओर अग्रसर तथा अकाल्पनिक गद्यवृत्त के अंतर्गत सर्वाधिक लोकप्रिय विधा के रूप में गतिमान हो रहा है।

व्युत्पत्ति

आत्मकथा शब्द दो शब्दों के युग्म से बना है - आत्म और कथा। इनमें आत्म तत्व तो निश्चित सा ही है, कथा तत्व विशिष्ट और व्याख्या सापेक्ष है। आत्म शब्द अति गहन है। वाणी अथवा कथनी द्वारा विवेचन नहीं हो सकता क्योंकि वह अनुभवगम्य है। मास्क ने आत्मा शब्द की निरुक्ति इस तरह की है - 'आत्मा तते वप्ति वापि वाप्त इतिस्याद् व्याप्ति भूत इति' अर्थात आत्मा शब्द अत् धातु (सतत चलना) या अप धातु (व्याप्त होना) से बना है। आत्मा को आत्मा इसलिए कहा जाता है कि यह सदैव चलती रहती है या सदा समस्त वस्तुओं में व्याप्त रहती है। उपनिषदों में सर्वप्रथम आत्म शब्द का प्रयोग स्वभाव या किसी वस्तु की सत्ता या वस्तु की एकता के अर्थ में हुआ। फिर उसमें सातव्य भाव जोड़ दिया गया और जिसकी सतत सत्ता बनी रहे, अर्थात जो सततगामी हो उसे आत्मा कहा जाने लगा। आत्मकथा में कथा तत्व का आशय कहानी या गल्प नहीं बल्कि यह विधा तो कथेतर विधा है। आत्मकथा केवल वास्तविक तथ्यों को कल्पना अथवा कृत्रिमता से परे हटकर प्रस्तुत किया जाता है। कथा से तात्पर्य इतना है कि आत्मकथा में निजी जीवन का सत्य सुसम्बद्ध ढंग से इस तरह अंतर्निहित है कि उसे स्मृतियों के आधार पर पुन:सृजित जीवन को पाठकों तक पहुँचाया जा सके। जन्म से लेकर मृत्यु तक की जीवन मात्रा की कथा आत्मकथा है। "आत्म - आत्मन् का समास में व्यवहृत रूप, कथा - अपनी जीवनी कहानी, स्वलिखित जीवनचरित"[1]

भारतीय साहित्यकारों ने आत्मकथा के लिए अपनी कृतियों के अन्य उपनाम भी दिये। जैसे- आत्मगाथा, आप बीती, आत्मचरित, निजवृत्तांत, आत्मवृत्त, मेरी कहानी, आत्मविश्लेषण,आत्मजीवनी और अपनी कहानी इत्यादि शीर्षक भी प्रयुक्त किये। परन्तु हिन्दी समीक्षकों और कोशकारों ने आत्मकथा शब्द का ही अधिक व्यवहार किया।

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने आत्मकथा की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। हिन्दी में आत्मकथा परम्परा भले ही क्षीण रही हो परन्तु समीक्षकों तथा साहित्यकारों द्वारा आत्मकथा विधा को परिभाषित करने की बहुलता रही।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

1. इनसाइक्लोपीडिया में कहा गया है कि ''आत्मकथा व्यक्ति के जीये हुए जीवन का ब्यौरा है, जो स्वयं उसके द्वारा लिखा जाता है।'' और आत्मकथा का मूल सिद्धांत आत्मविश्लेषण होना चाहिए।''[2]
2. ''ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में ऑटोबायोग्राफी को लेखक की अपने जीवन की स्वयं लिखी कहानी कहा गया।''[3]
3. ''संक्षिप्त ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में निज इतिहास शब्द और जोड़ा गया।''[4]
4. कैसेल ने इन साइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर में आत्मकथा को ''आत्मकथा व्यक्ति के जीवन का विरण है, जो स्वयं के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसमें जीवनी के अन्य प्रकारों से सत्य का अधिकतम समावेश होना चाहिए।''[5]
5. रीडर्स गाइट टु लिटरेरी टर्म्स में ऑटोबायोग्राफी की परिभाषा करते हुए कहा है कि ''लेखक एक आत्मकथा में अपने अतीत की बड़ी मुख्य घटनाओं का लगातार वर्णन प्रस्तुत करता है।''[6]

6. राय पास्कल के अनुसार - "एक विशिष्ट परिवेश के मध्य जीये गये विशिष्ट क्षणों का पुन:सृजन आत्मकथा है।"[7]
7. डॉ. जानसन ने "सत्य और ईमानदारी पर बल देते हुए आत्मकथा को लेखक की योग्यता की कसौटी बताया है और असाधारण अंतर्दृष्टि की अनिवार्य शर्त लगायी है।"[8]

भारतीय दृष्टिकोण

1. हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1) में "आत्मकथा लेखक के अपने जीवन से संबद्ध वर्णन है। आत्मकथा के द्वारा अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्व दिखलाया जाना संभव है।"[9]
2. "मानविकी पारिभाषिक कोश में आत्मकथा में लेखक के आंतरिक जीवन या चरित्र का ब्यौरेवार वर्णन पर बल दिया गया है।"[10]
3. बृहद हिन्दी कोश के अनुसार - "साधारणत: आत्मन् अपना, निज का, आत्मा का, मन का। कथा का अर्थ है - जीवन कहानी। अत: आत्मकथा का अर्थ हुआ स्व लिखित जीवन चरित्र।"[11]

समीक्षक

4. डॉ. शांति खन्ना के अनुसार - "जब लेखक किसी अन्य व्यक्ति के जीवन चरित्र को चित्रित करने की अपेक्षा अपने ही व्यक्तित्व का विश्लेषण विवेचन पूर्ण रूप से करता है, तब वह आत्मकथा कहलाती है। जिसमें उसके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन रहता है।"[12]

5. डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार - "आत्मकथा लेखक के जीवन की दुर्बलताओं, सबलताओं आदि का वह संतुलित और व्यवस्थित चित्रण है जो उसके संपूर्ण व्यक्तित्व के निष्पक्ष उद्घाटन में समर्थ होता है।"[13]
6. बाबू गुलाब राय ने आत्मकथा में स्व की अभिव्यक्ति के संबंध में कहा कि "आत्मकथा लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है, उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता, किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति बाधक होती है और किसी के साथ शील-संकोच आत्म-प्रकाशन में रुकावट डालता है। यद्यपि सत्य के आदर्श से दोनों प्रवृत्तियां निन्द्य है तथापि अनावश्यक आत्म-विस्तार कुछ अधिक अवांछनीय है।"[14]
7. डॉ. नगेन्द्र के अनुसार- "आत्मकथाकार अपने संबंध में किसी मिथक की रचना नहीं करता, कोई स्वप्न नहीं रचता, वरन अपने गत जीवन के खट्टे-मीठे, उजले-अंधेरे, प्रसन्न विबष्ण, साधारण असाधारण संचरण पर मुड़कर एक दृष्टि डालता है; अतीत को पुन: कुछ क्षणों के लिए स्मृति में जी लेता है और अपने वर्तमान तथा अतीत के मध्य संबंध सूत्रों का अन्वेषण करता है।"[15]
8. सन् 1932 ई. में हंस आत्मकथात्मक विशेषांक के हंस वाणी में लेखक कृष्णानन्द गुप्त के अनुसार - "व्यक्तित्व को प्रकट करने की लालसा ने जहाँ उपन्यास, नाटक प्रबंध कहानी अथवा गीति काव्य को जन्म दिया, वहीं आत्मकथा जैसी वस्तु की भी वही जननी है। अपने को व्यक्त करने की गुंजाइश उपन्यास नाटक में कम है। यह गुण कविता में कुछ ज्यादा है, परंतु आत्मकथा द्वारा हम सही या गलत अपने ही व्यक्त करते हैं।"[16]

9. डॉ. शांति स्वरूप गुप्त के मतानुसार - "आत्मकथा लिखना सुखद कार्य तो है, क्योंकि उसमें व्यक्ति को अपने विषय में कहने का अवसर मिलता है। पर वह कठिन इसलिए है कि उसमें लेखक को निष्पक्ष होना पड़ता है, किन्तु सत्यों का उद्घाटन करना पड़ता है; अपने दोषों को भी प्रस्तुत करना पड़ता है, जो सहज कार्य नहीं।"[17]

10. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने व्यंग्यपूर्ण शैली में अपने साथ दूसरों की खबर की विशेषता को महत्व दिया है - "अपनी याददाश्यत पब्लिक की जानकारी के लिए लिखने में आत्म प्रशंसा और अहंकार- प्रदर्शन का बड़ा खतरा रहता है। ऐसे संस्मरणों में किसी एक मंद घटना के कारण अनेक गुण-संपन्न पुरुष पर अनावश्यक आँच भी आ सकती है।"[18]

11. विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार - "आत्मकथा जीवन का सत्यान्वेष है, कल्पना के अवकाश की कोरी उड़ान नहीं है। आम आदमी का जीवन प्रेरणास्पद नहीं हो सकता, महान व्यक्तियों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व आम आदमी के लिए दिशा बोध का काम करता है; उनके जीवन के आदर्शनिष्ठ मूल्यों को स्वीकार करता हुआ उस पथ अपने आपको ढालने का प्रयास करता है। आत्मकथा सत्य एवं स्पष्टवादिता को लेकर चलती है।"[19]

12. डॉ. पंकज चतुर्वेदी के अनुसार - "आत्मकथा की एक स्वाभाविक आधारभूत परिभाषा यही हो सकती है कि उसमें व्यक्ति समूचे समय और समाज के संदर्भ में रखकर अपने शब्द और कर्म, अपनी वैचारिकता और व्यक्तित्व की गहन और पारदर्शी पड़ताल करने की रचनात्मक कोशिश करता है। गहनता 'आत्म' के आद्यान्त विश्लेषण के लिए जरूरी है तो पारदर्शिता और आत्मीयता अर्जित

करने के लिए, क्योंकि आत्मकथा दूसरों के साथ अपने जीवन प्रसंगों का साझा है।''[20]

उपर्युक्त सभी परिभाषिक कोशों, लेखकों और समीक्षकों की परिभाषाओं से यही स्पष्ट होता है कि आत्मकथा में मुख्य लक्षणों का होना अनिवार्य है -

1. आत्मकथा जीये जीवन का ब्यौरेवार वर्णन है।
2. अपने ही जीवन और मन मस्तिष्क का आत्म-निरीक्षण एवं विश्लेषण है।
3. भोगे हुए यथार्थ का पुन: सृजन है।
4. स्व तथा बाह्य समाज से संबद्ध मानसिक प्रतिक्रियाओं, घात प्रतिघातों की स्वानुभूति को अभिव्यक्ति देना।
5. अपनी गुह्य मनोभावों को परखने और उन्हें विवेचित करना।
6. अपने कठिन अनुभवों और कोमल अनुभूतियों को व्यष्टि के माध्यम से समिष्ट तक सम्प्रेषित करना।
7. इसमें सत्य की अनुकृति स्पष्ट और निरपेक्ष, सहज और सरल ढंग से अभिव्यक्ति है।

अत: हम आत्मकथा की परिभाषा को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं कि ''लेखक अपने जीये हुए जीवन के क्षणों को स्व की अनुभूतियों के साथ-साथ बाह्य परिवेश की स्थितियों का वर्णन कोरी कल्पना के स्थान पर तथ्यागत ढंग से निरपेक्ष और आत्मोन्मुख होकर करता है।

एक आत्मकथा अपने भीतर (अंत:) में लेखक की निजी अनुभूतियों के साथ-साथ सामाजिक स्थितियों को भी परिलक्षित करता है जिससे वह वैयक्तिक न होकर सार्वजनिक हो जाती है, जैसे कि उसकी 'आपबीती' में सारे जग का दर्द समाया रहता है

और जगबीती में 'स्व' 'आत्म' अथवा 'अहम' चोर दरवाजों से झांकने का प्रयास करता दृष्टिगोचर होता है।

अत: अकाल्पनिक गद्यवृत्त के अंतर्गत आत्मकथा सर्वाधिक लोकप्रिय और समाजोपयोगी विधा के रूप में अपना स्थान ग्रहण करती प्रतीत हो रही है। आत्मकथा के समान्तर चलने वाली विधाएं संस्मरण, आत्मसंस्मरण और आत्मकथ्य है।

आत्मकथा की सृजन प्रक्रिया या स्वरूप निर्धारणार्थ निम्न साधन तत्वों का समायोजन आवश्यक है जो कि एक आत्मकथा के नैमित्तिक कारण माने जा सकते हैं। जैसे - स्मृति, संस्कार, सत्य, स्वाध्याय ओर साहस।

1. **स्मृति**

मानवीय सृजन प्रक्रिया स्मृति और कल्पना के अभाव में असंभव है। आत्मकथा में कल्पना का अभाव परन्तु स्मृति का बहुत बड़ा योगदान रहता है। जैसे कि ''आत्मकथा लेखक के लिए अपनी अंत:प्रकृति के अध्ययन, विश्लेषण, अतीत के पुन:दर्शन तथा आत्मजीवन के चित्रण हेतु स्मृति ही तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपकरण सिद्ध होती है।''[21] मानवीय संसार स्मृति और विस्मृति के मध्य गति पाता हुआ नैसर्गिक विधान है।

2. **संस्कार**

स्मृति की प्रक्रिया संस्कार के कारणाभूत होती है। मानव जीवन के संपूर्ण कार्यों, अनुभवों, परिस्थितियों से संवेदित होकर जो क्रिया-प्रतिक्रिया, घात-प्रतिघात अंत:मन में चेतना रूप में हमें उद्वेलित करते हैं संस्काररूपेण मन मस्तिष्क में स्थिर हो जाते हैं। जिस प्रकार ''किसी भी मनस्थिति, अंत:स्थिति, बाह्य परिस्थिति, स्थूल अनुभव, सूक्ष्म अनुभूति, संवेदना, संवेग व उद्वेग आदि का जो निसर्ग-निर्मित, सूक्ष्मतम कालजयी

और स्थायी रूप अंत:चेतना पर अंकित होता है वही स्मृति के संबंध में संस्कार कहलाता है।''[22] इस तरह स्मृति के साथ ही संस्कार की असीम भूमिका किसी भी तरह के सृजन निर्माण हेतु आवश्यक है।

जो संस्कार एक समय विशेष में गृहित होते हैं, कालांतर में वही स्मृति के माध्यम से आत्मकथा का विषयवस्तु प्रदान करते हैं। ''जिस तरह आत्मकथा लेखकों के भौतिक जन्म से लेकर लेखन काल तक के अर्जित, अधिकृत संस्कार स्मृति कोश का मूल्यांकन अधिभाग बनकर कालांतर में अभिव्यक्ति द्वारा अनुरंजित होकर आत्मकथा के श्रेष्ठ अंश सिद्ध होते हैं।''[23] अत: आत्मकथा में संस्कार की द्वितीय साधन के रूप में अनिवार्यता को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

3. सत्य

सत्य की अपनी विशेष महत्ता है, जिसके समक्ष सभी कुछ गौण परिलक्षित होता है। सत्य की व्युत्पत्ति - 'संतम् (विद्यमान) अर्थं प्रत्यापयति इति सत्यम्।' अर्थात - जिस पदार्थ, तथ्य, घटना ज्ञान व प्रमाण आदि की जो वास्तविक स्थिति हो, ठीक उसी रूप में जानना, जतलाना, मानना, बतलाना सत्य कहलाता है। सत्य का यह रूप आत्मकथा की रचना प्रक्रिया में विशेष रूप से सहायक है। आत्मकथा में जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं का सत्य की कसौटी पर आत्मान्वेषण ही कृति को प्रभावी और कालजयी बनाता है। लेखक वर्तमान की इच्छाओं, दुर्बलताओं और क्रिया-कलापों का पूर्ण रूपेण सत्य का साक्षी तो होता ही है जिन स्थितियों के लिए वह अनभिज्ञ, विस्मृत या लोक मर्यादा संबंधी अवरोध है वहाँ वह आंशिक सत्य का दावा तो कर ही सकता है। जबकि आत्मकथा का सत्य निर्भीक व निस्संकोच होकर भी लोक मर्यादा के लिए विनाशकारी नहीं रहता है। इसलिए ''आत्मकथाकार का अपनी आत्मकथा में सत्य को उपकरण के

रूप में प्रयोग करने का अर्थ केवल अपने व्यक्ति सत्य और भाव सत्य की अभिव्यक्ति करना ही है। जितने सत्य को वह जिस रूप में जान चुका है, उसे निर्लिप्त, निरावरण और यथातथ्य रूप में निर्द्वंद्व भाव से अभिव्यक्त कर दे, तो यही उसकी चरम उपलब्धि है।"[24] सत्य चिंतन, सत्य कथन, सत्य निवेदन और सत्य चित्रण आत्मकथा को विशिष्टता और श्रेष्ठता की ओर प्रवृत्त करेंगे।

4. स्वाध्याय

आत्मकथा की रचना प्रक्रिया में चतुर्थ साधन स्वाध्याय है। लेखक द्वारा स्मृति, संस्कार और सत्य का अपनी रचना में यथागत वर्णन करने के लिए उसे समझना, आत्मसात करना, सही ज्ञान प्राप्त करना ही स्वाध्याय है। "यह स्वाध्याय इतनी सहज प्रक्रिया नहीं है क्योंकि लेखक स्वयं विषय और विषयी या भोक्ता और वक्ता होता है। इसलिए अपनी आत्मा बुद्धि इच्छाशक्ति तथा अहं में संतुलन स्थापित करना, अपने महत्व तथा विशिष्टता का परिज्ञान अपने दोषों, स्खलनों, त्रुटियों और अभावों की स्वीकृति अपनी अक्षमताओं, सीमाओं का परिबोध और अपने व्यक्ति-संबंधों तथा अपने वृत्त केन्द्र और परिधि का सही ज्ञान प्राप्त करना।"[25] अत: अपने आत्मज्ञान के हेतु स्वाध्याय अति आवश्यक है और बिना आत्मज्ञान के आत्मकथा लेखन का अग्रसर होना संदिग्ध है।

5. साहस

आत्मकथा का पाँचवां उपकरण साहस है। "आत्मकथा को कृति रूप में यथार्थमय होना साहस का ही परिणाम है। इसके अभाव में आत्मकथा वैचारिक या संकल्पना रूप में ही रह जाती है। क्योंकि साहस के माध्यम से ही "पहले तो अपने संस्कारों की पहचान ही दुष्कर कार्य है। स्मृतियों का संचयन, आरक्षण एवं संपादन

और अपने बारे में सब कुछ जानकर उसे साफ सुथरे सत्य के रूप में लोक समर्पित कर देने का कार्य क्या किसी साधारण साहस की अपेक्षा रखता है।"[26] साहस की आवश्यकता आत्मकथा लेखक को आत्मकथा सृजन को अंतिम परिणति देने तक बनी रहती है क्योंकि साहस के अभाव में लेखन अवरूद्ध हो जाएगा।

अत: एक श्रेष्ठ आत्मकथा के लिए इन पाँचों साधनों का समायोजन अति आवश्यक है। जिस सीमा तक ये साधन दुर्बल और दूषित होंगे उतना ही आत्मकथा की रचना प्रक्रिया में व्याघात पहुँचेगा।

आत्मकथा के तत्व

आत्मकथा की रचना प्रक्रिया में साधनों या उपकरणों के पश्चात किन तत्वों का योग रहता है यह जानना भी आवश्यक है। आत्मकथा में वर्ण्य विषय, पात्र आत्मेतर पात्र, उद्देश्य देशकाल, संवाद, भाषा शैली तत्वों की अनिवार्यता सिद्ध होती है।

1. वर्ण्य विषय (कथावस्तु)

आत्मकथा का वर्ण्य विषय या कथावस्तु लेखक का स्वयं का जीवन, व्यक्तित्व, निजता एवं इतिहास होता है। उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सूक्ष्माति सूक्ष्म विवरण के साथ आत्म चित्रण एवं आत्म विश्लेषण की महत्ता होने के कारण अन्य तत्व गौण रूप में परिलक्षित होते हैं। एक श्रेष्ठ आत्मकथा के लिए वर्ण्य विषय में सत्यकथन, तथ्यात्मकता, अनुभूति प्रवणता, स्मृति समुज्ज्वलता, मौलिकता, स्वाभाविकता, कौतुहल सुरुचिपूर्णता रोचकता, वैयक्तिक्ता, संतुलन और आनुपातिकता, संगठिता एक सूत्रता, श्रृंखलाबद्धता और सुगुक्फितता आदि गुणों की अनिवार्यता स्पष्ट होती है।

2. **पात्र** वर्ण्य विषय के उपरांत पात्र या चरित्र चित्रण करना ही आवश्यक है परन्तु आत्मकथा का वास्तविक नायक या पात्र लेखक स्वयं होता है। वह मुख्य पात्र व्यक्ति

विशेष या वर्ग विशेष भी हो सकता है और उसका ही चित्रण करना वर्ण्य या कथावस्तु बनता है। परन्तु अब तक सामान्य व्यक्तियों की आत्मकथाओं का अभाव होने से अपने क्षेत्रमें व्यक्ति विशेष ही पात्र होते हैं। इसलिए दयानंद सरस्वती, उग्र, गाँधी, कमलादास, अमृता प्रीतम, प्रभा खेतान आदि के चरित्र के अनेकानेक प्रसंग गतिशीलता से आप्लावित हैं।

आत्मेतर पात्र

मुख्य पात्र के अतिरिक्त आत्मकथाओं में आत्मेतर पात्र की उपस्थिति मात्र ही मुख्य पात्रया कथावस्तु को अग्रसर करने और पुष्ट करने में सहायक मात्र ही रहती है। क्योंकि अगर आत्मेतर पात्रों का विस्तृत वर्णन होगा तो आत्मकथा के मूलाकार और सुसंगठन में व्याघात उत्पन्न होगा। यही कारण है कि शांतिप्रिय द्विवेदी, श्याम सुन्दर दास, यशपाल आदि की कृतियां संदिग्ध होकर भी आत्मकथाएं हैं और आत्मेतर पात्रों को प्रधान रूप देने के कारण प्रेमचंद घर में, - शिवरानी देवी, रानाडे पत्नी के संस्मरण - रमाबाई रानाडे आदि की कृतियां आत्मकथा विधा में सम्मिलित होने की अधिकारिणी नहीं हैं।

उद्देश्य

प्रत्येक सृजन प्रक्रिया का कोई न कोई उद्देश्य तो रहता ही है। आत्मकथा विधा इससे वंचित कैसे रह सकती है। एक श्रेष्ठ और कलात्मक आत्मकथा अपने उद्देश्य के कारण ही पाठक को रुचिकर लगने के साथ ही प्रेरक लगती है। इसलिए "स्तरीय आत्मकथा का उद्देश्य भावनाओं के सहज उच्छलन द्वारा अपनी भावनाओं संवेदनाओं, संवेगों, अनुभूतियों का सम्प्रेषण एवं अपने मन मस्तिष्क के विकास की प्रक्रिया का प्रस्तुतीकरण करना ही होता है।"[27] आत्मकथा के एक उद्देश्य के साथ ही कई उद्देश्य

हो सकते हैं जो दोषयुक्त भी हो सकते हैं जैसे-आत्म श्लाघा, उपदेशात्मकता, आत्म विज्ञापन आदि।

देशकाल (वातावरण)

मानवीय जीवन के विकास में वातावरण की महती भूमिका सर्वविदित है। वातावरण की इन परिस्थितियों की अनुभूति अच्छे-बुरे दोनों पक्षों में होती है मानवीय चेतना ही दोनों का समन्वय कर गतिमान होती है। आत्मकथा इन्हीं गतिमान परिस्थितियों मं बहिर्प्रयाण से अन्तर्प्रयाण दिशा की ओर उन्मुख होकर अंत: शक्तियों का उद्घाटन करती हैं। इन परिस्थितियों का अत्यधिक और अनावश्यक चित्रण उसकी तथ्यात्मकता को अप्रभावी बना सकता है।

एक सीमा तक बाह्य वातावरण या देशकाल का चित्रण उपयोगी है जैसा कि शप पास्केल कहते हैं कि "एक विशिष्ट परिवेश के मध्य जीये गये विशिष्ट क्षणों का पुन: सृजन आत्मकथा है। परन्तु इस प्रक्रिया का मुख्य केन्द्र स्व है, परिवेश नहीं। परिवेश के सारे संदर्भ इस रचना प्रक्रिया को विशिष्ट आकार देते हैं। वातावरण के बिना चरित्र नायक कठपुतली सा शून्य में झूलता हुआ प्रतीत होता है। इस तरह आत्मकथा अगर लेखक के चरित्र का पूर्ण चित्र है तो परिवेश इसे उभारने वाले रंगों का संयोजन।

संवाद

आत्मकथा में आत्मेतर पात्रों की उपस्थिति अत्यंत गौण रूप में होने के कारण संवाद तत्व का अस्तित्व अत्यल्प होता है। जिसके कारण संवाद तत्व का फलक विस्तार से नहीं होता। इसलिए यह आवश्यक है कि संवाद तत्व अंतर्निहित होकर अंतर्द्वंद्व आत्म संलाप और आन्तर्मन्थन के रूप में स्पष्ट हो। जिनकी अभिव्यक्ति भावपूर्ण, सरल, चुस्त एवं अर्थ गौरवयुक्त हो।

भाषा शैली

आत्मकथा लेखक द्वारा सृजन पश्चात पाठक के समक्ष उपस्थित होती है। पाठक का प्रथम साक्षात्कार भाषा शैली के माध्यम से होता है और उसका रसास्वादन कर पाने में समर्थ होता है। भाषायी स्तर लेखक की योग्यता पर निर्भर करता है। अगर लेखक उच्च कोटि का विद्वान है तो भाषा परिष्कृत परिनिष्ठित एवं कलात्मक होगी। अगर लेखक सामान्य जन है तो भाषा साधारण होगी। हालांकि आत्मकथा की कसौटी पर दोनों प्रकार की भाषा ग्राह्य है।

इस प्रकार आत्मकथा की रचना प्रक्रिया में उपकरणों तत्वों की महती भूमिका सर्वविदित है, जिसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती है। आत्मकथा के समान्तर ही संस्मरण,आत्मसंस्मरण और आत्मकथ्य विधाएं गतिमान होती और कभी-कभी आत्मकथा लेखन में सहायक होती है। इन सबके समावेश और संयोजन से आत्मकथाकार अपनी कृति को एक श्रेष्ठ और कालजयी आत्मकथा प्रस्तुत कर सकता है।

भारत में आत्मकथा लेखन की परम्परा

प्राचीनकाल

प्राचीन काल का युग वैदिक साहित्य का युग था। इस युग के साहित्य में आत्मज्ञान, आत्मोद्धार,आत्मोन्नति आत्मोपलब्धि आदि विषयों को लेकर व्यापक और गंभीर चिंतन को प्रस्तुत किया गया। आत्मिक उत्कर्ष को लेकर विद्वान यथारूपेण सचेष्ट तो थे, परन्तु उस आत्मा की कथा कहना या आत्म प्रकाशन का पक्ष बिल्कुल नगण्य था। कठोयनिषद में आत्मविश्लेषण के लिए कहा गया है कि "कश्चिद् धीर: प्रत्यगात्मानमैक्षत" अर्थात कोई विरले धीर बुद्धिमान मनुष्य ही ऐसे होते हैं जो आत्म

समीक्षण की ओर प्रवृत्त होते हैं। जितना आत्मिक विकास पर बल दिया गया, उतना भौतिक विकास पर नहीं।

इस प्रकार "प्राचीन भारतीय चिंतन में आध्यात्मिक उत्थान का ही वृहदाख्यान पुन: पौन्येन हुआ है। भौतिक जीवन की घटित घटनाओं के प्रति तो वहाँ प्राय: उपेक्षा भाव ही दृष्टिगत होता है।"[28] इस तरह के आध्यात्मिक और दार्शनिक चिंतन की उपेक्षा कर वर्तमान समय में आत्मकथा की विषयवस्तु के लिए भौतिक जीवन के यथार्थ की अनुभूति को ही अनिवार्य माना गया।

अत: हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में आत्मकथा का वर्तमान रूप तो नगण्य ही था, परन्तु आत्म चिंतन को लेकर यथारूपेण सचेष्ट थे विद्वत्त जन।

संस्कृत काल

वैदिक साहित्य के पश्चात साहित्य को थोड़ा जन सामान्य बनाते हुए संस्कृत साहित्य का सृजन हुआ। जिसमें कालिदास और व्यास के समय तक यथास्थिति ही रही, परन्तु भवभूति, हर्ष और महाकवि बाणभट्ट तक थोड़ा बहुत परिवर्तन इस प्रकार हुआ कि लेखक या नाटककार कवि अपने नाम, वंश व परम्परा का परिचय मात्र देने लगे। जैसे कि भवभूति ने उत्तररामचरित की प्रस्तावना में कहा है - "अस्ति रवलु तत्र भखान् काश्यप: श्रीकण्ठपदलाञ्छन: पदवाक्य-प्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्र:। अर्थात आप लोग यह जानिए कि - कश्यप गोत्र में उत्पन्न व्याकरण मीमांसा और न्यायशास्त्र जानने वाले जतुकर्णी के पुत्र और भवभूति ऐसी उपाधि से युक्त 'श्रीकण्ठ' नाम के विद्वान हैं।"[29]

महाकवि हर्ष ने नैषधीय चरित के प्रत्येक सर्गानत में अपना और अपने माता-पिता का नाम "श्रीहर्ष' मामल्ल देवी और श्रीहरि तो लिखा ही है साथ ही अपने आश्रय

दाता के नाम का भी संकेत इस ग्रंथ में दिया - ताम्बूल-द्वयमासनं च लभते य: कान्यकुब्जेश्वरात्। अर्थात श्रीहर्ष को उसके आश्रयदाता कान्यकुब्ज के महाराजा राज्यकवि होने के नाते आसन तथा दो ताम्बूल प्रदान करते हैं।''[30] महाकवि बाणभट्ट ने भी हर्षचरित के प्रारंभ में अपने वंश जाति व आश्रयदाता का संकेत दिया है।

पालिकाल

पालिकाल के साहित्य में थेरगाथाओं तथा थेरीगाथाओं का पर्याप्त महत्व है। इनमें बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध भिक्षुणियों ने अपनी आध्यात्मिक उन्नति की अनुभूतियों का अपने संयम और आत्मशांति की स्थिति का संक्षेप में गेय पदावली में वर्णन है। इनमें यद्यपि भौतिक जीवन का थोड़ा बहुत वर्णन है परन्तु अंतिम उद्देश्य आध्यात्मिक अभ्युन्नति ही रहा।

अपभ्रंशकाल

अपभ्रंश काल के जैन कवियों ने पूर्ववर्ती संस्कृत लेखकों के समान संक्षिप्त परिचय दिये। जैसे - पुष्पदंत ने अपने वायकुमार चरित्र के अंत में तथा स्वयंभू ने भविष्यदत्त कथा में भूमिका में आत्म परिचय संकेत दिये। रासोसाहित्य में आत्म परिचय चन्दबरदायी ने भी अपने ग्रंथ पृथ्वीराज रासो में दिया जो कि संदिग्धग्धा के बावजूद उल्लेखनीय है। भक्ति काल में कबीर, सूर और तुलसी की अपने ग्रंथों में आत्मपरिचयात्मक उक्तियां दैन्य और ग्लानि से आपुरित अधिक है। आत्मकथापयोगी कम।

संस्कृत काल से लेकर अपभ्रंश काल तक के युग का साहित्य यत्र-तत्र अपना आत्मिक परिचय तो देता रहा, परन्तु आत्मकथापयोगी न के बराबर रहा। इसलिए इन

युगों में हम आत्मकथा का वास्तविक वृक्ष रूपी स्वरूप न खोजकर बल्कि बीजाकुंरण की स्थितियों के संदर्भ में समझें तो अति समीचीन होगा।

आत्मकथा का प्रारंभ

यह वह समय था जब विदेशी शक्तियां लगातार अपना प्रभुत्व स्थापित करने में अग्रसर थीं। इस युग में बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब आदि मुस्लिम शासकों ने अपने राज्य विस्तार के इतिहास, शासन व्यवस्था उपलब्धियों हेतु आत्मचरित फारसी या उर्दू में लिखे और लिखवाये। परन्तु काफी समय तक इन हस्तलिखित पांडुलिपियों का राजमहलों में पड़े रहना तथा जनसामान्य तक न पहुँचना, हिन्दी में अनुवादित न होना आदि कारणों से यह आत्मचरित्र या आत्मकथा परम्परा अग्रसर न हो सकी।

तदुपरान्त रीतिकाल में संवत् 1755 विक्रमी (सन् 1698 ई.) में गुरु गोविन्द सिंह ने एक विचित्र नाटक नामक आत्मचरित्र काव्य की रचना की। गुरु गोविन्द सिंह ने इस आत्मचरित्र में अपने इस जन्म के भौतिक संघर्षों के अतिरिक्त अपने पूर्व जन्मों और अनेक पीढ़ियों का विस्तृत वर्णन करते हुए वेदी और सोढ़ी वंशों को भगवान राम के वंशजों से संबंधित किया। यह हस्तलिखित पांडुलिपि भी कई सदियों तक गुरुमुखी के रूप में रही। सन् 1961 ई. में इसका लिप्यंतरण हुआ।

इस आत्मचरित से पूर्व सन् 1641 ई. में जैन कवि बनारसी दास ने ब्रजभाषा में 'अर्द्धकथानक' नामक आत्मकथा लिखी। इस आत्मकथा में पश्चाताप और प्रायश्चित भाव उकेरा गया था, परन्तु इसका प्रकाशन सन् 1942 ई. में वर्षों तक जैन ग्रंथागारों में पड़ी रहने के बावजूद हुआ। इसी बीच सन् 1783 ई. में उर्दू के कवि मीर ने फारसी में

'जिक्रे-मीर' शीर्षक से अपनी आत्मकथा लिखी, इसका हिन्दी में अनुवाद भी सन् 1961 ई. में हो पाया।

इन आत्मकथाओं ने भले ही एक समृद्ध परम्परा न दी हो तो भी आधार रूप तो प्रदान किया ही है जो कि आत्मकथा साहित्य के बीजबपन काल को परिलक्षित करता है।

आधुनिककाल

प्रथम उत्थान युग

बीसवीं सदी से पूर्व आत्मकथा साहित्य के बीजाकुंरण होने पर भी क्रमिक विकास का अभाव ही रहा, क्योंकि आधुनिक काल आमूल-चूल परिवर्तन के साथ आया। इसमें गद्य का विकास तथा आत्मकथा लेखन की अनुकूल परिस्थितियां जैसे - धार्मिक, चेतना, जनजागरण, क्रांतिकारी आंदोलन, राजनैतिक आंदोलन, जेल जीवन का अवदान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियां तथा विदेशी प्रभाव आदि ने उत्पन्न की। इसलिए आत्मकथा का क्रमिक विकास आधुनिक काल में ही पूर्ण रूपेण संभव हो सका।

सन् 1875 ई. में स्वामी दयानंद सरस्वती का स्वकथित आत्मचरित्र प्राप्त हुआ। सन् 1879 ई. में पुन: थियोसोफिस्ट मद्रास में प्रकाशनार्थ भेजा गया। जो अंग्रेजी में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ। सन् 1881 ई. में इस पुस्तक में प्रत्यानुवाद भारत सुदशा प्रवत्तक पत्रिका में उनकी दिनचर्या शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस आत्मचरित्र में घटना वर्णन की प्रधानता होने पर भी यत्र-तत्र आत्म विश्लेषण की प्रवृत्ति भी स्पष्ट होती है। कालांतर में यह विभिन्न भाषाओं में पुन: प्रकाशित हुआ। कुछ आत्मकथाओं के अनुवाद भी इसी समय संपन्न हुए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा-कुछ आप बीती कुछ जग बीती' आत्मचरित्र सन् 1876 ई. में खड़ी बोली में प्रकाशित हुआ।

आत्मकथा की अविरल परम्परा

बनारसी दास जैन की आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' को हिन्दी की सर्वप्रथम आत्मकथा माना गया। बनारसी दास ने यह आत्मकथा ब्रज में तथा अपने जीवन के अंतिम दिनों में 55 वर्षों के अनुभवों के नाम पर अर्द्धकथानक शीर्षक दिया। ये गोस्वामी तुलसीदास और अकबर के समकालीन थे। इसका पुनर्लेखन सन् 1891 ई. तक जैन संस्थाओं में चलता रहा। श्री नाथूराम द्वारा इसका प्रथम संस्करण सन् 1943 ई. में प्रकाशित हुआ।

श्री बनारसी दास ने जीवन की मुख्य घटनाओं में यौवनावस्था की विलासिता आचरणहीनता के कारण पश्चाताप और प्रायश्चित की आत्म स्वीकृति दी है। स्वयं को लेखक के गुण दोष के आधार पर मध्यम स्तर का लेखक माना। वे कहते हैं कि ''जो भारणहिं पर-दोषगुन, अरु गुन दोष सुकीउ। कहहिं सहज ते जगत में, हमसे मध्यम जीउ।।''[31] बनारसी दास के जीवन और कृतित्व पर शोध करते हुए डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन कहते हैं कि ''ऐतिहासिकता सरलता, जीवन-घटनाओं का यथावत निरूपण, संक्षेपण आदि आत्मकथा की कसौटी पर यह जीवन वृत्त पूर्णरूपेण खरा उतरा है। हिन्दी में ही नहीं संपूर्ण भारतीय भाषाओं में यह सर्वप्रथम और अनुपम तथा पद्यबद्ध आत्मकथा काव्य है।''[32]

अम्बिकादत्त व्यास

भारतेन्दु के प्रसिद्ध लेखक अम्बिकादत्त व्यास ने अपने जीवन के अंतिम अठारह वर्षों का वर्णन 'निजवृत्तांत' नाम से लिखा। 56 पृष्ठों की इस सुगठित संक्षिप्त एवं रोचक आत्मकथा में लेखक ने अपने व्यक्तित्व, जीवन संघर्ष तथा साहित्य लेखन

का क्रमिक वर्णन प्रस्तुत किया। जिसका प्रकाशन सन् 1901 ई. में विद्या-विनोद के अष्टम भाग में हुआ।

सत्यानंद अग्निहोत्री

सत्यानंद अग्निहोत्री ने सन् 1909 तथा 1918 ई. में अपना आत्म चरित्र 'मुझमें देव जीवन का विकास' देव समाज मोगा से प्रकाशित हुआ। यह आत्मकथा आत्मश्लाघापूर्ण उपदेशात्मकता को अधिक महत्व देती है।

भाई परमानंद

भाई परमानंद की 'आप बीती' इस कृति का प्रकाशन सन् 1921 ई. में राज्यपाल सरस्वती आश्रम लाहौर से हुआ। इस पुस्तक में लेखक के 30 वर्षों के जीवन यात्रा की दास्तान है।

भवानी दयाल सन्यासी

सन् 1921 ई. में 'भारतीय देश भक्तों की कारावास की कहानी' नामक शीर्षक में मौलिक जेल कथा भवानी दयाल सन्यासी की है। इसमें लेखक द्वारा दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों हेतु किये गये संघर्ष, उसकी हिन्दी सेवा और आर्य समाजीनुराग आदि बलिदानों की कारूणिक गाथा है।

इनके अतिरिक्त अनेक देश भक्तों के संघर्षों तथा आत्म बलिदानों की देश के लिए निष्ठापूर्वक अर्पण कर देने की मार्मिक और हृदय विदारक आत्मकथाएं इस युग में प्रकाशित हुई। जिसमें स्वामी श्रद्धानंद की आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' सन् 1924 ई. में प्रकाशित हुई। लाला लालपत राय की आत्मकथा 'पंजाब केसरी' सन् 1924-25 ई. में धारावाहिक के रूप में प्रकाशित हुई। आचार्य रामदेव की 'मेरे जीवन के कुछ पृष्ठ' नामक आत्मकथा सन् 1926 ई. में विशाल भारत पत्रिका में प्रकाशित

हुई। राम प्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा सन् 1928 ई. में 'काकोरी के शहीद' में एक अंश के रूप में प्रताप प्रेस कानपुर से प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त अति संक्षिप्त आत्मकथाएं भी इसी युग की देन है। जैसे -प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथ दास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि हैं।

द्वितीय उतथान काल

द्वितीय उत्थान के विकास में प्रेमचंद के संपादन में सन् 1932 ई. में प्रकाशित हंस का आत्मकथात्मक विशेषांक प्रकाशित हुआ। जिसमें बहुत से साहित्यकारों ने अपने आत्मकथात्मक लेख लिखे। यद्यपि इस अंक में प्रकाशित लेख संपूर्ण आत्मकथा न होकर आत्मचरित या लघु और संक्षिप्त आत्मकथाएं थी। फिर प्रथम बार इतनी बड़ी संख्या में एक साथ लेखकों ने जिसमें स्त्रियों ने भी अपने बारे में कुछ न कुछ कहा। इस अंक ने जहाँ एक ओर प्रसिद्धि पायी, वहीं दूसरी तरफ विरोध का सामना भी नन्द दुलारे वाजपेयी (भारत पत्र) तथा रामेश्वर शुक्ल अंचल (माधुरी पत्रिका) द्वारा करना पड़ा।

मुंशी प्रेमचंद ने 'जीवनसार' नाम से अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में जन्म (सन् 1880 ई.) से लेकर गोरखपुर निवास तक का वर्णन किया। प्रेमचंद कहते हैं कि "मेरे पैरों में लोहे की नहीं अष्टधातु की बेड़ियां थी और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।"[33] यह कथन उनकी वास्तविक स्थिति को दर्शाता है कि किस तरह निर्धनता, साधनहीनता और कठोर परिश्रम के रहते साहित्यिक रुचियों को आगे बढ़ाया। इस आत्मकथा को विभिन्न पत्रिकाओं में स्थान मिला।

प्रेमचंद केअतिरिक्त अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, हीरानन्द शास्त्री आदि लेखकों ने संक्षिप्त आत्मकथाएं लिखी।

डॉ. श्याम सुन्दरदास

डॉ. श्याम सुन्दरदास की आत्मकथा - 'मेरी आत्मकहानी' 284 पृष्ठों में सन् 1940 ई. में सरस्वती में धारावाहिक रूप में प्रकाशित तथा सन् 1941 ई. में इंडियन प्रेस ने पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। लेखक ने अपने जीवन का संघर्ष विद्रोही प्रवृत्ति, त्यागपूर्ण जीवन के अंकन के साथ यत्र-तत्र आत्म विश्लेषण भी किया है। ''मेरे जीवन में दो बातें मुख्यतया विशेषता रखती है, एक तो मेरा जीवन संघर्ष में बीता। विरोध का सामना करने में मुझे प्रयत्नशील रहना पड़ा।.....दूसरी विशेष बात मेरे जीवन में यह हुई कि वैयक्तिक रूप में मैंने जिन-जिन की सहायता की, उनमें अधिकांश कृतघ्न सिद्ध हुए।''[34] इस तरह यह आत्मकथा एक सामान्य तथ्यात्मकता की सिद्धि करती है ना कि एक गहन आत्म विश्लेषण की।

बाबू गुलाब राय

बाबू गुलाब राय की आत्मकथा सन् 1942 ई. में 'मेरी असफलताएँ' 248 पृष्ठों में साहित्य रत्न भंडार, आगरा से प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा अत्यंत रोचक एवं व्यंग्य-विनोदपूर्ण वर्णनों तथा लेखकीय जीवन का अंकन इसमें हुआ है। इसके पश्चात बाबू गुलाबराय ने सन् 1952 ई. में संक्षिप्त 'आत्म चित्रण' तथा कुछ समय पश्चात 'आत्म विश्लेषण' शीर्षक से लिखा। जिसमें उनकी आत्म स्वीकृति इस प्रकार है - ''लेखक भी मैं ठोक पीटकर बना हूँ। प्रतिभा अवश्य है, परंतु वह एक तिहाई से अधिक नहीं। मेरे लेखन में दो तिहाई परिश्रम और चोरी रहती है। लेखन के पीछे ठोस पंडित्य का प्रदर्शन अधिक रहता है। मुझमें पांडित्य का विस्तार चाहे हो किंतु गहराई नहीं है। और बावन तोले पाव रत्ती वाली यथार्थता और निश्चयता और भी कम।

किन्तु मैं इस कमी को सफलतापूर्वक छिपा लेता हूँ।''[35] यह आत्मकथा आत्म चित्रण से आत्म विश्लेषण की ओर प्रवृत्त हो रही है।

हरिभाऊ उपाध्याय

हरिभाऊ उपाध्याय की आत्मकथा 'साधना के पथ पर' सन् 1946 ई. तथा तृतीय संस्करण सन् 1957 ई. में सत्यसाहित्य प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा लेखक के अहिंसा संबंधी अनुभवों का संचयन व संकलन है। इन्होंने महात्मा गाँधी की आत्मकथा का अनुवाद हिन्दी में किया।

राहुल सांकृत्यायन

महापंडित राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' सन् 1946 ई. में तथा सन् 1949 ई. में द्वितीय भाग राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। उनके मरणोपरांत उनकी पत्नी कमला सांकृत्यायन ने तृतीय, चतुर्थ और पंचम खंडों को प्रकाशित किया। इस आत्मकथा में राहुलजी के 63 वर्ष की बहुमुखी जीवन पूर्णरूपेण अंकित हुआ है। उनके बहुआयामी जीवन को दर्शित करती हुई बहुविस्तारीय आत्मकथा के बारे में जनकदुलारी सहगल लिखती हैं कि ''जीवन के 63 वर्षों के वृत्त में राहुल जी ने शैशव, तारुण्य एवं प्रौढ़ावस्था के चित्रण में अपने व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों यायावर राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, इतिहासकार, सत्यान्वेषी, साम्यवादी आदि का सत्यता, स्पष्टता एवं यथार्थता से आलेखन किया है।''[36] आत्मकथा के अतिरिक्त डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा 869 पृष्ठों में सन् 1947 ई. में सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित हुई। जिसमें उनके संपूर्ण राजनैतिक जीवन का चित्रण है।

तृतीय उत्थान काल स्वतंत्रता पश्चात के युग ने आत्मकथा साहित्य के लेखन, प्रकाशन, लोकप्रियता की समृद्ध परम्परा दी। स्वतंत्रतापूर्ण जहाँ जीवन चित्रण, आत्म

चित्रण घटनाओं का लेखा-जोखा आदि का सतही स्तर पर अंकन हुआ, वहीं स्वतंत्रता पश्चात आत्मकथा अपनी व्यापकता, गंभीरता, स्थैर्यत के साथ परिलक्षित होने लगी। आत्मकथाओं में विश्लेषणात्मकता के साथ ही आत्म प्रसार एवं आत्म प्रदर्शन की भी समाहित होने लगी।

वियोगी हरि

सन् 1948 ई. में वियोगी हरि की 420 पृष्ठों की आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' शीर्षक से सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई। वियोगी हरि एक प्रसिद्ध समाजसेवी, लेखक, कवि तथा समाज सुधारक होने के बावजूद आत्मप्रशंसा के संकोच से आपूरित यह कहते हैं कि ''मुझ जैसों का स्वभावत: सदा संकोच और भय रहा कि कहीं कोई यह न कह बैठे कि अच्छा ! ये क्षुद्र मानव अब आत्म-कथाकारों की सूची में अपना नाम लिखाने जा रहे हैं। यह इनकी धृष्टता और निर्लज्जता नहीं तो क्या है?''[37] वियोगी हरि के साथ विमलकुमार जैन और हरि प्रसाद द्विवेदी की आत्मकथाएं भी प्रकाशित हुई।

गणेश प्रसाद वर्णी

सन् 1949 ई. में जैन धर्म के उपासक और प्रचारक गणेश प्रसाद वर्णी की आत्मकथा 'मेरी जीवन गाथा' 704 पृष्ठों की जैन ग्रंथमाला काशी से प्रकाशित हुई।

विनोद शंकर व्यास

विनोद शंकर व्यास की आत्मकथा 'उलझी स्मृतियां' नाम से प्रकाशन पुस्तक भंडार,काशी से प्रकाशित हुई।

यशपाल यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' का प्रथम खंड सन् 1951 ई. में सन् 1952, सन् 1955 ई. में क्रमश: द्वितीय एवं तृतीय खंड विप्लव कार्यालय लखनऊ से

प्रकाशित हुए। लेखक के वैयक्तिक और क्रांतिकारी गतिविधियों के संपूर्ण पक्ष रोचक और मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं।

सन् 1951 ई. में अजित कुमार जैन की आत्मकथा 'अज्ञात जीवन' तथा अलगू राय शास्त्री का 'मेरा जीवन' एवं सत्यदेव परिव्राजक की 'स्वतंत्रता की खोज' में इसी वर्ष प्रकाशित हुई।

शांतिप्रिय द्विवेदी

शांतिप्रिय द्विवेदी की 'परिव्राजक की प्रज्ञा' नामक आत्मकथा सन् 1952 ई. में 278 पृष्ठों की इंडियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने जीवन के 41 वर्षों की कष्टमय करुणगाथा लिखी। स्वाभाविकता तथा मानवीय संवेदना रोचकता आदि से आपूरित यह आत्मकथा सरल रचना है।

देवेन्द्र सत्यार्थी

प्रसिद्ध कवि और कथाकार देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्मकथा सन् 1952 ई. में 'चाँद सूरज के बीरन' शीर्षक से राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा में लेखक का बाल्यकाल, शैक्षिक जीवन, साहित्यिक प्रतिभा के प्रस्फुटन तथा यत्र-तत्र पारिवारिक घटनाओं का चित्रण है। देवेन्द्र सत्यार्थी लोक गीतों के शोधकर्ता होने के कारण इस कृति में लोक गीतों का भावुकतापूर्ण चित्रण हुआ है।

नरदेव शास्त्री

नरदेव शास्त्री की आत्मकथा 'आप बीती जग बीती' शीर्षक से जबलपुर महाविद्यालय से सन् 1957 ई. में प्रकाशित हुई। उनके वैयक्तिक, पारिवारिक, शैक्षणिक, राजनैतिक जीवन का चित्रण इसमें सम्पूरित है।

धीरेन्द्र वर्मा

धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी युवावस्था के दिनों के वातावरण, स्थितियों और महत्वाकांक्षाओं का चित्रण 'मेरी कालिज डायरी' शीर्षक से किया। 119 पृष्ठों की यह रचना सन् 1958 ई. में साहित्य भवन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। यह एक आत्मविश्लेषण परक खण्ड आत्मकथा है।

देवराज उपाध्याय

देवराज उपाध्याय ने अपनी खण्ड आत्मकथा 'बचपन के दो दिन' शीर्षक से सन् 1958 ई. में मंगल प्रकाशन, जयपुर से प्रकाशित करवाई जिसमें लेखक अनुशासित बाल्यकाल, बालविवाह, शिक्षा तथा साहित्य प्रेम स्पष्ट होता है। 12 वर्ष पश्चात द्वितीय खण्ड सन् 1970 ई. में 'यौवन के द्वार पर' नाम से प्रकाशित हुई। इसमें लेखक का धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक जीवन का चित्रण है।

पदुमपुन्ना लाल बख्शी

पदुमपुन्ना लाल बखशी की आत्मकथा 'मेरी अपनी आत्मकथा' शीर्षक से इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इसमें लेखकीय जीवन, साहित्यकारों तथा साहित्यिक जीवन की चर्चा अधिक है।

सेठ गोविन्द दास

सेठ गोविन्द दास हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार हैं जिनकी आत्मकथा तीन भाग में प्रयत्न, प्रत्याशा और नियताप्ति शीर्षकों सहित आत्मनिरीक्षण शीर्षक से सन् 1957 ई. में भारतीय विश्व प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुए। इस आत्मकथा में तात्विकता, तथ्यात्मकता, विश्लेषणात्मकता, निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता आदि गुणों का समायोजन

हुआ है। सन् 1963 ई. में दूसरी आत्मकथा परक रचना 'उथल पुथल का युग' सूचना और प्रसारण मंत्रालय से प्रकाशित हुई।

वेदानन्द तीर्थ

वेदानन्द तीर्थ की संक्षिप्त आत्मकथा 'जीवन की भूलें' शीर्षक से विरजानन्द वैदिक संस्थान, दिल्ली से प्रकाशित हुई।

उपेन्द्र नाथ अश्क

उपेन्द्र नाथ अश्क की विश्रृंखल आत्मकथा 'ज्यादा अपनी परायी कम' शीर्षक से सन् 1959 ई. में नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इसमें यात्रा, डायरी, पत्र आदि के अतिरिक्त 57 जीवनी के नोट सम्मिलित हैं। इसमें लेखक ने अपनी अभिरुचियां, लेखन, प्रकाशन, नौकरी तथा सहयोगी मित्रों का वर्णन किया। अश्क ने सन् 1977 ई. में 'चेहरे अनेक' शीर्षक से आत्मकथा प्रकाशित हुई। जिसमें अश्क ने जीवन के विविध पक्षों को चेहरे के अनेक पहलुओं से स्पष्ट किया है।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायन अज्ञेय

अज्ञेय की आत्मकथा वैयक्तिक निबंधों का संग्रह आत्मनेपद शीर्षक से भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसमें अज्ञेय ने साहित्य लेखन और रचना प्रक्रिया को स्पष्ट किया है।

बेचन शर्मा 'उग्र'

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की बहुचर्चित आत्मकथा 'अपनी खबर' सन् 1960 ई. में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुई। इसमें लेखक का जीवन व्यंग्यपूर्ण शैली में संपूर्ण विद्रूपताओं के साथ अंकित हुआ। उनकी यथास्थिति का ज्ञान इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है कि ''पढ़ा भी कहीं हर जन्म में जाता है? किसी जन्म में पढ़ लिया -

बस, जन्म-जन्मांतरों के लिए हो गया। गुरु गृह गए पढ़न रघुराई, अल्पकाल विद्या सब पाई।''[38] असामान्य पारिवारिक जीवन में क्रांतिपूर्ण लेखन मन की उन्मुक्त तरंगों का इस तरह चित्रण कर स्वयं के मनुष्य को ही लेखक ने उभारा है।

इन्द्र विद्यावाचस्पति

इन्द्र विद्यावाचस्पति की आत्मकथा पत्रकारिता के अनुभव को सन् 1960 ई. में नेशनल पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित हुई। मा. भगवानी दीन की आत्मकथा सन् 1962 ई. में 'जीवन झांकी' शीर्षक से पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुई जो कि एक संक्षिप्त और विश्रृंखल आत्मकथा थी। संतराम बी.ए. की आत्मकथा 'मेरे जीवन के अनुभव' सन् 1963 ई. में वाराणसी से प्रकाशित हुई।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

आचार्य चतुरसेन शास्त्री की आत्मकथा सन् 1963 ई. में 'मेरी आत्म कहानी' 615 पृष्ठों में साहित्य समिति शाहदरा से प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा के दो अध्याय शास्त्री द्वारा शेष उनके मरणोपरांत उनके अनुज चन्द्रसेन ने तैयार किये। जिसमें लेखक के साहित्यिक और राजनैतिक जीवन के अहंवादी, कटुवादी, दृढ़ व्यवसायी संकल्प शील रूप से उभरा है।

घनश्यामदास बिड़ला

घनश्याम दास बिड़ला की आत्मकथा 'कुछ देखा कुछ सुना' शीर्षक से सन् 1964 ई. में सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित हई।

हरिवंश राय बच्चन

हिन्दी के लोकप्रिय कवि हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा चार खंडों में क्रमश: प्रकाशित हुई। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' सन् 1969 ई. में, द्वितीय खंड 'नीड़

का निर्माण फिर' सन् 1970 ई. में, तृतीय खंड 'बसेरे से दूर' सन् 1977 ई. में तथा चतुर्थ खंड 'दशद्वार से सोपान तक' सन् 1985 ई. में प्राजपाल एंड संस से प्रकाशित हुई। इन चारों खंडों में लेखक की रचना प्रक्रिया भौतिकऔर मानसिक संघर्ष की तथ्यात्मकता, कलातम्कता भाषा की प्रांजलता तथा भाव पक्ष की मार्मिकता के कारण यह एक सफल आत्मकथा कही जा सकती है।

चतुर्भुज शर्मा

चतुर्भुज शर्मा की आत्मकथा 'विद्रोही की आत्मकथा 'शीर्षक से सन् 1970 ई. में आत्माराम एंड संस दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने ग्राम्य जीवन तथा राजनैतिक जीवन के संघर्ष और अपनी विद्रोही प्रवृत्ति का अंकन किया है।

वृंदावन लाल वर्मा

वृंदावन लाल वर्मा की आत्मकथा 'अपनी कहानी' शीर्षक से सन् 1972 ई. में मयूर प्रकाशन झांसी से प्रकाशित हुई। इसमें उनके जीवन संघर्ष, साहसी स्वभाव, शिकारी प्रवृत्ति साहित्य जगत में प्रवेश आदि को रूपायित करती है। उन्होंने अपनी रचनाधर्मिता में भाषायी तीखापन और स्पष्टवादिता को महत्व दिया है। मार्ग में डाकू मिलने पर वे कहते हैं कि ''नहीं तुमने टाँगा तेज किया नहीं कि वे संदेह करके टूट पड़ेंगे कि तांगे में कुछ कीमती सामान अवश्य है; धीरे-धीरे ही चलो मैंने प्रतिवाद किया और बंदूक संभाली।''

सुमित्रानंदन पंत

प्रसिद्ध छायावादी कवि की संक्षिप्त आत्मकथा 'साठ वर्ष और अन्य निबंध' शीर्षक से सन् 1973 ई. में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुई। इसमें प्रकृति प्रेम,जीवन कथा तथा प्रेरक ग्रंथ आदि का चित्रण हुआ है।

रामवतार पोद्दार अरुण

सन् 1974 ई. में रामवतार पोद्दार अरुण की आत्मकथा 'अरुणायन' शीर्षक से 207 पृष्ठों में अनुपम प्रकाशन, पटना से प्रकाशित हुई। इसमें लेखक का वैयक्तिक जीवन, लेखकीय विवरण से ओत प्रोत होने के साथ कलात्मक आत्मविश्लेषणात्मक और अहंवादिता का स्पष्ट अंकन हुआ है।

कृष्ण चंदर

कृष्ण चंदर की आत्मकथा उनके मरणोपरांत उनकी पत्नी सलमा सिद्दिकी के द्वारा 'आधे सफर की पूरी कहानी' शीर्षक से सन् 1979 ई. में छपी। इसमें उनका साहित्यिक तथा राजनैतिक जीवन को वैयक्तिक जीवन के साथ गूँथ दिया गया है। इसमें आत्मविश्लेषण तथा क्रमबद्धता का अभाव रहा है।

रामदरश मिश्र

प्रसिद्ध कवि, कथाकार रामदरश मिश्र की आत्मकथा 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' शीर्षक से सन् 1989 ई. में प्रकाशित हुई। इसमें लेखक का शैशव जीवन परिवेश के साथ चित्रण हुआ है।

हंसराज रहबर

हंसराज रहबर की आत्मकथा 'मेरे सात जन्म' शीर्षक से सन् 1986 ई. में प्रकाशित हुई। इसमें लेखक की वैचारिक प्रखरता तथा पंजाब के परिवेशगत धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक टकराव का चित्रण और अंकन है।

शिवपूजन सहाय

सन् 1985 ई. में शिवपूजन सहायक के आत्मपरक संस्मरणों को कालक्रमानुसार 'मेरा जीवन' शीर्षक से सारांश प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुई। जो

अपनी समग्रता में वस्तुत: आत्मकथा ही है। इसमें लेखक की बाल्यावस्था से शैशवावस्था तदुपरांत साहित्यकारों और सहयोगियों की वैचारिक चर्चा तथा प्रेरणाओं का अंकन हुआ है। लेखक ने जीवन में ईश्वरीय अनुकंपा को विशेष महत्व दिया है।

राजेन्द्र यादव

हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक, संपादक, लेखक राजेन्द्र यादव की आत्मकथा 'औरों के बहाने', 'वे देवता नहीं' तथा 'मुड़-मुड़ के देखता हूँ' शीर्षकों से सन् 2001 ई. में राजकमल से प्रकाशित हुई। लेखक के अनुसार "यह मेरी आत्मकथा नहीं है इन्हें आत्मकथांश का नाम दे सकता हूँ। आत्मकथा वे लिखते हैं जो स्मृति के सहारे गुजरे हुए को तरतीब दे सकते हैं।"[39] इसमें लेखक ने जीवन गाथा का आत्मविश्लेषणात्मक रूप अंकित किया है।

भीष्म साहनी

प्रसिद्ध लेखक भीष्म साहनी की आत्मकथा 'आज के अतीत' शीर्षक से सन् 2004 ई. में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुई। इसमें लेखक का साहित्यिक जीवन अधिक और वैयक्तिक जीवन कम चित्रित हुआ है। भाषा स्पष्ट और स्वच्छ सरलता धारण किए हुए है।

गद्य की इस अकाल्पनिक विधा आत्मकथा ने जहाँ प्राचीन काल में आत्मोत्थान की भावना को सर्वोपरि रखा, वहीं संस्कृत काल तक आते-आते लेखक तथा कवि की आत्मचरित्र की भावना में परिवर्तन स्वरूप उनके लेखन में यत्र-तत्र अपने बारे में तथा अपनी रचनाओं के बारे में संकेत लक्षण स्पष्ट होने लगे। गद्य के विकास तथा परिवर्तनकारी स्थितियों ने इसे और पुष्ट किया। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक रूढ़िग्रस्त सोच को नया आयाम प्राप्त हुआ। परिणामत: साहित्य के क्षेत्र में भी

परम्परागत दृष्टि को नये ढंग से सृजन में स्थान दिया गया। नवीन विधाओं तथा शैलियों में नाना प्रकार के परिवर्तन तथा विकास आया। जिससे आत्मकथा साहित्य भी पूरी तरह प्रभावित हुआ और लेखक, समीक्षक तथा कवियों ने अपने आत्मचरित्र को विश्लेषित एवं विवेचित कर लेखन किया। उनका आत्मकथात्मक विश्लेषण वैयक्तिक तथा सामाजिक संदर्भों को समक्ष रखकर हो लगा। जिससे आत्मकथा साहित्य समृद्ध तथा गति की ओर प्रवृत्त हुआ। परिणामत: आत्मकथा साहित्य के द्वारा विशेष व्यक्तिजन को लेकर सत्यज्ञान तथा उनसे प्रेरणात्मक दिशाएं प्राप्त हुई। 21वीं सदी के प्रथम दशक में स्त्री आत्मकथाओं की एक बाढ़ सी आयी, जिसने पाठकों का ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया तथा चर्चा का विषय बनी। इन स्त्री आत्मकथाओं की व्यापक चर्चा अगले अध्याय में विस्तार रूपेण होगी।

मराठी साहित्य में स्त्री आत्मकथाएं

मराठी साहित्य में स्त्रियों द्वारा लिखा हुआ आत्मचरित्रात्मक लेखन काफी सशक्त और समृद्ध करने वाला रहा। महाराष्ट्र में 19वीं शताब्दी में विशेष व्यक्तियों, संस्थाओं तथा विचारधाराओं ने नई संस्कृति और परिवर्तन को गृहित करने की प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप स्त्रियों ने अपने ऊपर हो रहे अत्याचार और अन्याय के विरोध में आवाज उठायी और उनसे मुक्ति की कामना की। उदारवादी विचारधारा के सहयोग से स्त्रियां रूढ़िगत परम्पराओं को एक किनारे रखकर अपनी पीड़ा और घुटन को शब्दों के माध्यम से व्यक्त करना आरंभ किया। अपनी अस्मिता, सम्मान, समानता और स्त्री मनुष्यत्व के अधिकार को जाना तथा उसे प्राप्त करने हेतु एक अजीब तीव्र इच्छा प्रकट की।

20वीं सदी के तीसरे दशक में नारी के व्यक्तित्व का विकास होने लगा और स्त्री-पुरुष संबंधों में बदलाव आने लगा। महात्मा गाँधी के नारी विषयक समता के विचार को अधिक गति मिली। महात्मा फुले और धो. के कर्वे ने शिक्षा को स्त्री के विकास के लिए आवश्यक मानकर इसके लिए प्रेरित किया।

महाराष्ट्र में स्त्री मुक्ति आंदोलन, सावित्री बाई फुले द्वारा प्रारंभ माना जाता है। महात्मा ज्योतिबा फुले की प्रेरणा और प्रोत्साहन के कारण सावित्री बाई फुले वह प्रथम स्त्री थी जिन्हें पाठशाला में प्रवेश तथा अक्षर ज्ञान की सुविधा पाप्त ही नहीं की बल्कि अन्य स्त्रियों को भी शिक्षा के लिए प्रेरित किया।

शिक्षा और संस्कार से गृहित स्त्रियों ने लेखन को अपनी मनोव्यथा को व्यक्त करने का माध्यम बनाया। जिसके परिणामस्वरूप मराठी साहित्य में शिक्षित स्त्रियों द्वारा आत्मिक चित्रण की परम्परा प्रारंभ हुई। ''बहिणाबाई नामक स्त्री ने सर्वप्रथम आत्मकथात्मक अभंग पद लिखे। बहिणाबाई संत तुकाराम की शिष्या थी।''[40] ''संत तुकाराम भी अभंगों में आत्मकथा लिखने वाले पहले भक्त कवि हैं।''[41] ''बहिणाबाई के पश्चात पण्डिता रमाबाई ने सन् 1907 ई. में ए टेस्टीमनी ऑफ पॉवर इनएक्ज्हास्टिबल ट्रेजर में निजी और आत्मकथात्मक प्रसंगों को लिखा। मराठी में किसी स्त्री द्वारा लिखी गयी पहली आत्मकथा है रमाबाई रानाडे द्वारा सन् 1910 ई. में लिखी गई 'आमच्या आयुष्यांतील कांही आठवणी'। इस आत्मकथा की लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसका पहला संस्करण अप्रैल, सन् 1910 ई. में छपा तथा दूसरा, तीसरा भी जून और दिसम्बर, सन् 1910 ई. में ही छपा। लगभग इक्कीस वर्ष बाद सन् 1931 ई. में दूसरी आत्मकथा आती है 'अन्नपूर्णा बाई रानाडे' द्वारा लिखी ई 'स्मृति तरंग'। मराठी की बेहद लोकप्रिय पुस्तकों में लक्ष्मीबाई

तिलक और पार्वती बाई आठवले की आत्मकथाएं भी शामिल है। लक्ष्मीबाई तिलक की आत्मकथा 'स्मृति चित्रे' चार भागों में प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा सन् 1934-35, 35, 36 ई. में क्रमश: तथा इनके भी कई संस्करण निकले हैं। इसी बीच मीनाक्षी साने की 'जीवन नृत्य' सन् 1934 ई. में आई। पार्वती बाई आठवले की 'माझी कहाणी' सन् 1936 ई. में प्रकाशित हुई। मराठी आत्मकथाओं के लेखन में और प्रकाशन में गजब का नैरंतर्य है।''[42]

''सन् 1943 ई. में कमलाबाई देशपांडे की स्मरण सांखली (स्मरण सांकल) तथा मराठी के रोमातिकं कवि माधव ज्यूलियन की पत्नी ललिता बाई पटवर्धन की 'आमची अकरा वर्ष' (हमारे ग्यारह वर्ष) सन् 1945 ई. में बाय सदाशिव नाम से प्रसिद्ध महाभारत के कलाकार के साथ सहजीवन व्यतीत करने वाली 'या सदाशिव' इंदिरा सदाशिव की आत्मकथा सन् 1948 ई. में सामने आये।''[43] ''इसी बीच विद्वान केतकर की पत्नी शीलवती केतकर ने 'यह मुझे ही कहना चाहिए' शीर्षक से सुन्दर आत्मकथात्मक रूप में केतकर जी के साथ अपने सह जीवन की गाथा लिखी।''[44] इस सारे आत्मकथात्मक लेखन में स्त्री की भावनात्मक उत्कटता अधिक परिलक्षित होती है।

इसके पश्चात साठ के दशक में स्त्रियों ने अधिक मुक्ताभाव अपने आत्मिक चित्रण में प्रस्तुत किये। ''स्नेहलता प्रधान (अभिनेत्री) ने अपने जीवन के सुख दु:ख से आपूरित अनुभवों को स्वच्छंद तथा स्पष्टतापूर्वक लिखने का साहसी कदम उठाया। हंसा वाडकर ने अपनी आत्मकथा सन् 1970 ई. में 'सांबाते एका' के द्वारा पुरुष से मिली यातना का पर्दाफाश किया। आनन्दी बाई बिंजापुरे ने अपनी अपनी आत्मकथा 'अजुनि चालेतिचिवाट' में अपने पति को त्यागकर दूसरे पुरुष को स्वीकार करने और

उससे हुई वंचना की कहानी बिना किसी मानसिक अवरोध के बतायी। मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार रणजीत देसाई की पत्नी माधवी देसाई ने अपनी आत्मकथा 'नाच ग घुमा' में अपने वैवाहिक जीवन की ट्रेजडी को प्रस्तुत किया।''[45] यह आत्मकथा सन् 1988 ई. में पाठक के समक्ष आयी। ''माधवी प्रसिद्ध भालजी पढ़ेकर जो मराठी फिल्म उद्योग के पितामह कहे जाते हैं, उनकी पुत्री थी। रणजीत देसाई के साथ विवाह चालीस वर्ष के आसपास हुआ। कालांतर में उनका संबंध विच्छेद हुआ। यह आत्मकथा माधवी देसाई के अंतहीन संघर्ष की गाथा है जिसके शीर्षक के बारे में अंजलि पटवर्धन कुलकर्णी कहते हैं कि- (Nach Ga Ghuma, the title of her autobiography is a live taken from a popular Marathi folk song which describes how the women is compelled to dance to the tune of tradition despite being refused a number of things.) नाच ग घुमा शीर्षक उनकी आत्मकथा में प्रसिद्ध मराठी लोक गीत से लिया गया है जो कि वर्णित करता है या इंगित करता है कि किस तरह स्त्री दबाव में आकर परम्परा की धुन में अपने को नचाती है इसके बावजूद उसके अस्तित्व की पहचान को अस्वीकार कर दिया जाता है।''[46]

सन् 1990 ई. में पु. ल. देशपांडे की पत्नी सुनीता देशपांडे की आत्मकथा 'आहे मनोहरतारी' चर्चा में आयी। इस आत्मकथा में उनके असफल सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन और वैवाहिक जीवन की संघर्ष गाथा है। इसके समर्थन और विरोध में काफी बहसें हुईं। फिर भी यह बहुचर्चित रही। सन् 1992 ई. में लालन जारंग की जगल जसही चर्चा में आयी। मराठी के एक बड़े चिंतक पत्रकार, साहित्यकार प्रभाकर वाध्ये की पत्नी कमल वाध्ये की आत्मकथा 'बन्ध-अनुबन्ध' सन् 1993 ई. में चर्चित रही। यह आत्मकथा एक मंदिर पुजारी की बेटी कमावी (बाद में कमल) की है जो

कालांतर में समाज सेविका तथा उसके अकेलेपन की दास्तान है। सन् 1994 ई. में रागिनी पुन्डलिक की 'साथ-संगत' सामने आयी।

मराठी साहित्य में दलित स्त्रियों द्वारा भी अपनी आत्मकहानियाँ तथा आत्मकथा लिखे गये। ''दलित स्त्रियों में कुमुद पावड़े की 'अंत: स्फोट' सन् 1981 ई. में चर्चा में आयी। बेबी ताई कांबले की 'जीवन हमारा', शांताबाई कांबले की 'माझया जल्माची' चित्तकरकथा', मुक्ता सर्वगोड की 'मिटलेली कवाड़े', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' तथा जनाबाई गिरहे की 'मरणला' (मरण वेदना) नामक छ: आत्मकथाएँ चर्चा का विषय बनी।''[47]

दलित नामदेव दसाल की पत्नी मल्लिका अमर शेख ने 'मला उद्धस्त व्हायचेय' में बहुत ही साहस पूर्वक अपनी व्यथाओं को प्रस्तुत करते हुए दलित लेखकों के अंतर्द्वंद्वों और असंगतियों को उभारा है। वह कहती हैं कि ''मैं तो यह मानती हूँ कि मर्द की न कोई जाति होती है न संस्कारों से उसका कोई वास्ता। नारी के पास वह होता है - यह दावातो मैं नहीं करूँगी, पर भारतीय संस्कृति को मैं मृत पशु मानती हूँ। हर आदमी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उसकी खाल नोचकर उसे अपनी तरह से ओढ़ लेता है। लेकिन उस खाल के नीचे उसका जो असली रूप छुपा है, वह बेहद घिनौना और भोड़ा है - एक नामदेव दसाव के लिए मेरी पूरी समूची जिंदगी नहीं हो सकती है।''[48]

लगभग सभी आत्मकथाओं में सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि पुरुषात्मक समाज में स्त्री का निरंतर शोषण, उसके अस्तित्व और अस्मिता को कुचला जाना और इनके विरोध में स्त्री संघर्ष।

शांताबाई कांबले ने दलित और स्त्री जीवन की सच्चाई अपनी कथा में संवेद्य रूप में स्पष्ट की है। यह आत्मकथा वैयक्तिक अनुभवों की सच्चाई के साथ संपूर्ण

दलित वर्ग के अनुभवों को अभिव्यक्त करती है। गरीबी और भूख से संघर्ष अगर स्त्री है तो अपनी अस्मिता की सुरक्षा इन घेरो (वृत्तों) में उलझ कर रह गयी जिंदगी को स्पष्ट करती है यह आत्मकथा। भूख की जिजीविषा को शांताबाई व्यक्त करती है कि ''माँ जलावन की लकड़ी तोड़ने सुबह से पास के जंगल में चली गयी थी। हम सारे बच्चे घर के अंदर ही खेलने में मग्न थे। शाम होते-होते बादल घिर आए, तेज हवाएं चलने लगी और थोड़ी ही देर में ओले बरसने लगे। हम सब घर के बार आकर ओले चुन-चुन कर खाते रहे। मेरे भाई ने कहा, ऐसे ही ओले बरसते रहे तो खाने में कितना मजा आयेगा।''[49]

एक तरफ भूख, गरीबी से संघर्ष के चित्रण तो दूसरी तरफ स्त्रियों ने अपनी वैयक्तिक तथा सामाजिक स्थितियों के चित्रण किये। अपनी अस्मिता की पहचान के लिए दलित स्त्री का संघर्ष मुक्ता सर्वगौड की 'मिटलेली कवाडे' में इस प्रकार व्यक्त है कि ''जब मैं घर से बाहर पाठशाला जाने के लिए निकलती, गलियों से गुजरते हुए गालियाँ सुननी पड़ती -देखो-देखो जा रही है। ये क्या अभी बच्ची है? जो पढ़ने जाती है? शादी हुई होती तो अब तक दो बच्चों की माँ बनती।''[50] इसी अस्मिता के संघर्ष की गाथा को दर्शाती है कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप'। इस आत्मकथा में कौशल्या बैसंत्री के वैवाहिक जीवन तथा पितृसत्तात्मक शोषण को स्पष्ट रूप से अंकित किया गया है। वह कहती हैं कि ''मेरी और देवेन्द्र की नहीं बनी। देवेन्द्र कुमार सिर्फ अपने ही घेरे में रहने वाला आदमी है। गर्म मिजाज और जिद्दी। अपने बारे में खुद कहता है कि मैं बहुत शैतान आदमी हूँ। उसने मेरी इच्छा-भावना, खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात-बात पर गाली। वह भी गंदी-गंदी और हाथ उठाना। मारता है भी तो बहुत क्रूर तरीके से।''[51]

इन दलित स्त्री आत्मकथाओं ने मराठी साहित्य में एक अभिनव योगदान दिया। आत्मकथा लेखन दलित मराठी स्त्रियों में इतना सशक्त और कुरेदने वाला है कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इन स्त्रियों ने बिना किसी लाग-लपेट केबिना किसी दुराव-छिपाव के अपनी यथागत वास्तविकताओं से सभी जन को अवगत कराया है। स्पष्ट यथार्थमय कथनों ने सोचने पर विवश किया है कि उनकी इस स्थिति का दोषी कौन? इसके साथ ही दूसरों को प्रेरित करती ये आत्मकथाएँ कि अब मौन या चुप्पी का समय नहीं है और अगर रही तो शोषण और उत्पीड़न बढ़ेगा कम होने के बजाय।

बंग्ला साहित्य में स्त्री आत्मकथाएं

बंग्ला साहित्य को आत्मकथा लेखन में अधिक ख्याति प्राप्त हुई है। विशेषकर महिलाओं द्वारा लिखा गया आत्मकथात्मक लेखन। बंग्ला साहित्य की पहली आत्मकथा ही एक स्त्री के द्वारा लिखी गई है। ''सन् 1876 ई. में बंग्ला की पहली आत्मकथा 'आमार जीबोन' रससुंदरी देवी द्वारा लिखी गई। लेकिन किसी स्त्री द्वारा लिखी गई दूसरी आत्मकथा 'आकार कोथा' जिसकी लेखिका विनोदिनी दासी थी, छत्तीस वर्ष के लंबे अंतराल के बाद सन् 1912 ई. में आती है। दूसरी आत्मकथा के बाद तो एक बाढ़ सी आ गयी और एक के बाद एक आत्मकथाएं सामने आयी। सन् 1913 ई. में देवी 'शरद सुंदरी' की 'आत्मकोथा' तथा सन् 1913 ई. में ही निस्तारिणी देवी की 'सेकाले कोथा' प्रकाशित हुई। सन् 1917 ई. में प्रसन्नमयी देवी की 'पूर्व कोथा', सन् 1929 ई. में अमिय बाला की डायरी, सन् 1932 ई. में सुदक्षिणा सेन की 'जीवन स्मृति' प्रकाशित हुई।''[52]

''मीरा देवी की 'स्मृति कोथा' कमलादास की 'माई स्टोरी', तहमीना दर्शनी की 'मेरे आका', तसलीमा नसरीन की आत्मकथा अब तक सात खंड आ चुके हैं। बेबी हालदार की 'आलो आंधारि' सुशीला राय की 'एक अनपढ़ की कहानी' सुदक्षिणा सेन की 'जीवन स्मृति' आदि स्त्री आत्मकथाएं चर्चित हुई।''[53]

''बांग्ला की पहली आत्मकथा 'आमार जीबोन' में लेखिका अपने को एक पिंजड़े में कैद पक्षी की तरह मानती है। जिसकी कुल चाहत एक जोड़ी पंख है जिनके माध्यम से मनचाही दुनिया में विचरण कर सके। मृतस्त्रीक विवाह की परम्परा का विरोध करती समस्या को उठाती है प्रसन्नमयी देवी की आत्मकथा। इसमें लेखिका दो पुरुषों के बीच की बातचीत का जिक्र करती है जिसमें एक-दूसरे से कहा है कि 'पत्नी चप्पलों के एक जोड़े के अलावा कुछ नहीं है। तुमने एक खो दिया, मैं तुम्हें दूसरा ला दूँगा। वह पुरुष भाग्यशाली होता है जिसकी पत्नी मर जाती है क्योंकि उसे फिर से दहेज मिल सकता है।''[54] बांग्ला समाज में भी कुरीतियों, रूढ़ि परम्पराओं का जाल बिछा हुआ है। बाल विवाह तथा स्त्रियों की अशिक्षा आदि का प्रचलन है। बांग्ला की लेखिका तसलीमा नसरीन अपनी आत्मकथा में धर्मांधता के यथार्थ चित्रण पर दोषी करार दी जाती हैं। वे कहती है कि ''मैं किसी अन्य धर्म को पसंद नहीं करती हूँ मैं जिस समाज में रहती हूँ, जिस देश में रही हूँ, उसके बारे में मैंने ईमानदारी से लिखा है और कुछ भी नहीं छिपाया, अपने बचाव के बारे में कभी नहीं सोचा। यह मेरा अपराध है।''[55] शिक्षित और विदुषी महिलाओं को जब सत्य बोलने की सजा मिल रही है तो सामान्य स्त्री का तो जीवनयापन ही असंभव सा है। तसलीमा के आत्मकथनों में सच की सजा पर महाश्वेता देवी कहती हैं कि ''तसलीमा मैमन सिंह के गाँव से आयी लड़की है। सच बोलने की सजा यह मिली कि वह अपने ही देश से निर्वासित, यूरोप-अमरीका घूम रही

है। कंप्यूटरों की दुनिया में रहती है। कहीं कोई अपना नहीं।''[56] 'आलो आंधारि' में भी एक स्त्री जीवन जीवन जीना वह भी किसी की पराधीनता में कितना असहज है कि ''मैं असहाय, एक व्यक्ति की बंदिनी जो थी। वह जो कहे वही मुझे सुनना होगा, जो कहे वही करना होगा लेकिन क्यों? जीवन तो मेरा है, न कि उसका क्या मुझे उसके कहे अनुसार सिर्फ इसलिए चलना होगा कि मैं उसके पास हूँ कि वह मुझे मुट्ठी भर भात देता है? वह मुझे जिस तरह रखता है उस तरह तो कुत्ते-बिल्ली को रखा जाता है।''[57] यह कथन स्पष्ट करता है कि मानवीय स्वतंत्रता की अधिकारिणी स्त्री है ही नहीं। अपनी स्पष्ट बयानी और तर्कशीलता के कारण बंगाल के सामाजिक जीवन और उसमें महिलाओं की स्थिति का विश्लेषण करने में ये स्त्री आत्मकथाएं पूर्णतया सक्षम हैं। स्त्रियों को असामानता, अन्याय, शोषण और दुर्दशा से मुक्ति दिलाने में प्रेरक की भांति मार्ग प्रशस्त तथा बंग्ला साहित्य को समृद्ध बनाने में सहायक हो रही हैं।

असमी स्त्री आत्मकथा

असमिया भाषा की प्रख्यात लेखिका इन्दिरा गोस्वामी की आत्मकथा 'आधा लेखा दस्तावेज' का प्रकाशन सन् 1988 ई. में हुआ। असमिया पाठकगण उन्हें 'ममोनी रायसम' के नाम से अधिक जानते हैं। रणवीर रांग्रा उनकी आत्मकथा के संबंध में टिप्पणी करते हैं कि ''अपनी आत्मकथा 'आधा लेखा दस्तावेज' में,जो अंग्रेजी में 'एन अनफिनिश्ड ऑटोबायोग्राफी' के नाम से छपी (सन् 1910 ई.) है, वे अपने बारे में बड़ी बेबाकी से लिखती हैं, कुछ भी छिपाए बिना लगभग सब कुछ उघाड़ देती है, इस अदा के साथ कि मैंने जैसा सोचा वैसा किया।''[58] इन्दिरा गोस्वामी आत्मकथा लेखन की अनिवार्यता पर उत्तर देती हैं कि ''आत्मकथा उस सबका समुच्चय होती है जो उसने अपने जीवन में सोचा हो, किया हो, भोगा हो, यह उसके आंतरिक निजी विचारों की

ओर संवेदनाओं की अभिव्यक्ति होती है। यह लेखक के जीवन में हुई घटनाओं, संपर्क में आए भिन्न भिन्न व्यक्तियों, विभिन्न स्थानों का यथार्थ चित्रण होता है। इसमें कल्पना की कोई गुंजाइश नहीं रहती।"[59] लेखिका मानती है कि रचनाकार की प्रत्येक रचना उसके जीवन से जुड़े अनुभवों से होकर गुजरती है फिर भी वह आत्मकथा नहीं हो सकती है।उनका संपूर्ण लेखन समाज द्वारा तिरष्कृत और शोषित नारी की दुर्दशा पर केन्द्रित है।

उड़िया स्त्री आत्मकथाएँ

उड़िया स्त्री आत्मकथा साहित्य की परंपरा दीर्घ न होकर बल्कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात लिखी गई। 20वीं शताब्दी के आरंभ में फकीर मोहन सेनापति द्वारा आत्म जीवन लिखा गया जो अपने समय की महत्वपूर्ण रचना रही। स्त्रियों द्वारा आत्मलेखन का आरंभ "श्रीमती सीता देवी खादंगा द्वारा लिखी गई आत्मकथा 'मोरा जीवन स्मृति' (Mora Jivan Smruti, The Memories of My life-1978) चर्चा में रही। जिसमें पारिवारिक और सामाजिक संबंधों की दु:ख भरी व्यथा, तिरस्कार और तनावों की अभिव्यक्ति हुई।"[60] आत्मकथा लेखन के चौथे दौर में सामाजिक कार्यकर्ता और स्वतंत्रता सेनानियों द्वारा लिखित आत्मकथाएँ प्रकाश में आईं। जिसमें सामाजिक असमानता भेदभाव, दुर्दशा, जाति पांति आदि का चित्रण मिलता है। "श्रीमती रामादेवी द्वारा कृत 'जीवन पथ' (Jaiban Pathe, on the life's way 1984)"[61] रामादेवी का विवाह 14 वर्ष की आयु में हुआ। स्वदेशी आंदोलन की सक्रिय कार्यकर्ता, समाज सुधारक रमादेवी गांधी जी के सिद्धांतों से प्रभावित होकर सर्वोदय आंदोलन में भाग लेकर देश की राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों को अग्रसर किया।

कन्नड़ आत्मकथाएँ

कन्नड़ भाषा में लिखी गई स्त्री आत्मकथाएँ 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रकाश में आती है। ''कन्नड़ भाषा की प्रथम स्त्री आत्मकथा 'जीवन होराट' 'वासंती पडुकोणे' के द्वारा लिखी गई जिसका प्रकाशन सन् 1977 ई. में हुआ। वासंती ने इस आत्मकथा में अपने जीवन के संघर्ष को चुनौतीरूपेण स्वीकार कर, प्रत्येक स्थिति में अपने पति का साथ दिया। अपनी शिक्षा को आगे बढ़ाकर पूर्ण कर घर से बाहर नौकरी में कदम रखा। घर-परिवार के दायित्वों का निर्वाह अकेले किया। पति की संदेहात्मक दृष्टि उन्हें हमेशा व्यथित करती है।''[62] परमेश्वरी लोकेश की आत्मकथा ''बहुदान्यदिंद बहुदान्याक्के' में उनके जीवन के 60 वर्षों के संघर्षों का अंकन हुआ है। विधवा की त्रासदी को युवावस्था में ही झेलना पड़ा। उन्होंने घर-परिवार और बच्चों की जिम्मेदारियों को धैर्य और साहसपूर्वक निभाया। अंतत: स्वयं को आत्मनिर्भर होकर बच्चों के भविष्य को सुखमय बनाने में सफल होती है।''[63] कन्नड़ भाषी महिला ''जाजी तिम्मरम' की आत्मकथा 'हेज्जेनु' एक ऐसी अनपढ़ स्त्री की आत्मकथा है जिसको 'रवीन्द्र भट्ट' नामक व्यक्ति द्वारा लिखवाया गया। जाजी एक आदिवासी जाति 'जेनु कुरुब' (गड़रिया जाति) से संबंध रखती है। आदिवासियों की समस्याओं - पुनर्वास, सुरक्षा, सुविधाओं के हेतु जाजी संघर्ष करती है। राजनीति में प्रवेश कर संघर्ष को सफल बनाती हैं। लेखिका अपने सामाजिक पक्ष का विकास अपनी जाति और समुदाय के पुनरुत्थान द्वारा करती है।''[64] कन्नड़ की अन्य लेखिका ''अनुपमा निरंजन की आत्मकथा 'नेनपु सिही कंही' (खट्टी-मीठी यादें) हैं जिसमें लेखिका ने तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दीन-हीन दशा की स्थिति को दर्शाया है। पुरुष प्रधान में स्त्रियों को अपने अस्तित्व की पहचान के लिए नाना प्रकार के अवरोधों का सामना किस प्रकार करना

पड़ता है, दर्शाया है। लेखिका ने अपने जीवन से जुड़े प्रत्येक पक्ष बिना किसी संकोच के लिखा है।''[65] एक अन्य आत्मकथा ''जीवन पचास फुट' की लेखिका कमला हंपना है। हंपना के घर का वातावरण धार्मिक और सदाचारी होने के कारण उनकी आत्मकथा में भी इसका प्रभाव स्पष्ट होता है। सन् 1961 ई. में हंपना ने अंतरजातीय विवाह कर रूढ़िगत परंपराओं को चुनौती दी। लेखिका के साहित्यिक जीवन की झलक आत्मकथा में मिलती है।''[66] कन्नड़ की लेखिका ''शांता देवीमालवाड़ ने अपनी आत्मकथा 'बिखरी यादों के पंख' लिखी। तत्कालीन समय लड़कियों को घर के कार्यों तक ही सीमित रखा जाता था। लेखिका उन वृत्तियों से बढ़कर शिक्षा, साहित्य और सामाजिक प्रतिष्ठा को अपनाया। और कन्नड़ साहित्य के सृजन और समुन्नत बनाने में अपनी विशेष भूमिका निभाई। साहित्य सृजन और समाजसेवी के रूप में ख्याति तथा सम्मान दोनों अर्जित किया।''[67]

पंजाबी आत्मकथाएँ

पंजाबी भाषा में स्त्री आत्मकथा लेखन का आरंभ पंजाबी भाषा की साहित्यकार अमृता प्रीतम की आत्मकथा 'रसीदी टिकट' से माना जा सकता है। इसका अनुवाद बटुकशंकर भटनागर ने किया। इसका प्रकाशन सन् 1977 ई. में हुआ। लेखिका बहुमुखी प्रतिभा की धनी जिन्होंने प्रत्येक विधा में साहित्य सृजन किया। इस आत्मकथा पर खुशवंत सिंह टिप्पणी करते हैं कि ''लेखिका की जीवन-कहानी इतनी छोटी है कि 'रसीदी टिकट' पर लिखी जा सके, किन्तु उसके साथ यह भी प्रमाणित होता है कि यह कृति रसीदी टिकट पर लिखे दस्तावेज की तरह प्रमाणिक भी हैं। एक लब्ध प्रतिष्ठित कवयित्री एवं लेखिका के द्वारा प्रस्तुत एक सुंदर कृति तो है ही, चाहे यह उत्कृष्ट आत्मकथा न हो, परंतु एक सुंदर साहित्यिक रचना है।''[68] प्रस्तुत कथन यह स्पष्ट

करता है कि यह आत्मकथा साहित्यिक मानदंडों पर चाहे खरी न उतरे परन्तु जीवनानुभवों की कलात्मक कृति तो है ही। इसी श्रृंखला में अगली कृति है दलीप कौर टिवाणा द्वारा लिखी गई आत्मकथा 'नंगे पैरों का सफर' जिसका प्रकाशन सन् 1980 ई. में हुआ। पंजाबी साहित्यकार इस कृति में ''यह कृति वृहदाकार नहीं है। बाल्यकाल से लेकर चढ़ती उम्र तक पीड़ा भोगने की सारी व्यथा कथा इसमें निहित है। दलीप एक समृद्ध जाट की लड़की थी, जो संयुक्त परिवार प्रणाली में पली थी। संयुक्त परिवार के दु:ख-सुख और कष्ट भी संयुक्त होते हैं। दलीप को जीवन में अपने अस्तित्व को बचाने रखने के लिए जो संघर्ष करना पड़ा, यह इसी संघर्ष की कहानी है।''[69] लेखिका शिक्षित और आत्मनिर्भर होते हुए भी अपनी पहचान के लिए संघर्षरत रही। स्त्रियों की दीन-हीन दशा का प्रमाणिक साक्ष्य है। ''यह एक ऐसी लड़की की कहानी है जिसके माता-पिता लड़के को संतान के रूप में पाना चाहते हैं। शराबी पिता अपनी लम्पटता में पैतृक संपत्ति को नष्ट करता है। वहअपने माता-पिता की अकेली संतान होने के कारण उन्हें वारिस की खोज है जो उनकी संपत्ति और उत्तराधिकार को संभाले। अनचाही संतान लेखिका को एक गांव की स्त्री द्वारा गोद ले लिया जाता है और अंधविश्वासी तथा पिछड़ी सोच का पिता एक ऐसी पत्नी की तलाश करता है जो उसे पुत्र दे सके।''[70] दलीप कौर टिवाणा की कहानी दुनिया की अकेली लड़की कथा नहीं है ऐसी पता नहीं कितनी अजीत कौर समाज में अभिशप्त जीवन जीने को बाध्य है।

पंजाबी का प्रख्यात कथा लेखिका अजीत कौर अपनी आत्मकथा 'खानाबदोश' को लेकर काफी चर्चित रही। साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत आत्मकथा उनके जीवन का कच्चा चिट्ठा है। ''इस आत्मकथा में विफरते जीवन के निजीपन और संघर्षों को जो प्रहार उपहार मिले हैं, वे किसी हौलनाक हादसे के वर्णन से कम रोमांचक नहीं। अपनी

शर्तों पर, अपनी जिंदगी जीने की जिद और ललक के बावजूद वह समाज की मँझधार में मथती रही खुद को और अंतत: जिंदगी के निरंतर युद्ध में संलग्न रही; क्योंकि जीवन रास्ता है, मंजिल नहीं।''[71] लेखिका इस समाज में अपने को अकेली और निस्सहाय मानती है कि दु:ख और कठिनाइयों से अकेली जूझती है। इसी संत्रास की कहानी की यात्रा का नाम है खानाबदोश।

मलयालम

मलयालम भाषा में लिखी गयी स्त्री आत्मकथाओं की परंपरा का विकास ''मेरी जॉन थोट्टम' (Mary John Thottam) की आत्माभिव्यक्ति कविता के माध्यम से अभिव्यक्त हुई जिसे आत्मकथात्मक कविता कहा गया। Loka me yatra (Farewell to the world) कविता का प्रकाशन सन् 1928 ई. में हुआ। मेरी जॉन केरल के छोटे से गाँव इथीकारा में 1901 में जन्मी।''[72]

''केरल की निवासी ललिताम्बिका अंतर्जनम की आत्मकथा 'आत्मकथात्म्कोरा मुखम' (आत्मकथा का एक आमुख) प्रकाश में आई।''[73] स्त्री सशक्तीकरण का जो प्रयास आज चल रहा है, उसका प्रथम प्रवर्तन करने वाली लेखिका प्रसिद्ध कवयित्री कमलादास की आत्मकथा 'मेरी कहानी' का प्रकाशन सन् 1977 ई. में हुआ जो कि अपने समय की बहुचर्चित और विवादास्पद आत्मकथा रही। ''ये एक बड़े बैंक अधिकारी की पत्नी हैं और साथ ही लेखिका भी। केरल के भद्र नायक कुल में जन्म लेने के कारण अनेक मर्यादाओं से बंधने को वे विवश हैं। उनके जीवन की वे घटनाएँ, जिन्हें वे अपनी दृष्टि से देखती और समझती हैं; उन्हें लेखिका ने ज्यों-का-त्यों इस पुस्तक में रख दिया है। इससे आभास मिलता है कि जिन मर्यादाओं को उन्हें ओढ़ने की

आवश्यकता थी, उनसे मुक्त होकर वे लिख रही हैं।''[74] इस कथन से स्पष्ट होता है कि लेखिका ने जो जीवन जिया, अनुभव किया वही शब्दों में व्यक्त कर दिया।

मलयालम की अजिता ने अपनी ''आत्मकथा 'वर्मक्कुरिप्पुगलं (स्मृति लेखन) लिखी जिसका प्रकाशन सन् 1982 ई. में हुआ। लेखिका नक्सलवादी आंदोलन की सक्रिय कार्यकर्ता हैं। कई बार जेल जाती हैं। कैदियों पर हो रहे अत्याचार, अव्यवस्था और शोषण के विरोध में संघर्ष करती है और उन्हीं गतिविधियों को अपनी आत्मकथा में चित्रित किया है।'' मलयालम की 'ऐनी तय्यिल' की आत्मकथा 'इडंलियिले कुरिशु' का प्रकाशन सन् 1990 ई. में हुआ। ऐनी तय्यिल धर्मांधता पर प्रश्न उठाती हैं जिसका नडूवतू श्यैरी (फादर) विरोध करते हैं। श्यैरी विरोध स्वरूप कई लेख लिखकर उसे दोषी ठहराते हैं। कालांतर में कार्डिनल ऐनी और फादर के बीच उपजे मतभेद को समाप्त कर, ऐनी को दोषमुक्त करते हैं।''[75] इन स्त्री आत्मकथाकारों ने अपने जीवनानुभवों को अपनी आत्मकथा में जस का तस रखने का प्रयास किया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इन्हें दोयम स्थान ही प्राप्त हुआ।

तमिल

तमिल लेखिका ''मुवलूर रामाकृत अम्माल की आत्मकथा 'दासिगलिन मोस वलै' का प्रकाशन सन् 1936 ई. में हुआ। इस आत्मकथा में लेखिका ने देवदासी परंपरा का विरोध, विधवा विवाह, अंतरजातीय विवाह को प्रोत्साहन तथा वेश्याओं की समस्याओं को उठाया है और उनके समाधान के लिए संघर्षरत रही। इन समस्याओं के निराकरण आंदोलन में उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्पीड़न और अवहेलना को झेलना पड़ा। यहाँ तक कि उसे जानलेवा हमले का भी सामना करना पड़ा।''[76]

सिंधी स्त्री आत्मकथा

सिंधी भाषा में ''पोपटी हीरानन्दाणी की आत्मकथा 'मुहिंजी' अहयाती अ जा सोना रोपा वर्क (मेरे जीवन के सुनहले - रुपहले पन्ने) सन् 1981 ई. में प्रकाशित हुई। लेखिका अपनी आत्मकथा पर पुरस्कार भी साहित्य अकादमी द्वारा प्राप्त हुआ।''[77]

तेलुगु स्त्री आत्मकथा

''श्रीमती संगम लक्ष्मीबाई की 'ना जैलु ज्ञापकालू' की आत्मकथा सन् 1955 ई. में प्रकाशित हुई। पहली आत्मकथा 'सत्यवती' द्वारा 'आत्मचरितमु' सन् 1934 ई. में लिखी गई।''[78]

तमिल स्त्री आत्मकथाएँ

तमिल स्त्री द्वारा लिखी गई आत्मकथा ''करुक्कु' का प्रकाशन सन् 1992 ई. में हुआ। मलयालम में 'करुक्कु' का अर्थ ''ताड़ के वृक्ष के पत्तों के डंठलों के दोनों तरफ दोटे-छोटे काले रंग का कँटीला स्थल रहता है। यह आरी की तरह धारयुक्त होने के कारण हमें आसानी से काट कर चोट पहुँचा सकता है। इसी कँटीले भाग को तमिल में करुक्कु कहा जाता है।''[79] इस आत्मकथा में लेखिका ने समाज में फैले ऊँच-नीच तथा जातिवाद के भेदभाव को दर्शाया है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस दलित जाति के शोषण और अन्याय के लिए उसने लिखा वही दलित जाति उसके खिलाफ हो जाती है।

पश्चिमी परम्परा (स्त्री आत्मकथाओं के संदर्भ में)

आत्मकथा शब्द अंग्रेजी के आटोबायेग्राफी (Autobiography) से रूपांतरित हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति दो शब्दों के युग्म से हुई है। आटो (Auto) अर्थात आत्मा, स्व, बायोग्राफी (Biography) - जीवनी, जीवन चरित्र। अर्थात आत्म जीवनी या

आत्मकथा। ''इस शब्द का यानि 'ऑटोबायोग्राफी' का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1796 ई. में जर्मनी के 'हर्डर' ने किया था। फिर यह शब्द ब्रिटेन पहुँचा, जहाँ सर्वप्रथम 'रॉबर्ट साउथे' ने इसका प्रयोग सन् 1809 ई. में किया। तब तक आत्मकथा ऐसी जीवनी मानी जाती थी, जिसे कोई व्यक्ति स्वयं लिखता है।''[80]

''कवि रॉबर्ट साउथे ने सर्वप्रथम पीरिओडिकल क्वाटरली रिव्यू (Periodical Quarterly Review) में सन् 1908 ई. में ऑटोबायोग्राफी शब्द का प्रयोग किया।''[81]

Nature of autobiography आत्मकथा की प्रकृति

प्राचीन समय

The classical period - Apologia, orations, confessions प्राचीन काल में ऐसा लेखन हुआ जिसे अपोलोजिया (क्षमायाचना) शीर्षक दिया गया, जिसमें स्व-न्यायिक एवं स्व प्रमाणित के संकेत मिलते हें। ''जान हेनरी न्युमैन' की आत्मकथा प्रथम प्रकाशित सन् 1864 ई. में हुई जिसका शीर्षक 'अपोलोजिया प्रो. बीटा सुआ' इस परम्परा के संदर्भ में रही।''[82]

पैगेन रिट्रोर लिबेनियस (Pagan rhetor Libanius) ने एक ऐसा संक्षिप्त जीवन चरित्र लिखा जो कि उसकी व्याख्या हो। जो सामान्य न होकर साहित्यिक रूप में थी। ''ऑगस्टाइन ने अपनी आत्मकथात्मक लेखन को 'कन्फेशन' शीर्षक से (सन् 354-430 ई.) लिखा और जीन जेकसरूसो ने इसी शीर्षक को अठारहवीं शताब्दी में प्रयोग कर स्वीकृति पूर्ण और आत्म आलोचनात्मक आत्मकथाओं की शुरूआत की। इसी ऑगस्टाइन की तरह की आत्मकथात्मक लेख 11वीं शताब्दी में 'पीटर एबलर्ड (Peter Abelard) का हिस्टोरिया कैलोमिटेटम (Historia Calomitatum) महत्वपूर्ण रहा।''[83]

आरंभिक आत्मकथाएं

''जहीर उद्दीन मोहम्मद बाबर जो कि मुगल साम्राज्य का संस्थापक था उसकी आत्मकथा प्रकाश में आई। 'बुक ऑफ बाबर' और 'लेटर्स ऑफ बाबर' शीर्षक से सन् 1493 ई. और सन् 1529 ई. में प्रकाशित हुई। इसके बाद पहली प्रसिद्ध जो आत्मकथाएं पुनर्जागरण के अंतर्गत आयी वह एक मूर्तिकार और सुनार बेनवेन्यूटो सेलीनी (Benvenuto Cellini) (सन् 1500-1571 ई.) उसका शीर्षक वीटा (Veta) था। यह इटली के व्यक्ति के जीवन पर आधारित चित्रण था।''[84] ''इसी समय एक दूसरी आत्मकथा 'दे वीटा प्रोप्रिया' प्रकाश में आई जिसे चिकित्सक तथा ज्योतिषी गेरालेमो कारडानो (Geralemo Cardano) द्वारा सन् 1574 ई. में लिखा गया था। आरंभिक आत्मकथाओं में जानी जाने वाली अंग्रेजी की 15वीं शताब्दी की 'बुक ऑफ मार्गेकेम्प' रही। जिसमें रोम के तीर्थस्थल पवित्र स्थान के बारे में वर्णन किया गया है। यह आत्मकथा हस्तलिखित रूप में ही काफी समय तक रही, जिसका प्रकाशन सन् 1936 ई. तक नहीं हो सका। कुछ चर्चित और प्रसिद्ध आत्मकथाएं 17वीं शताब्दी में प्रकाश में आयी जिसमें लार्ड हर्बर्ट की 'चेरबरी' प्रकाशन सन् 1764 ई. में और जॉन बेयांन की 'ग्रेस एबाउंडिंग टू द चीफ ऑफ सीनर्स' जिसका प्रकाशन सन् 1666 ई. में हुआ।''[85]

संस्मरण

आत्मकथा और एक संस्मरण में चरित्र का बहुत थोड़ा ही अंतर होता है। जहाँ एक आत्मकथा में जीवन और समय पर बल दिया जाता है वहाँ संस्मरण में संक्षिप्तता में लेखक के विशेष पक्ष को लेकर उसकी स्मृतियों, भावनाओं और अनुभूतियों को केन्द्रित किया जाता है। संस्मरण प्राय: राजनीतिज्ञों और सैनिकों के द्वारा लिखे और

प्रकाशित होते हैं। एक उदाहरण है - लियोनॉर लोपेज कॉरडोबा (Leonor Lopez Cordoba) (सन् 1362-1420 ई.) जिसे कि स्पैनिश की प्रथम आत्मकथा माना गया। 'द इगिलिश सिविल वार' 'सर एडमंड लोडलो' ''(Sir Edmund Ludlow) और सर जॉन रीसबे (John Reresbay) द्वारा लिखा गया। फ्रेंच में इसी बीच 'कार्डिनियल देरेज' (1614-1679) (Cardinal de Retz) और 'ड्यू दे सेंट सिमोन' (Duc de Saint-Simon) आदि संस्मरण लिखे गये।''[86]

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी

''अठारहवीं शताब्दी में जो आत्मकथाएँ प्रकाश में आयी उनमें अंग्रेजी में एडवर्ड गिब्बन और बेंजामिन फ्रेंकलिन की आत्मकथाएं थी। रूसो की आत्मकथा 'कन्फेशन' और विलियम हजलिट की लिबर एमोरिस (Liber Amoris) की सन् 1823 ई. में प्रकाशित हुई जो लेखक की प्यार भरी जिंदगी की पीड़ादायक गाथा है।''[87]

(1) आत्मकथा के विभिन्न रूप

डायरी, आलोचनात्मक लेख, सर्वसत्तावाद आत्मकथाएँ, सनसनीखेजपूर्ण और प्रसिद्ध व्यक्तियों की आत्मकथाएँ, अप्रसिद्ध आत्मकथाएँ, अवास्तविक आत्मकथाएँ, कथात्मक आत्मकथाएँ।

(1) Versions of the autobiography form

''Diary, Autobiography as critiques of Totalitarianism sensationalist and celebrity autobiographies, Autobiographies of the non-famous, Fake autobiographies, fictional autobiography.''[88]

स्त्री आत्मकथाएं ''पाश्चात्य परम्परा में स्त्री आत्मकथा लेखन का आरंभ इंग्लैंड की मार्गे केम्फ से माना जाता है। सन् 1438 ई. में अंग्रेजी की प्रथम आत्मकथा मार्गे केम्प

के द्वारा 'द बुक ऑफ मार्गे केम्प' शीर्षक से लिखी गयी। इसमें यूरोप और एशिया के स्थलों का तथा विभिन्न पवित्र स्थानों का वर्णन अंकित है।''[89]

हेलेन केलर

''हेलन केलर एक अमेरीकी लेखक राजनैतिक और एक अध्यापक थी। वह पहली बहरी और अंधी महिला थी जिन्हें स्नातक की उपाधि प्राप्त हुई। इनकी आत्मकथा 'द स्टोरी ऑफ माई लाइफ' शीर्षक से सन् 1903 ई. में प्रकाशित हई।''[90]

एवजेनिया एस.जिन्झबर्ग

''एवजेनिया एस. जिन्झबर्ग की आत्मकथा 'इन टू दि बिहर्ल विंड' नाम से सन् 1967 ई. में प्रकाशित हुई। यह रूसी लेखिका का सार्वजनिक जीवन अध्यापिका और पत्रकार के जीवन संघर्ष की कहानी है।''[91]

केट मिलेट

''केट मिलेट एक अमेरिकी स्त्रीवादी कार्यकर्ता और लेखिका रही। वह अपनी प्रसिद्ध बुक सेक्सुअल पालिटिक्स (Sexual Politics) के लिए जानी जाती है। उनकी आत्मकथा 'फ्लाइंग' (Flying) शीर्षक से सन् 1974 ई. में प्रकाशित हई।''[92]

कार्डिनियल मैरी

''कार्डिनियल मैरी एक अल्जेरियन लेखक समीक्षक के रूप में जानी जाती है जिनका विपुल साहित्य और उनमें समाजपयोगी लेखन उनकी प्रतिभा का परिचायक है। उनकी आत्मकथा 'द वड्र्स टू से इट' नाम से सन् 1975 ई. में चर्चा में आयी।''[93]

वीरा फिगनर ''वीरा फिगनर एक रसियन क्रांतिकारी महिला के रूप में जानी गयी। इनकी आत्मकथा सन् 1920 ई. में 'मेमोरिस ऑफ ए रिव्योल्यूनिस्ट' शीर्षक से प्रकाशित हुई।''[94]

एलिस कोलर

''एलिस कोलर की आत्मकथा 'एन अननोन वूमेन' शीर्षक से सन् 1981 ई. में प्रकाशित हुई।[95]

एन. ओकले

''एन. ओकले प्रसिद्ध समाजवादी, स्त्रीवादी और लेखिका रही। इनकी आत्मकथा 'टेकिंग इट लाइक ए वूमेन' शीर्षक से 1984 ई. में प्रकाशित हुई। एन. ओकले प्रोफेसर संस्थापक और निर्देशक के पद पर साइंस रिसर्च यूनिट में रही।''[96]

आत्मकथा प्रणयन के उत्प्रेरण में ऐतिहासिक सामाजिक और सांस्कृतिक कारक विशेष भूमिका निभाते हैं। जहाँ ऐतिहासिक परंपरा हमारे विगत का बोध कराके वर्तमान के संदर्भ में भविष्य के मार्ग को प्रशस्त करने में सहायक होती है। वहीं सामाजिक और सांस्कृतिक कारक घटना विशेष, व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष का आधार या वास्तविक रूप प्रदान करते हैं। क्योंकि साहित्य सृजन की संकल्पना तो समाज पर ही अवलम्बित है। आत्मकथाएँ समाज की निर्मिति हैं तो समाज का वैविध्य व्यक्ति के जीवन होता हुआ आत्माभिव्यक्ति को भी प्रभावित करता है। अपने स्व की अनुभूति और अस्मिता की पहचान ने आत्मकथा विधा की पृष्ठभूमि तैयार की और ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कारकों ने उसे उर्वर बनाया। पश्चिमी सभ्यता के सामाजिक, सांस्कृतिक ढांचे की बुनावट ने वहाँ के व्यक्ति विशेष को जागरूक, बौद्धिक और स्व की पहचान से अवगत कराया। फलस्वरूप 300-400 ई. में ही व्यक्ति के स्व की स्थापना या स्व के बोध का अंकन साहित्य में होने लगा। भारतीय परंपरा के आरंभ में स्व की सत्ता के बजाय उस असीम की सत्ता धर्म, दर्शन, सिद्धांतों को महत्व अधिक दिया गया। जिसके फलस्वरूप सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक भी व्यक्ति विशेष

अपने स्व के प्रति सचेत न हो सका। और ना ही स्व की सत्ता स्थापित कर सका। कालांतर में शनै:-शनै: इस विधा का विकास होता गया।

संदर्भ

1. बृहत हिन्दी कोश - कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, पृ.सं. 123
2. साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार - डॉ. हरिमोहन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1997, पृ.सं. 245
3. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, राधा प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ.सं. 18
4. वही, पृ.सं. 18
5. साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार - डॉ. हरिमोहन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1997, पृ.सं. 245
6. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, राधा प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ.सं. 18
7. साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार - डॉ. हरिमोहन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1997, पृ.सं. 245
8. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, राधा प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ.सं. 20
9. हिन्दी साहित्य कोश- संपा. धीरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 98
10. मानविकी पारिभाषिक कोश - राजकमल प्रकाशन, प्र.सं. 1965, पृ.सं. 29

11. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, राधा प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ.सं. 21
12. वही, पृ.सं. 21
13. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, राधा प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ.सं. 22
14. साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार - डॉ. हरिमोहन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1997, पृ.सं. 247
15. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, राधा प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ.सं. 22
16. हंस आत्मकथा - सं. प्रेमचंद, विश्वविद्यालय वाराणसी प्रकाशन, 1932, पृ.सं. 167
17. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, राधा प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ.सं. 22
18. वही, पृ.सं. 24
19. वही, पृ.सं. 25
20. आत्मकथा की संस्कृति - डॉ. पंकज चतुर्वेदी, वाणी प्रकाशन, प्र.सं. 2003, पृ.सं. 13
21. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, राधा प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ.सं. 42
22. वही, पृ.सं. 43
23. वही, पृ.सं. 44

24. वही, पृ.सं. 45

25. वही, पृ.सं. 47

26. वही, पृ.सं. 48

27. वही, पृ.सं. 66

28. वही, पृ.सं. 167

29. वही, पृ.सं. 169

30. वही, पृ.सं. 169

31. अर्द्धकथानक - सं. नाथूराम प्रेमी, दोहा 668, पृ.सं. 74

32. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, राधा प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ.सं. 185

33. हंस आत्मकथा - सं. प्रेमचंद, विश्वविद्यालय वाराणसी प्रकाशन, 1932, पृ.सं. 163

34. मेरी आत्मकहानी - श्यामसुंदर दास, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, प्र.सं. 1942, पृ.सं. 137

35. हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य - डॉ. कमलेश सिंह, पृ.सं. 125, प्र.सं. 1989, नेशनन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

36. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - विश्वबंधु शास्त्री, पृ.सं. 244, प्र.सं. 1989, राधा प्रकाशन, दिल्ली

37. वही, पृ.सं. 257

38. अपनी खबर - पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, पृ.सं. 101

39. मुड़-मुड़ के देखता हूँ - राजेन्द्र यादव, पृ.सं. IX, प्र.सं. 2001, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
40. प्रतिरोध की संस्कृति : स्त्री आत्मकथाएँ - गरिमा श्रीवास्तव - आलोचना पत्रिका, अंक 35, 2009, संपा. नामवर सिंह, अरुण कमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
41. वही
42. सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी - सं. प्रज्ञा पाठक, पृ.सं. 24, प्र.सं. 2008, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली
43. सांगले ऐका यानी कहती हूँ सुनो : पुष्पा भावे - हंस पत्रिका, अंक 5, पृ.सं. 83, संपा. राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली
44. भारतीय भाषाओं में महिला लेखन - सं. आशा रानी ब्होरा, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2005, पृ.सं. 97
45. वही, पृ.सं. 98
46. The bitter story of a divided self : Womanhood in Marathi women's Autobiography - Anjali Patwardhan Kulkarni, pg.156
47. दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर - विमल थोराट, पृ.सं. 15, प्र.सं. 2005, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली
48. औरत : उत्तर कथा - मल्लिका अमरशेख का आत्मकथा मैं खाक में मिल जाना चाहती हूँ - सं. राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ.सं. 82
49. दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर - विमल थोराट, पृ.सं. 15

50. वही,पृ.सं. 18

51. वही, पृ.सं. 21

52. सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी - सं. प्रज्ञा पाठक, पृ.सं. 23, प्र.सं. 2008, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली

53. प्रतिरोध की संस्कृति : स्त्री आत्मकथाएँ - गरिमा श्रीवास्तव - आलोचना पत्रिका, अंक 35, प्र.सं. 2009, पृ.सं. 98, संपा. नामवर सिंह, अरुण कमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

54. सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी - सं. प्रज्ञा पाठक, पृ.सं. 24, प्र.सं. 2008, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली

55. सार्वजनिक चौराहे पर व्यक्तिगत चेहरे - मैनेजर पाण्डेय, हंस पत्रिका, अंक 12, पृ.सं. 32, सं. राजेन्द्र यादव, जनवरी 2004, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

56. वही, पृ.सं. 45

57. आलो आंधारि - बेबी हलदार, रोशनाई प्रकाशन, कलकत्ता, प्र.सं. 2002, पृ.सं. 59

58. भारतीय लेखिकाओं से साक्षात्कार - रणवीर रांग्रा, पृ.सं. 113, प्र.सं. 1997, जगतराम एंड सन्स, दिल्ली

59. वही, पृ.सं. 117

60. History of Oriya literature - Jatindra Mohan Mohanty, 2006 pg. 675, Sahitya Academy

61. Early women's writing in Orissa 1898-1950 : A lost tradition/Edited by Sachidananda Mohanty, SAGE Publication, New Delhi 2005
62. महिला आत्मकथे गलु : अनुसंधान,सं. सबिहा भूमिगौड़, पृ.सं. 94-95, प्र.सं. 2005, कर्नाटक साहित्य अकादमी, बंगलोर
63. वही, पृ.सं. 96
64. वही, पृ.सं. 97
65. वही, पृ.सं. 98
66. वही, पृ.सं. 98-99
67. वही, पृ.सं. 3
68. हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य - डॉ. कमलेश सिंह, पृ.सं. 225, प्र.सं. 1989, नेशनन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
69. वही, पृ.सं. 228
70. A History of Punjabi literature - Sant Singh Sekhar, Kartar Singh Duggal, pg. 377
71. खानाबदोश आत्मकथांश - अजीत कौर, समकालीन साहित्य समाचार पत्रिका, अंक 4, पृ.सं. 4, संपा. सत्यव्रत, अप्रैल 1997, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली
72. Reform on Nationalist Movement - Kusemawali Deshpandey, Edition 1998, Sahitya Academy, New Delhi

73. अग्निसाक्षी : स्त्री विमर्श का प्रथम उन्मेष - वी.पी. मुहम्मद कुंजमेत्तर, वर्तमान साहित्य पत्रिका, पृ.सं. 9-10, संपा. कुंवर पाल, नमिता सिंह, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
74. महिला आत्मकथे गलु : अनुसंधान,सं. सबिहा भूमिगौड़, पृ.सं. 62, प्र.सं. 2005, कर्नाटक साहित्य अकादमी, बंगलोर
75. वही, पृ.सं. 72
76. वही, पृ.सं. 102
77. भारतीय भाषाओं में महिला लेखन - सं. आशारानी व्होरा, पृ.सं. 136, वर्ष श्री नटराज प्रकाशन
78. बीसवीं सदी का तेलुगु साहित्य - सं. डॉ. विजयराघव रेड्डी, पृ.सं. 151, प्र.सं. 2006, आलेख प्रकाशन, दिल्ली
79. अन्यथा - बामा आत्मकथांश - सं. कृष्ण किशोर, अन्यथा पत्रिका, जून 2008, पृ.सं. 22, 2035 फेज - 1, अरबन इस्टेट, डुमरी, लुधियाना
80. आत्मकथा की संस्कृति - पंकज चतुर्वेदी, पृ.सं. 18, प्र.सं. 2003, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
81. http://en.wikipedia.org/wiki/robertsouthey
82. http://en.wikipedia.org/wiki/autobiography
83. As above
84. As above
85. As above
86. As above

87. As above

88. As above

89. http://en.wikipedia.org/wiki/Margerykempe

90. http://en.wikipedia.org/wiki/Helenkelter

91. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य - विश्वबंधु शास्त्री, पृ.सं. 329, प्र.सं. 1989, राधा प्रकाशन, दिल्ली

92. http://en.wikipedia.org/wiki/katemillett

93. http://en.wikipedia.org/wiki/cardinalmarie

94. http://en.wikipedia.org/wiki/verafigner

95. http://en.wikipedia.org/wiki/alicekoller

96. http://en.wikipedia.org/wiki/annoakley

द्वितीय अध्याय

स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं में अंतर

स्त्री आत्मलेखन को अगर पुरुष द्वारा रचित आत्मलेखन के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो मुख्य तौर से दोनों में भेद, विषय-वस्तु के स्तर पर पाया जाता है। जहाँ पुरुष आत्मकथात्मक लेखन का केन्द्र बिन्दु सही आकार (well formed) सही पूर्णता (well integrated) और पूर्ण रूप से विकसित 'स्व' (Full developed self) पर निर्भर करता है वहीं पर स्त्री आत्म कथात्मक लेखन में नाना प्रकार का वैविध्य इस तथ्य पर निर्भर करता है कि उन्होंने इसको कहाँ से प्राप्त किया तथा उनका दूसरों के साथ कैसा संबंध रहा।

"जीवन की विविध घटनाओं के स्मृति संदर्भ और उनके प्रभाव को स्त्री और पुरुष पर अलग-अलग देखा जा सकता है। नैंसी के. मिलर का मानना है कि पुरुष आसानी से किसी घटना अथवा प्रसंग को विस्मृत करने की क्षमता रखते हैं जबकि स्त्रियाँ स्मृतिजीवी होती हैं, वे आसानी से किसी घटना को भुला नहीं पाती। उदाहरण के तौर पर एक मातृत्व अथवा बलात्कार के जिस अनुभव से रू-ब-रू होती है, उसे वह जीवन भर भुला नहीं पाती। यौन क्रियाओं का प्रभाव शरीर और मन दोनों पर पड़ता है —दोनों ही स्थितियों में स्त्री का शारीरिक दलन-मर्दन होता है। इन घटनाओं के परिणाम-दुष्परिणाम उसे जीवन भर भुगतने पड़ते हैं। और यहीं पर स्त्री और पुरुषों की अभिव्यक्ति शैली विषय का चुनाव और विधागत चुनाव जैसे मुद्दों पर गुणात्मक और मात्रात्मक अंतर दिखाई देने लगता है।"[1]

''पश्चिम में स्त्री और पुरुष आत्मकथाओं में मूलभूत सैद्धांतिक अंतरों को पहचानने की दिशा में लिंडा एच. पीटरसन, नैंसी के. मिलर जैसी स्त्रीवादिनियों ने

गंभीर शोध किये। यह देखा गया कि पुरुष आत्मकथाओं की अपेक्षा स्त्री आत्मकथाओं में लैंगिक पूर्वाग्रह बहुत कम होते हैं।"[2] वहीं स्त्रियों की चेतना में निरंतर बदलाव उनके वैविध्यपूर्ण परिणति के कारण संभवत: होता है। जिसका प्रभाव उनके आत्मलेखन का संरचनात्मक ढाँचा पूरी तरह गुथा हुआ नहीं होता है। अतएव एकात्मता का अभाव खटकता रहता है। प्राय: लेखन में रिक्तता और शून्यता का आभास होता है मानो कि अनसुलझी कोई अधूरी कहानी हो। स्त्री आत्मलेखन का आरंभिक प्रयास एक अस्थायीपन लिए हुए रहा, जिसके कारण अंतिम पहचान कई बार विलंबित जान पड़ती है जो कि आत्मकथा के वजूद को सतही बनाती है।

आधुनिक दृष्टिकोण, शिक्षा ज्ञान और वैचारिक ऊर्जा ने पूर्व की सभी मान्यताओं का खंडन किया है। इस पर मैनेजर पाण्डेय टिप्पणी करते हैं कि "पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी में दलितों और स्त्रियों की जो आत्मकथाएँ आई हैं उन्होंने आत्मकथा लेखन की दृष्टि और दिशा को या कि स्त्री आत्मकथा की संस्कृति को बदल दिया है। दलितों और स्त्रियों की आत्मकथाओं ने इस विधा के लेखन को आत्मबद्धता से मुक्त किया और मैं की केन्द्रीयता से भी। आप कुछ और दलित पुरुषों की आत्मकथाओं के शीर्षकों पर ध्यान दीजिए तो उनमें मैं की केन्द्रीयता स्पष्ट दिखाई देती है। गाँधी की आत्मकथा का नाम है 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग', राहुल जी की आत्मकथा है 'मेरी जीवन यात्रा', सहजानंद सरस्वती की आत्मकथा है 'मेरा जीवन संघर्ष' और राजेन्द्र यादव की आत्मकथा का नाम है 'मुड़-मुड़के देखता हूँ'..... (मैं), अब आप कुछ दलितों और स्त्रियों की आत्मकथाओं के शीर्षकों को देखिए – 'अपने-अपने पिंजरे' (मोहनदास नैमिशराय), 'तिरस्कृत' (सूरजपाल चौहान), 'जूठन' (ओमप्रकाश वाल्मीकि) और 'कस्तूरी कुंडल बसै' (मैत्रेयी पुष्पा)।"[3] यही नहीं जितनी भी दलितों और स्त्रियों द्वारा

रचित आत्मकथाएँ अब तक प्रकाशित हुई है चाहे वह अहिन्दी 'कौशल्या बैसंत्री' की 'दोहरा अभिशाप', तहमीना दुर्रानी की 'मेरे आका' बेबी हालदार की 'आलो आंधारि (अंधकार और रोशनी), दिलीप कौर की 'खानाबदोश' सुशीला राय की 'एक अनपढ़ कहानी' तथा नलिनी जमीला की आत्मकथा 'एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा' हो या हिन्दी में प्रकाशित सीमन्तनी उपदेश, सरला एक विधवा की आत्मजीवनी, रमणिका गुप्ता की 'हादसे', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', प्रभा खेतन की 'अन्या से अनन्या', मैत्रेयी पुष्पा की 'गुड़िया भीतर गुड़िया', चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं दिल मेरा' आदि आत्मकथाएँ आत्मबद्धता और वैयक्तिक केन्द्रीयता का महिमा मंडन करने के बजाय अपने समुदाय के शोषण, संघर्ष, यातना, पीड़ा तथा दमन की अभिव्यक्ति करती है। इन शीर्षकों से अभिव्यंजित अर्थबोध अपनी संपूर्ण सार्थकता को स्पष्ट करते हैं। पुरुष का अहम उसके लेखन को उच्च रखने तथा स्त्री के लेखन को संकुचित मानता है। गीतांजलि श्री कहती हैं कि "सच्ची घटनाओं का ब्यौरा देकर शायद अपनी बात समझा पाऊँ। लेखकगण की जमात है, उन्हीं के साथ की बातें हैं। एक जाने माने पुरुष लेखक ने एक जानी मानी महिला लेखक के आगे उन्हीं के बारे में, उन्हीं के घर में, उन्हें दोस्त मानते हुए ही, वहां कि औरतें क्या 'ऑटोबायोग्राफी' लिखेंगी, जिनका अनुभव घर की चाहरदीवारी तक सीमित है, वही घिसी पिटी बातें होंगी, वही पति सास काण्ड, वही प्रसव प्रसूति गृह इत्यादि?"[4] पूर्वाग्रह युक्त यह उक्ति स्त्रियों के लेखन पर अपनी दृष्टि स्पष्ट करती है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि स्त्रियों की आत्मकथाओं की अपेक्षा पुरुषों की आत्मकथाओं में आत्मबद्धता और मैं का भाव सर्वस्य छाया रहता है जैसा कि मन्नू

भंडारी अपनी आत्मकथा के पूरक प्रसंग शीर्षक में बहुचर्चित साहित्यकार संपादक राजेन्द्र यादव की आत्मकथा 'मुड़-मुड़के देखता हूँ' को आत्मकेन्द्रित कृति मानते हुए कहती हैं कि "आत्मकेन्द्रित आलेखों की जिस बात ने सबसे अधिक मेरा ध्यान खींचा, वह है – घुरा-फिरा कर तरह-तरह से अपने बहुरुपिये होने की आत्मस्वीकृति यों तो हर व्यक्ति के भीतरी और बाहरी दो रूप होते हैं .....किसी व्यक्तित्व के इन दो रूपों में बहुत-बड़ा फासला होता है, इतना कि यदि दोनों को सामने रख दिया जाए तो आप पहचान भी न सकें कि ये एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं और किसी के यहाँ नामालूम – सा फर्क होता है ....राजेन्द्र को तो जैसे इनका 'आब्सेशन' (मनोग्रस्तता) जैसा है.....इनके दोनों रूपों में इतना अंतर है कि इनके बाहरी रूप को जानने वाले कभी विश्वास ही नहीं करेंगे कि इनके बहुत-बहुत भीतरी व्यक्तित्व का एक ऐसा भी हिस्सा है जो बहुत निर्मम कठोर और अमानवीयता की सीमाओं को छूने की हद तक क्रूर भी रहा है और इसकी मार झेली है उन गिने-चुने लोगों ने जो बहुत अंतरंग होकर उनके प्यार की सीमा में होने का भ्रम पालते रहे।"[5] विश्व प्रसिद्ध रूसो की आत्मकथा 'कनफेशन' भी पुरुष दम्भ और मैं की स्थापना से अछूती नहीं है। वह अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभव बताने के साथ-साथ निर्णय भी सुना देता है जबकि यह कार्य तो पाठकगण के खाते में आता है। वह उद्घोषणा करता है कि यदि पाठकगण, श्रोतागण मेरी आत्मकथा पढ़ने के पश्चात मुझसे भिन्न मत रखते हैं तो वह सब मिथ्या है। ''मैंने सच त्रि सच है। अगर कोई व्यक्ति मैंने जो कुछ लिखा है उसके विपरीत कुछ सुनता है, तो वह सब झूठ है। ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह मेरी बातों से सुनी हुई बातों की तुलना करे और वह भी तब जब तक मैं जिंदा हूँ। अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह न तो न्याय का मित्र है, न सच का। मैं बिना किसी भय के यह घोषणा करता हूँ कि अगर

कोई व्यक्ति मेरे स्वभाव, चरित्र, व्यवहार और आदतों को ठीक से जाने बिना मुझे बेइमान कहता है तो वह स्वयं बेइमान है और उसकी बातों पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है।"[6]

आत्ममोह और आत्मप्रशंसा की झलक हरिवंश राय बच्चन की कृति 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में जब अपनी आत्म लेखन की प्रेरक शक्ति फ्राँस के लेखक मानतेन के आत्मलेखन से प्राप्त बताते हैं और कहते हैं कि "पाठकों, यह किताब ईमानदारी के साथ लिखी गई है। मैं आपको पहले से ही आगाह कर दूँ कि इसके लिखने में मेरा एकमात्र लक्ष्य घरेलू अथवा निजी रहा है। इसके द्वारा परसेवा अथवा आत्मश्लाघा का कोई विचार मेरे मन में नहीं है। ऐसा ध्येय मेरी क्षमता से परे है। इसे मैंने अपने संबंधियों तथा मित्रों के व्यक्तिगत उपयोग के लिए तैयार किया है कि जब मैं न रहूँ तब वे इन पृष्ठों से मेरे गुण-स्वभाव के कुछ चित्र संचित कर सके और इस प्रकार जिस रूप में उन्होंने मुझे जाना है उससे अधिक समय और सजीव रूप में वे मुझे अपनी स्मृति में रख सके।"[7]

बच्चन का यह कथन मरणोपरांत भी आत्मयश की लालसा स्वीकारोक्ति से मुक्त है क्या? इसी तरह के भावों को स्पर्श करती हुई डॉ. रामविलास शर्मा की आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' पर आलोचित टिप्पणी करते हुए मधुरेश कहते हैं कि "तीन खंडों में विभाजित रामविलास शर्मा की यह आत्मकथा उस आत्ममुगधता से काफी कुछ मुक्त है जिसकी शिकार हिंदी में बच्चन से लेकर हंसराज रहबर तक की आत्मकथाएँ रही हैं। उनकी इस आत्मकथा का मुख्य शीर्षक अपनी धरती अपने लोग ही कैसी भी आत्ममुग्धता से बचाव का उपक्रम जैसा लग सकता है।"[8]

और अगर आप स्त्री आत्मकथात्मक लेखन पर दृष्टि डालें तो बिल्कुल भिन्नता बोध होता है। चन्द्र किरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' के शीर्षक को विश्लेषित करते हुए गोपालराय का कथन कि "अपनी हाल में ही प्रकाशित आत्मकथा में उन्होंने खुद को पिंजरे की मैना कहा है। लगता है इस रूपक में उन्होंने अपने जीवन का सारा दर्द उड़ेल कर रख दिया है। इस रूपक का पिंजरा समाज का है, पति का है, परिवार का है, समकालीन हिंदी आलोचना का है और मैना वे खुद हैं।"[9]

अपने शीर्षात्मक अर्थ व्यंजना को व्यक्त करती पद्मा सचदेव की आत्मकथा बूँद-बावड़ी के लिए अनामिका संकेत करती हैं कि "बूँद बावड़ी बायो-माइथोग्राफी तो नहीं है पर राजनीतिक उथल-पुथल से भरे एक प्रदेश की सांस्कृतिक गरिमा और पुरजुनून ठस्से गीतों भरी कहानी जरूर है। एक बूँद के बहाने पूरी बावड़ी की कथा।"[10]

इस प्रकार हम पाते हैं कि स्त्री का जीवन विविध आयामों में ही नहीं अपितु अपने रचनाओं और आत्मलेखन में भी यही विविधता व्याप्त रहती है। इस विविधता के बावजूद वे अपने समुदाय को अपने आत्मलेखन से जोड़ती हैं और दिशा प्रदान करती हैं। स्त्री अपने जीवन को तीन स्थितियों में प्रस्तुत करती है –

अ. **सामाजिक आत्म (स्व)** - इसमें स्त्री अपने आपको लोक छवि में प्रस्तुत करती है। वो अपने आपको आमतौर पर समाज से जोड़े रखती है, प्राय: अधिकतर बेटी, बहन, पत्नी या फिर कहीं जब वो किसी हैसियत से कुछ काम कर रही होती है वहाँ अपनी पहचान को वैयक्तिक रूप से या फिर कोई सामाजिक कार्य हेतु। इस प्रकार स्वत: ही उनके अस्तित्व का बाह्य रूप दृष्टिगोचर होता है।

आ. **पारिवारिक आत्म** - इसमें कभी न सुलझने वाला उनका पारिवारिक संबंध जिसमें वो अपने भाई-बहनों, पति-ससुराल, बच्चों और रिश्तेदारों से जुड़ी रहती

हैं। दूसरे कभी वो अपने आपको बाहरी लोगों के नजरियों से अपने आपको आंकती है या स्वयं का मूल्यांकन करती है कि जो संबंध उसका परिवार से जुड़ा है उसको वह पूर्ण रूप से निभा रही है कि नहीं। वह दूसरे की अपेक्षाओं के अनुरूप कितनी सफल हो पायी है? स्त्रियों द्वारा निभाये गये पारिवारिक दायित्व उनके जीवन का अधिकांश भाग ग्रहण कर लेते हैं। जैसा कि "स्त्रियां अक्सर संबंधों को आत्मकथ्यों में महत्वपूर्ण स्थान देती हैं लिंडा पीटरसन ने स्त्री आत्मकथाओं में संबंधत्व को खोजने की सिफारिश की संबंधत्व की दृष्टि से देखने पर स्त्री के पाठ की दृष्टि में अंतर आया। स्त्रियां किसी पुरुष लेखक की अपेक्षा संबंधों की जटिलता, कटुता, मृदुता, सफलता-असफलता किसी विशिष्ट समूह या किसी व्यक्ति विशेष से संबंधों के तनाव या लगाव का उद्घाटन और उसके कारणों के विश्लेषण में ज्यादा दिलचस्पी लेती है। उनके यहाँ माता-पिता, भाई-बहन, पति-प्रेमी या मित्र के साथ संबंधों के तनाव और द्वंद्व या यों कह लें कि उन प्रसंगों को पर्याप्त वर्णनात्मक के साथ जगह मिलती है, जिनमें भिन्न सामाजिक संरचनाओं से आए हुए लोगों के साथ संपर्क-अलगाव और विलगाव होता है। ठीक इसके विपरीत अधिकतर पुरुष आत्मकथाएं स्वयं पर केन्द्रित रहती हैं उनमें उन्हीं विशिष्टताओं का चित्रण होता है, जो उसे दूसरों से अलगाती हैं उसका वैशिष्ट्य निरूपित करती हैं। वह आत्मकथाओं में शारीरिक चुनौतियों का सामना संघर्ष और आत्मविश्वास निर्माण की प्रक्रिया का चित्रण करते हैं। संबंधों के अलगाव-विलगाव का दायरा अक्सर पिता-भाई तथा पुरुष मित्रों तक सीमित रहता है। नैंसी चोदोरोव मूल स्त्रीत्व को वैश्विक मानती हैं, जबकि पुरुष भाव को उससे पृथक।"[11] प्रकृति प्रदत्त गुण स्त्री को पुरुषों की तुलना में

विशिष्टता दिलाते हैं। सिमोन द बोउवार कहती हैं कि ''त्याग की भावनाएँ स्त्री को सहिष्णु बनाती हैं। इस विशेष गुण के लिए स्त्री की प्रशंसा सदा की जाती रही है। वह पुरुष से अधिक शारीरिक पीड़ा बर्दाश्त कर सकती है। उसमें सहनशक्ति, संयम और साहस की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। पुरुष की तरह वह उद्धत और आक्रामक नहीं होती। स्त्री के शांत प्रतिरोध में उसकी दृढ़ता और धीरता का परिचय मिलता है। वह पुरुषों से अधिक साहस के साथ गरीबी, दुर्भाग्य और जटिलता का मुकाबला करती है। चाहे आपत्ति का समय कितना ही लम्बा क्यों न हो, स्त्री का संयम नहीं टूटता।''[12]

इ. **स्त्री का निजी आत्म (स्व)** यह आत्म उनकी चेतना की गहराई में विद्यमान रहता है। कभी-कभी वह अपने आपको खोजने-जूझने व पहचानने में सफल रहती है। कभी असफल पाती है। अपने आपको पहचानने में आत्मानुभूति गलत भी सिद्ध होती है। इस निजी 'स्व' को अपने आत्मलेखन में अभिव्यक्त करने के लिए इसे ग्रहण करना, समझना, आंकना एवं आदर करना यद्यपि बहुत महत्वपूर्ण है तथापि यह आत्मलेखन में प्राय: कम ही पाया जाता है या यों कहें कि यह आत्म एक तो विश्लेषित नहीं हो पाती दूसरे अत्यंत कठिन कार्य है। जबकि इस निजत्व की खोज अति महत्वपूर्ण है अपने आपको जानने के लिए, परिभाषित करने के लिए जो कि सामाजिक 'स्व' के विरोधाभास में खड़ा रहता है। अगर निजत्व को आत्मलेखन में अधिक स्थान या अतिरेक मिला तो सामाजिक 'स्व' की मर्यादा का उल्लंघन होगा। जैसा कि मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि –"जो व्यक्ति अकेला, निरावरण, सहज और साधारण होने का सुख और महत्व को नहीं जानता वह अच्छी आत्मकथा नहीं लिख सकता। इसका अर्थ

आत्मा की स्वायत्तता के नाम पर आत्यंतिक व्यक्ति की वकालत करना नहीं है और न ही वैयक्तिकता की बलि-वेदी पर सामाजिकता का बलिदान करना है। इसका मतलब केवल यह है कि अपनी सामाजिक छवि की चिंता के अतिरेक के कारण व्यक्तिगत और निजी के महत्व को आत्मकथा का लेखक अस्वीकार न करे तो भी आत्मकथा में आत्म का नैतिक विश्लेषण संभव होता है और अपनी दुविधाओं की अभिव्यक्ति भी हो पाती है।"[13]

आत्मकथा लेखन के सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक कारण

एक स्त्री की जन्म की अवधारणा ही उसे जन्म से लेकर मरणोपरांत तक अनेक वर्जनाओं और बंधनों में जीने के लिए बाध्य करती है। हंसना-रोना, सोना-खाना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, पढ़ना-लिखना, खेलना-कूदना यहाँ तक कि शारीरिक क्रियाकलापों से लेकर रहन-सहन के ढंग पर भी अनेक बंदिशें आरोपित की जाती है जो संस्कारवश ग्राह्य कर स्त्री उसे अपने जीवन का अंग मान लेती है। "कभी उसे पति परमेश्वर की लाश के साथ सती होकर अपने जीवन की आहूति देनी होती है, कभी ड्रेस कोड के अंतर्गत जींस पहनने पर पाबंदी झेलनी पड़ती हैं तो कभी तालिबानी नियम के अंतर्गत बुरके की सियाह कैद में घुटन होती है। दूसरी तरफ जब बाजार की चीज बनकर माल बेचना होता है तो उसे नंगा हो जाना पड़ता है। अब तो जन्म लेने का अधिकार भी मादा भ्रूण हत्या की मशीनों ने छीन लिया है, इन दुर्गम रास्तों से गुजरते हुए जो औरतें पढ़-लिखकर लेखक कवि बनती है, वे औरत के जीवन के इस कठिन सफर को परत-दर-परत खोलती है लगता है यही एक कोना है जो महिला रचनाकारों का अपना है – जहाँ बेबाक होकर वे अपना मनोभाव, अपने हर्ष-उल्लास अपनी आकांक्षा व पीड़ा को व्यक्त कर सकती है।"[14]

यदि हम वैदिक युग पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि इस समय स्त्रियों की दशा इतनी शोचनीय, दयनीय नहीं थी – जिसमें उन्हें स्वयंवर का चुनाव, बहु-विवाह, आखेट पर जाना, युद्ध में जाना, यज्ञशाला में बैठना आदि सामाजिक और पारिवारिक गतिविधियां उसे पुरुषों के समतुल्य रखते हैं। परन्तु यह एक सामान्य स्त्री की वास्तविक जिंदगी से कोसो दूर की कहानी लगती है। बल्कि प्रभुता और प्रतिष्ठा संपन्न पुरुषों ने यह स्वतंत्रता अपनी प्रतिष्ठात्मक स्थिति, प्रसिद्धि तथा यशोगान के लिए अपनी सुविधानुसार स्वार्थ पूर्ति हेतु रचे-गढ़े थे। "एकदम शुरू से ही स्त्री को हमारा देखना, चेतन और अचेतन रूप से ऐसी पूर्व धारणाओं के कारण एकांगी होता है, जिन्हें गढ़ने से हम बच नहीं पाते और यह जान नहीं पाते कि वे कब गढ़ी गयीं।"[15] अर्थात् पुरुषों ने सित्रयों के लिए जो सीमाएँ निर्धारित की उनमें स्त्रियों की सहभागिता या स्वीकृति कहीं भी स्पष्ट नहीं थी। बल्कि उनके लिए उन सीमाओं का निर्वाह और उल्लंघन करने की सख्त मनाही थी। स्त्रियों की योग्यताओं और क्षमताओं का पुरुषों की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। जान स्टुअर्ट मिल कहते हें कि "विविध सामाजिक क्षेत्रों में स्त्रियों की रुचि और क्षमता को कभी परखा नहीं गया; पीढ़ी-दर-पीढ़ी घरेलू कामों के लिए उन्हें तैयार किया गया और बाहरी क्षेत्रों में रुचि तक के विरूद्ध तमाम सामाजिक सांस्कृतिक वर्जनाएँ आरोपित करके उनकी चेतना को अनुकूलित कर दिया गया है। सच तो यह है कि पुरुष अपने परिवार की स्त्री तक के चरित्र और स्वभाव को तो जान सकता है, पर उसकी योग्यता को नहीं। स्त्रियाँ अपने मालिक से वफादारी और सेवा का रिश्ता निभाते हुए भी अपने बारे में कभी नहीं खुलती।"[16]

इतिहास साक्ष्य है कि स्त्रियों पर शासन या दबाव स्थापित करने की पुरुषों द्वारा सोची समझी रणनीति ने स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास होने ही नहीं दिया गया।

यदि स्त्री प्रयत्न करती तो दबाव और बढ़ जाता। सर्वविदित है कि अत्यधिक दबाव की परिणति में दो ही प्रतिक्रियाएँ उभरती हैं या तो विद्रोह और या तो शांति। सशक्त वर्ग विद्रोह और कमजोर वर्ग शांत हो जाएगा, परन्तु स्मृति में रहे शांत होगा, समाप्त नहीं। शनै:-शनै: स्त्रियों ने पुरुष के अधीन रहना आत्मसात कर लिया। जगदीश्वर चतुर्वेदी कहते हैं कि "स्त्री के चेतना या दृष्टि पुरुष से स्वतंत्र ही नहीं भिन्न भी होती है। यहां तक कि स्त्री दृष्टि का पुरुष दृष्टि से कोई सामंजस्य नहीं है, अपितु, विरोध भाव है, सामजिक जीवन में दोनों के हितों एवं लक्ष्यों में सीधा एवं तीखा अंतर्विरोध है। दोनों मानव समाज के अंश हैं किंतु दोनों को समान रूप से जीने, बड़े होने, संस्कार हासिल करने, निजी इच्छा एवं आकांक्षाओं को पूरा करने की सैकड़ों वर्षों से समाज ने कभी अवसर ही नहीं दिया। सृजन के समस्त क्षेत्रों से सचेत रूप से स्त्रियों को बेदखल किया गया। इतिहास से गायब किया गया और ऐसा परिवेश एवं ज्ञान का दबदबा पैदा किया गया जो पुरुषमय था और पुरुषमय है। समाज का पुरुषमय हो जाना, संस्कृति एवं साहित्य का पुरुषमय हो जाना, अंतत: इस बात का प्रतीक है कि स्त्री एवं पुरुष को समान रूप से मानवीय प्राणी के रूप में देखने का अभ्यास ही छोड़ दिया और जब अभ्यास ही छोड़ दिया तो पुरुष का था, पुरुष रचित था, पुरुष दृष्टिकोण था उसे ही स्त्री को समझा दिया और कहा कि यही उसका है, अत: स्त्रियों में अभी भी स्वतंत्र स्त्री दृष्टि एवं स्त्री लेखन की कोटि अभी भी सर्वस्वीकृत नहीं बन पाई है।"[17] सदियों से चली आ रही परंपरा को पोषित करने में स्त्रियों के अपना स्व विगलित हो जाता है। उनकी इच्छा, स्वतंत्रता, सोच सभी कुछ घर-परिवार या अधिक से अधिक समाज तक सीमित होकर रह जाता है। कहने बोलने की मनाही है। धीरे-धीरे एक स्थिति ऐसी आती है कि वह सोचने लगती है कि वह अनावश्यक वस्तु है और कुंठा जन्म लेती है और आरंभ

होती है अपने को आवश्यक समझने, बनाने और स्थापित करने की प्रक्रिया। ''जन्म की सार्थकता और पूर्णता के बावजूद बेटी, पत्नी और माँ की तयशुदा भूमिकाएं औरतों को मात्र 'नथिंगनेस' तक ले जाती है। विशेषकर तब, जब वहाँ अपने प्रति विचार करने या अपनी भूमिकाओं के प्रति प्रश्न उठाने की कोई अनुमति नहीं हो। ऐसे में संसार 'अर्थहीन' हो जाता है और शून्य हर कदम पर हांट करता रहता है। यही कारण है कि यह एक वाक्य लेखिका को बार-बार घेर लेता है, समय और इतिहास गवाह है कि रानियाँ महारानियाँ, बेगमात या तथाकथित बड़े लोगों की पत्नियाँ, उद्योगपतियों की बीवियाँ अपनी जीवन संध्या तक आते-आते बहुत सामान्य या नॉर्मल नहीं रह पाती। आगे वह कहते हैं कि पति और परिवार से अलग पहचान और अपने होने का अर्थ ढूंढ़ती प्रतिभाओं को ऐसे मोड़ पर आकर लगने लगता है, जैसे सारा जीवन व्यर्थ हो गया, लेकिन जो भी शेष बचा है, उसे और नष्ट न होने देने का संकल्प ही है, जो अभी तक बहुत सी लेखिकाओं की अभिव्यक्ति को शब्द देता रहा है।''[18] इस पर भी अगर किसी स्त्री ने अपने ज्ञान चिंतन, जिज्ञासावश पुरुष के अहम् को तनिक भी आघात पहुंचाया, तो उसे उसका दंड तुरंत चुकाना पड़ा है। “शास्त्रों में बहुतेरे घोषित और अघोषित मूल्य ऐसे जरूर रहे होंगे या छिपी हुई चिंतन प्रणाली जरूर रही होगी कि ऐतिहासिक विकास के दौरान स्त्री को अंतत: हमेशा के लिए एक हीनतर स्थिति में परिणम कर दिया गया। दार्शनिक सोच और चिंतन के परिणामस्वरूप स्त्री विशिष्ट रूप से एक अलग वर्ण, जाति और संस्कृति की बुनावट बनी। याज्ञवल्क्य के उदारवादी दृष्टिकोण के बावजूद गार्गी द्वारा नारीवादी चुनौती अंतत: महज एक सामाजिक और ज्ञान-संबंधी-विविधता का परिचय भर ही देती है। गार्गी के प्रश्नों की मौलिकता तथा ज्ञान-पिपासा हमें झकझोरती तो है, मगर अंतत: प्रकट रूप से अपने व्यवहार जगत

की यथास्थिति के बचाव में याज्ञवल्क्य का गार्गी से यह कहना कि बस गार्गी प्रश्नों की अति हो गई, अब और नहीं वरना तुम्हारा सर काट दिया जाएगा।"[19] अग्रसर होने की प्रक्रिया, शेष नष्ट न होने की प्रक्रिया ने रूढ़िगत परंपरा को पीछे धकेला ही है यदि केवल परंपरा का निर्वहन किया जाएगा तो विकास की गति और सामाजिक प्रतिष्ठा व्यक्तिगत पहचान सब कुछ अवरूद्ध हो जाएगा। स्त्री अपनी परंपरागत छवि को तोड़कर दूसरी पीढ़ी के लिए प्रेरणात्मक ठोस भूमि तैयार कर रही है। वास्तविकता प्रस्तुति आगाह करने की ध्वनि भी व्यंजित कर रही है। ''इस अर्जन में प्राय: परंपरागत स्वीकृत और समर्थित के प्रति एक अवज्ञा घुली रहती है। अर्जन की सामर्थ्य इस अवज्ञा की हद को भी तय करती है। परंपरा जहाँ तक लाती है; ठीक उस जगह से अगला कदम उठाने के लिए भी पिछले की अवज्ञा जरूरी है। लेकिन परंपरा ही उस अवज्ञा के लिए स्वीकृति की एक सहज मानसिकता भी तैयार कर देती है। इसलिए परंपरा का इस तरह टूटना परंपरा की ही अगली कड़ी बनकर उसमें जुड़ता भी है। इस कदम का रचनाकार अपने समय के पाठकों में सहज स्वीकृति पाता है, क्योंकि अक्सर वह उनके मन की बात कह रहा होता है।''[20]

परम्परागत स्थितियां यथास्थिति में ही थोड़े-बहुत उथल-पुथल के साथ बनी रहीं। स्त्रियों को जिज्ञासाओं को जानने (शांत), इच्छाओं को व्यक्त करने तथा अनुभवों को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता एक कोरी कल्पना ही रही। "पुराने समाज में जब नारी के लिए ज्ञान अर्जित करना असंभव था, सार्वजनिक फलक पर वह अनुपस्थित थी घर के बरामदे में आना या उसकी आवाज का बाहर के कमरे तक सुनाई देना, अनुचित समझा जाता था, उस समय की उसकी भावनाएँ, काम करते समय गीतों की गुनगुनाहट में या त्यौहारों और समारोहों में व्यक्त होती थी। मौखिक परंपरा से चलते

आये इन गीतों में केवल नारी के आत्माविष्कार के अवशेष ही नहीं वरन् उसके इतिहास को देखने या मिथकों का अर्थ स्पष्ट करने की एक विशेष महिलापरक दृष्टि भी दिखाई पड़ती है।"[21]

आत्माभिव्यक्ति की छटपटाहट और समाज के विभिन्न अंकुश दो बिन्दु है जिनके बीच का द्वंद्व ही आत्मकथा लेखन को उत्प्रेरित करता है। जो कहा जाना चाहिए, लेकिन कहा नहीं जा सका। क्योंकि लोकभय, लोक मर्यादा एवं सहज करुणा भाव स्त्रीजन्य तत्व उनके पथ के कंटक बन जाते थे।और स्त्रियों को रहने पर विवश करते रहे। भारतीय इतिहास में भक्तिकाल का समय ही ऐसा रहा जिसमें सर्वप्रथम प्राय: पूरे देश की लगभग सभी भाषाओं में स्त्री चेतना का प्रबल विस्फोट हुआ। "आज भी याद है जब मेरी समझ से भक्ति रंग में रंगी हुई मीरा (जैसा कि हम पढ़ते आए थे) का क्रांतिकारी रूप उन्होंने मेरे सामने रखा था तो मैं सचमुच चकित रह गई थी। सच ही तो है, राजस्थान के राजमहलों में, जहाँ स्त्री की ऊँगली तक दिखना वर्जित है – वहाँ साधु-संतों के बीच बैठकर मंजीरे बजाती, नाचती गाती मीरा से भी अधिक कोई क्रांतिकारी हो सकता है भला? आज स्त्री-विमर्श की जद्दोजहद के ढोल-ढमाके तो देखने-सुनने को बहुत मिले लेकिन ऐसा क्रांतिकारी चरित्र तो शायद ही कहीं देखने में आया हो।"[22] उनका ध्येय भले ही पुरुषों की भक्ति का हो सकता है परंतु पारंपरिक बंदिशों को तोड़कर अपना सर्वस्व दांव पर लगाकर स्वतंत्र व्यक्तित्व की आत्माभिव्यक्ति का जो रूप उभर कर सामने आया वह स्मरणीय और विचारणीय है क्योंकि उन्हें अपनी सामाजिक जातिगत स्थितियों के कारण अकथनीय साहस को बटोरना पड़ा होगा। मार्क्सवादी कार्यकर्ता हेल्के सेडर इस पहल को राजनीतिक प्रक्रिया से जोड़ना चाहते हैं। ''स्त्री को पहचान तभी मिलेगी जब वह मंच पर अपने निजी जीवन की

समस्याओं को अभिव्यक्त करे और इसी आधार पर राजनैतिक रूप से एकबद्ध होकर संघर्ष करे।''[23]

भक्ति काल के उपरांत रीतिकालीन व्यवस्था में नारी स्वर विलुप्त ही रहा। भोग-उपभोग, विलासिता वाले विषमता समर्थक नए विश्व विधान में समायोजन, उपभोक्ता के खुले खेल में विज्ञापन, यौन-व्यापार, बाजारिक प्रतिस्पर्धा ने शून्य के अंधकार में ही नारी चेतना गुम होने का अनुमान लगा सकते हैं।

आधुनिक काल में नारी चेतना ने हजारों वर्ष के मौन या मुखर संघर्ष को शिक्षा ज्ञान, वैचारिक उद्वेलनों के कारक स्वरूप स्त्री आत्माभिव्यक्ति को उभारने में महती भूमिका निभायी। जिससे "स्त्रियों का स्वतंत्र व्यावसायिक जीवन आरंभ हुआ। तब स्त्रियां अपने स्वतंत्र अनुभवों के कथन हेतु आत्मकथा लिखने लगी। अपने सुख-दुख के लिए समाज, कुछ प्रवृत्तियों आदि को कारण मानकर उन्हें कटघरे में खड़ा करने का बागी स्वर उनके लेखन में गूंजने लगा। इनमें कुछ लेखिकाओं ने अपना निजी जीवन व्यक्त नकरते हुए अपने कार्य को अभिव्यक्ति दी। ऐसी आत्मकथाओं में स्त्रीत्व का सामाजिक संदर्भ व्यक्त हुआ। गोदावरी परुलेकर की साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित आत्मकथा 'माणूस जेव्हा जागा हो तो' (1970) ऐसी ही कृति है।"[24] अस्मिता और अस्तत्व के इस संघर्ष में स्त्री वाहिनियों ने अहम भूमिका निभाई है। सित्रयों की व्यक्तिगत जातिगत और वर्गगत लड़ाई को व्यापक स्तर तक ले जाकर उनका सामाजीकरण किया है। स्त्रियों के इस संघर्ष को सामाजिक मानदंडों में जाँचा और परखा जा रहा है। ''अब तक स्त्रियाँ जो शारीरिक-मानसिक-सामाजिक यातनाएँ वैयक्तिक विफलता के नाम पर छुप-छुपक रोती हुई झेलती थी, आज उनका सामाजिक-संदर्भीकरण हो चुका है। जीव वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक-भाषा वैज्ञानिक

अनुसंधान हर तरह से प्रमाणित कर चुके हैं कि स्त्रियाँ देह-मन की बनावट में पुरुषों से अलग जरूर है, हीनतर नहीं और उनकी समस्याओं का निदान पुरुष जैसा होने की कोशिश नहीं है -सामाजिक आर्थिक विकास के समान अवसरों की कोशिश है।"[25]

स्त्री के जीवन की जटिलता; जीवन जीने की वैविध्यपूर्ण विवशता, उपेक्षा भाव ही सामाजिक विसंगतियों से टकराने की दृढ़ता को शक्ति देता रहा। "जिन महिलाओं के जीवन में समाज स्वीकृत जीवन-मूल्य है उनकी अभिव्यक्ति आत्मकथा में हुई है – खुलेपन से, लेकिन जिनके जीवन में घटित घटनाओं, यथार्थ को तथाकथित समाज स्वीकृति नहीं है, उन स्त्रियों ने इसकी अभिव्यक्ति को टाला है। आज भी वे एक प्रकार के मानसिक दबाव से ग्रस्त हैं अत: उनके लेखन में दामन बचाकर लिखने की प्रवृत्ति दिखायी देती है।"[26]

उपेक्षित स्त्री जाति अपनी आत्माभिव्यक्ति निरावरण लिखने से तो रोक लेती है परंतु यह मानसिक दबाव उन्हें बेचैन करता रहता है जो वह कहना चाह रही है वह कह नहीं पा रही या नहीं कह सकती। वे यह कहकर अपने को मानसिक पीड़ा से मुक्त कर सकती है यही मुक्ति का भाव उन्हें आत्मकथात्मक लेखन के लिए बाध्य करता है। मानसिक दबाव के साथ-साथ सामाजिक दबाव भी लेखन को प्रेरित करता है। "कई बार यह स्थिति दूसरे प्रकार की होती है। मतलब जीवन के किसी क्षेत्र विशेष में व्यक्ति जब अत्यधिक सफलता प्रापत कर लेता है तब उसकी सफलता के प्रति लोगों में उत्सुकता पैदा हो जाती है और लोग उसे मजबूर करते हैं कि वह अपने जीवन की यशोगाथा लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करे।"[27] आत्मकथा लेखन एक अत्यंत कठिन और चुनौती पूर्ण रचनात्मक प्रयास है। जिसमें मूलत: आत्माभिव्यक्ति की छटपटाहट और उद्वेलन ही आत्मकथा लेखन का केन्द्र बिन्दु हो सकते हैं। स्त्रियों की आत्मकथाएं

वस्तुत: उसके प्रतिरोधी भाव की अभिव्यक्ति है। ''रेने वेलेक और आस्टिन वारेन के शब्दों में व्यक्ति और कृति के बीच संबंध सूत्र पाये जाते हैं, सादृश्य पाये जाते हैं, किंचित गूढ़ समानताएं पायी जाती है और पाये जाते हैं टेढ़े-मेढ़े प्रतिबिंब। कवि की कृति एक मुखौटा हो सकती है, यह एक नाटकीय खेल हो सकती है, परंतु यह अक्सर उसके अपने अनुभवों का खेल होती है, उसके अपने जीवन का खेल।''[28]

इस प्रकार हम देखते हैं कि "आत्मकथा शैली के प्रयोग का सबसे बड़ा कारण तो यही हो सकता है कि लेखिकाओं को कहानी के लिए पुरुष कथा का ढांचा अनुपयुक्त महसूस हुआ हो? अथवा निजी अनुभूतियों को प्रभावी ढंग से आत्मकथा शैली अथवा मैं के जरिए ही व्यक्त किया जा सकता है। इस शैली के माध्यम से कथा में मौजूद पुरुष प्रभुत्व एवं पुरुषवादी वस्तुगतता की धारणा को तोड़ने में मदद मिली। पुरानी कहानी शैली स्त्री की पहचान को पूरी तरह अंतर्भुक्त कर लेती है, निजता का वहाँ लोप हो जाता है जबकि आत्मकथा शैली में लेखिका स्वयं बोलती है।"[29]

स्त्री आत्मकथा लेखन के कारण अनेक हो सकते हैं जैसे – "भारतीय स्त्री की आत्मकथा शैली की यह विशेषता है कि इसमें स्त्री को उसकी जातीय सांस्कृतिक पहचान से विच्छिन्न नहीं किया जाता इसमें स्त्री की जातीय पहचान आकांक्षाओं एवं आशाओं का अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। छोटे-छोटे घटनाक्रमों को वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में जोड़ना और छोटी-छोटी घटनाओं को जोड़कर महाख्यान तैयार करना इसकी केन्द्रीय विशेषता है।"[30] परम्परावादी दृष्टिकोण, सामाजिक अस्वीकृतियां और मानसिक पीड़ा इन तीनों असंगतियों के बीच आत्मकथाएं लेकर स्त्रियां अपने को प्रस्तुत करने में प्रयासरत है। क्योंकि "जन्म की सार्थकता और पूर्णता के बावजूद बेटी, पत्नी और माँ की तयशुदा भूमिकाएं औरतों को मात्र नथिंगनेस तक ले जाती है

विशेषकर तब जब वहाँ अपने प्रति विचार करने या अपनी भूमिकाओं के प्रति विचार करने या अपनी भूमिकाओं के प्रति प्रश्न उठाने की कोई अनुमति नहीं हो। ऐसे में संसार अर्थहीन हो जाता है और शून्य हर कदम पर हांट करता ही रहता है। यही कारण है कि लेखिका एक वाक्य बार-बार घेर लेता है समय और इतिहास गवाह है – रानियों महारानियों, बेगभात या तथाकथित बड़े लोगों की पत्नियां उद्योगपतियों की बीवियां अपनी जीवन संध्या तक आते-आते बहुत सामान्य या नार्मल नहीं रह पाती.....पति और परिवार से अलग पहचान और अपने होने का अर्थ ढूंढ़ती प्रतिभावों को ऐसे मोड़ पर आकर लगता है, ...जैसे सारा जीवन व्यर्थ हो गया, लेकिन जो शेष बचा हुआ है उसे और नष्ट न होने देने का संकल्प ही है जो अभी तक बहुत सी लेखिकाओं की अभिव्यक्ति को शब्द देता है।"[31]

प्रत्येक व्यक्ति का एक मनोमस्तिष्क होता है चाहे वह पुरुष हो या स्त्री। जबकि स्त्रियां अधिक संवेदनशील, करुणामय, अनुभूतिपरक मानसिकता की होती है जो उन्हें जीवन की विशेष या कठिन घटनाओं परिस्थितियों, संताप, वितृष्णाओं को पुरुषों की अपेक्षा अधिक गहराई से अनुभव करती है। यह मनोमस्तिष्क उन्हें सामान्य जीवन जीने नहीं देता, उद्वेलित करता रहता है जिससे उनके अवचेतन में विषाक्त भाव आ जाते हैं। इस विषाक्त मानसिक अवस्था से मुक्त होने के लिए आत्माभिव्यक्ति एक सहज और सरल महत्वपूर्ण माध्यम है इस आत्मलेखन के साथ न्याय होना भिन्न बात है कि वह आत्मलेखनपरक मानदंडों पर खरी उतरती है कि नहीं। लेकिन अंत:मन की उथल-पुथल और वेदना से तो काफी कुछ मुक्ति संभव हो सकती है। ऐसी सामाजिक ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक परंपराओं के संस्कारों की पृष्ठभूमि में से निकलकर अपनी व्यथा-कथा को साथ लिए स्त्रियों की आत्मकथाएँ अलग पहचान और व्यक्तित्व विकास

में सहायक हो सकती है। स्त्री आत्मकथा लेखन और पुरुष आत्मकथा लेखन के वैचारिक दृष्टिकोण को सैद्धांतिक रूप से देखने पर कुछ तथ्य स्पष्ट होते हैं।

1) पुरुष आत्मकथाओं की अपेक्षा स्त्री आत्मकथाओं में लैंगिक पूर्वाग्रह कम होते हैं।
2) पुरुषों की आत्मकथाओं में आत्मबद्धता और मैं की केन्द्रियता अधिक होती है।
3) पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अक्सर संबंध तत्वों को अधिक गंभीरता से अभिव्यक्त करती है।
4) स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा धारा प्रवाह और सुस्पष्ट अभिव्यक्ति करती है।
5) पुरुषों की आत्मकथाओं में यशोगान या उपलब्धि का अंकन होता है जबकि स्त्रियों की आत्मकथाओं में संघर्ष की अभिव्यक्ति होती है।
6) स्त्री आत्मकथाएँ द्वंद्व की परिणति होती है।
7) स्त्रियाँ आत्माभिव्यक्ति के औजार के रूप में आत्मकथा का प्रयोग करती हैं।
8) आत्मकथा लेखन के उत्प्रेरण में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

पुरुष जहाँ अपनी आत्मकथाओं से अहम की तुष्टि और यशोगान की अभिव्यक्ति को प्राथमिकता देते हैं वहीं स्त्रियाँ अपने आत्मकथाओं में संघर्ष और समय विशेष के संदर्भ में रोहिणी अग्रवाल कहती हैं कि "नि:संदेह आत्मकथा पुनरावलोकन के बहाने अपनी संघर्ष यात्रा को थाहने की कोशिश होती है। इस दौरान जिए गए विविध कालखंड स्मारक की तरह एक-दूसरे से विच्छिन्न अलग-अलग खड़े नहीं रहते बल्कि एक दूसरे की संगति में जुड़कर समूचे कालखंड को परिवर्तन और विकास की दृष्टि से आंकने का विवेक देते हैं।"[32] साथ ही स्पष्टीकरण की अभिव्यक्ति को भी महत्व देती

हैं। समस्याओं की उत्पत्ति जीवन में प्रवेश, प्रभावित जीवन, दमन और शोषण फिर संघर्ष और विद्रोह की पूरी प्रक्रिया क्रमानुसार वर्णन किया जाता है और समय विशेष को देखने की नई दृष्टि प्रदान करता है। "मेरे साथ एक ट्रेजडी रही कि जो भी संपादक मुझे मिला, उसने हमेशा मुझे पीछे रखने की ही कोशिश की। हर उपलब्धि उसके खाते में —मेरे खाते में रूटीन और नीरस कार्य। शायद, यह उन लोगों को कांपलेक्स था, जो उनमें यह अहसास जगाता था कि मैं सुरंग न लगा दूं। हालांकि मेरा स्वभाव ऐसा नहीं था, मैं तो स्वयं अपने रास्ते बनाती थी- अपनी मेहनत, लगन और काम के प्रति निष्ठा से, इसलिए अपना दाय प्राप्त करने के लिए मुझे सदैव संघर्ष करना पड़ा।"[33] स्त्रियाँ घर-बाहर, परिवार-समाज, स्वयं-अन्य जीवन से लेकर संबंधों में जीवन पर्यन्त संघर्षीय वातावरण से जूझती रहती हैं। कभी स्वयं के लिए कभी परिवार के लिए कभी समाज के लिए अपने दायित्वों और अधिकारों के स्थायित्व के लिए प्रयत्नरत हैं। जीवन से जुड़े इन्हीं प्रयासों विद्रोह और संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'हादसे' के लिए सुप्रसिद्ध आलोचक चिंतक लेखक राजेन्द्र यादव कहते हैं कि ''इस आत्मकथा को स्त्री के अपने चुनाव की कहानी भी कहा जा सकता है। पटियाला के बड़े मिलिटरी अफसर की जिद्दी और अपने मन का करने वाली लड़की जो अपनी हरकतों से बार-बार बाप और उनके परिवार को असुविधाओं में डालती है, खुली मीटिंगों में उनके सामंती दुमुँहेपन पर प्रहार करती है, विभाजन की त्रासदी झेलती मुस्लिम महिलाओं की आवाज बनकर जवाब माँगती है और फिर अपने मन से क्षत्रिय (राजपूत) परिवार छोड़कर वेद प्रकाश (गुप्ता) से शारी करके बिहार (झारखंड) चली आती है। यहाँ आकर पति से विद्रोह करके मजदूरों-कामगारों के बीच उनके संघर्ष का जीवन चुनती है।''[34]

रूढ़िवादी परंपराएँ और मान्यताएँ स्त्रियों की स्वतंत्रता और समानता के गतिरोधक तत्व हैं। इनके विरूद्ध आवाज उठाना संघर्ष करना नितांत आवश्यक है फिर चाहे वह इनका पोषणकर्ता और शोषणकर्ता अपना हो या पराया। संघर्ष की प्रक्रिया जहाँ उन्हें आर्थिक और सामाजिक आधार प्रदान करती है वहीं आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया मानसिक उद्वेलनों से मुक्ति दिलाने में समर्थ होती है ''स्त्रियाँ अपनी भावनाओं को वे काम करने देती हैं जिनके लिए वे बनी हैं, और इसीलिए मानसिक रूप से पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहती हैं।''[35] आत्मलेखन जहाँ उन्हें मानसिक संत्रास से मुक्त करता है दूसरी तरफ वे नयी सोच के साथ अपने बचाव की भूमिका भी तैयार करती है। आत्माभिव्यक्ति एक ऐसे शस्त्र के रूप में कारगर सिद्ध होती है जिसके द्वारा वह स्वयं के साथ-साथ दूसरों को जागरूक और प्रेरित करती है। तत्कालीन समय में एक व्यक्ति विशेष किस कदर दमित और शोषित हो रहा था या होगा जैसी संभावनाओं के आगाह कराती हैं अवगत कराती हैं। एक ऐसा सुरक्षा कवच बनाने में सक्षम हो रही हैं जिसके द्वारा आने वाले समय में स्त्रियाँ अपनी पहचान अधिकारों के पीछे हो रहे षड्यंत्रों को भली भाँति समझ सके। सुधा सिंह कहती हैं कि ''स्त्री का कविता लिखना या कुछ भी लिखना अपने आप में प्रतिरोधात्मक औजार है।''[36] आगे वही लिखती हैं कि ''स्त्री का लिखना अपने आप में प्रतिरोध को व्यक्त करता है। लिखकर वह विभिन्न मसलों पर अपनी राय, अपना पक्ष जाहिर करती हैं, जो अधिकतर सांस्कृतिक विमर्श के दायरे से अनुपस्थित किया गया पक्ष और राय होती है।'' रमणिका गुप्ता अपनी स्वीकृति से विवाह करना चाहती परन्तु उनके माता-पिता इसके विरोध में रहते हैं और घोषणा कर दी जाती है कि माँ और बेटी में से एक को समाप्त होना होगा। रमणिका मान्यताओं को चुनौती देते हुए कहती हैं कि मैं नहीं माँ

को समाप्त होना होगा क्योंकि वह परंपरा की पोषक है। वह कहती है "मेरी ये बातें परंपरावादी, औचित्यवादी, त्यागवादी और आचरणप्रिय लोगों को अखर सकती है। कटु, अप्रिय और हृदयहीन लग सकती है, जैसे कि लगी भी। उस समय मुझे बहुत अटपटे विशेषणों से विभूषित भी किया गया। वह निर्णायक घड़ी थी। मैं न अड़ती तो शायद मेरी जिंदगी ही कहीं गुम हो गई होती और जो मैं कहना चाहती थी, करना चाहती थी, न कर पाती। उन दिनों परंपराओं को तोड़ना, रूढ़ियों के विपरीत चलना ही मेरा लक्ष्य सा बन गया था। उसे पूरा करने के लिए विद्रोह जरूरी था और विद्रोह में अपनों के विरूद्ध भी हथियार उठाना पड़ सकता है जिसके लिए मैंने स्वयं को तैयार कर रखा था।"[37] स्त्रियां को अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा हेतु संघर्ष का बिगुल बजाना ही होगा, फिर वह संघर्ष लेखन के माध्यम से ही क्यों न व्यक्त हो, क्योंकि सामाजिक संस्थाएँ सार्वजनिक रूप से बोलने और कहने पर तो अंकुश लगाकर बैठा है। ज्यां पाल सार्त्र ने कहा है कि "लेखन केवल लेखन नहीं है, वह कृति है, दुष्ट प्रवृत्तियों के विरूद्ध मनुष्य का जो सतत संघर्ष चल रहा है, उस संघर्ष को लेखन में एक हथियार की तरह उपयोग में लाने की जरूरत को लेखक समझे।"[38] और स्त्रियों ने कलम हाथ में पकड़ी, संघर्ष और यातना दास्तान लिखकर आश्चर्यचकित कर दिया। पढ़ने वाले, सुनने वाले को झकझोरा, अन्य पीड़ित स्त्रियों को सांत्वना मिली, साहस और ऊर्जा का संचार होने लगा। "स्त्री की पारिवारिक तौर पर होने वाली भद्द और उससे उत्पन्न मानसिक भावात्मक संताप से वे समय-समय पर 'हेल्प' नामक संस्था के माध्यम से रु-ब-रु होती हैं। पहले तो वे विभिन्न तरह की आप बीती सुनकर जड़ हो जाती थी। किन्तु अब इसका हथियार की तरह, औजार की तरह इस्तेमाल करती हैं। जब यही कहानियाँ किसी महिला समूह के समक्ष पढ़ी जाती है तो

पीड़ित महिला के आँसू निकल आते और फिर वे अपना मन बाँटने लगती हैं। मन बाँटने पर कई सलाहें आती हैं। और जीने की कोई न कोई उमंग बन ही जाती है। साहित्य की यह सामाजिक पक्षधरता है।''[39] अधिकारों की वंचिता स्त्री का जीवन संघर्षमय और दुविधाओं से ग्रस्त रहता है। वे छोटी से छोटी इच्छा पूर्ति के लिए स्वतंत्र नहीं रहती है। बंधनयुक्त जीवन यातनामय लगने लगता है। यह यातना जब असहनीय हो जाती है तब मानसिक दबाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है इस छटपटाहट और व्याकुलता को कहने की मनाही है और यदि कह भी दिया जाए तो सुनेगा कौन, सुन भी लिया तो उस पर विचार कौन करेगा? मार्ग तो उसे ही खोजना पड़ेगा। वह जो रास्ता अपने लिए चुनती है वह है आत्माभिव्यक्ति का। ''मेरा जीवन भावनाओं का युद्ध बना हुआ है, मेरे मैं व अहं का प्रदर्शन व्यावहारिक दुनिया में नहीं हो सका। सदा मैं रिश्तों व अपनों के दिए अपमान व अवहेलना से बचने के लिए दहशत की घुटन में जीती आई हूँ। मन भर पहना नहीं, घूमा नहीं, जिया नहीं, इसलिए मेरा मैं जीने की जिजीविषा को बचाने हेतु अंदर से इतना उफान लेने लगता है कि उसे मचलते देख संवेदनाओं की सतह चरमरा उठती है और अभिव्यक्ति अनिवार्य होती है।''[40]

लैंगिक विभेद की जड़ें परिवार समाज में इतने गहरे पैठ गई है कि उनकी विच्छेदन सहज नहीं है। पुरुष वर्ग अपने जीवन से जुड़े प्रत्येक क्षेत्र में लैंगिक भेदभाव तो अपनाता ही है साथ ही अपने लेखन और सृजन में भी व्यक्त करता है। जबकि स्त्रियाँ लैंगिक भेदभाव की भोक्ता होते हुए भी समानता की इच्छा से परिपूर्ण रहती हैं ना ही वे अपने जीवन में और ना ही अपने लेखन में विभेदक रेखा खींचती हैं। जो स्त्री विभेदक रेखा खींचती है और इन मान्यताओं को पालती पोषती है वह पुरुष सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है। प्रसिद्ध कवयित्री गगन गिल पुरी के जगन्नाथ मंदिर जाकर

वंशावली पत्रिका में दार जी द्वारा परिवार की स्त्रियों के नाम अनुपलब्ध देखकर आश्चर्यचकित हैं कि दार जी हम बच्चों से इतना स्नेह रखने के बावजूद वंशावली में नाम दर्ज नहीं कराए थे। "वह पंडे से पूछती हैं, क्या इस बही में औरतों की भी एंट्री होती है? वह कहता है, जी हाँ जिसकी मर्जी करवा लो। (चाहे कुत्ते की? मैं सचमुच पूछना चाहती हूँ, पर मेरा गला मारे गुस्से और दु:ख के रूँधा पड़ा है।) अच्छा तो लिखिए। मैं चुन-चुनकर वंशावली दर्ज करवाती हूँ। मायके ससुराल की। इस बार कोई नहीं छूटनी चाहिए। हे जगन्नाथ जी, हम सबको अपने दरबार में हाजिर समझना।"[41] संबंधों की गहराई स्त्रियों के जीवन का मूलाधार है। उनके चेतन अवचेतन दोनों में संबंधों की निकटता स्पष्ट होती है। संबंधों का स्थायीपन उसे जीवंतता तथा सुरक्षाभाव प्रदान करता है। जिसके कारण वह प्रत्येक कठिनाई और वैषम्य की स्थितियों का सामना सहजता से कर सकती है। पुरुष वर्ग जहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा में अपने व्यक्तित्व को रूपायित कर पाते हैं वहीं स्त्रियाँ अपने से जुड़े संबंधों में अपने आपको खोजती है पाती है। "परिवार की बातें औरत पर सैडेटिव का काम करेगी। और सामने वाली सहजता का अनुभव करने लगेगी, अजनबी वातावरण में भी। निश्चित ही यह रामबाण है, केवल स्त्री के लिए। नहीं तो पुरुष से उसके बच्चे और पत्नी के बारे में क्यों नहीं पूछा जाता? उससे पूछा जाता है उसका पेशा, पोजीशन, निवास स्थान।"[42]

जीवन और उससे जुड़े संबंधों को लेकर स्त्री और पुरुष दोनों की वैचारिक दृष्टि में जमीन आसमान का अंतर स्पष्ट होता है। उनकी सोच, व्यवहार और सिद्धांत को व्यक्त करने की अपनी-अपनी भिन्नताएँ हैं। पुरुष जहाँ अपनी सोच, व्यवहार और सिद्धांतों को स्त्रियों पर थोपते हैं वहीं स्त्रियाँ इनसे कोसों दूर रहती है जिसकी उन्हें संभावना भी नहीं रहती वह सब पुरुष कार्यरूपेण अपनाते ही बल्कि स्त्री से अपेक्षा

करते हैं कि वह भी सहमति प्रदान करें। मन्नू भंडारी अपने और राजेन्द्र (पति) के जीवन और परिवार से जुड़े दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं कि ''देखो छत जरूर हमारी एक होगी लेकिन जिंदगियाँ अपनी-अपनी होंगी - बिना -एक दूसरे की जिंदगी में हस्तक्षेप किए बिल्कुल स्वतंत्र, मुक्त और अलग तो मैं तो बिल्कुल अवाक। आधुनिकतम जीवन के इस पैटर्न से मेरा कोई परिचय नहीं था, परिचय तो क्या, दूर-दूर तक इसकी कोई कल्पना तक मेरे मन में नहीं थी। राजेन्द्र ने भी मित्रता के दौरान तो ऐसी किसी बात का कभी कोई संकेत तक नहीं किया था। मैं तो साथ आई थी सब तरह के अलगाव को दूर करके एक हो जाने के लिए, पूरी तरह घुलमिल जाने के लिए।''[43] पुरुष और स्त्री के जन्म की अवधारणा और विकास की प्रक्रिया में पितृसत्ता अपनी विशेष भूमिका निभाती है। जन्म से ही दोनों (लड़की, लड़का) को भिन्न वातावरण, संस्कार, शिक्षा और परंपराओं का निर्वाह कराया जाता है। जिससे उनमें विभेदक की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उनकी मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ उनके भिन्न कार्य क्षेत्रों के रूप में निरूपित होती है। मनोविश्लेषक नैन्सी सोडारो कहती है कि ''प्राक् इडिपल स्तर पर ही लड़के-लड़की की कामना का निर्धारण होता है। पिता को नाराज करके लड़का माँ के साथ रह नहीं सकता। इस मानसिक बाध्यता के कारण अधिकतर पुरुष आत्मनिर्भर और महत्वाकांक्षी हैं जबकि स्त्री परिवार के भरण-पोषण में व्यस्त रहती है। जहाँ पुरुष वैयक्तिकरण के माध्यम से जीता है वहाँ स्त्री संबंधीकरण के माध्यम से जीती है। अपनी माँ से अलगाव के कारण लड़के के मन में लगाव एवं संबंधों की तरावट नहीं। उसका जीवन झूठी सामाजिक, महत्वाकांक्षा, कार्य जगत में दक्षता तथा आपसी होड़ एवं प्रतिस्पर्धा पर आधारित है।''[44]

आत्मकथा प्रणयन जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन है जिसके भीतर घटनाक्रम है जिसके भीतर घटनाक्रम, शोषण, द्वंद्व, विरोध, संघर्ष की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उनका विश्लेषण भी अनिवार्य हो जाता है। लेखक आत्मकथा लिखकर अपने भोगे हुए सच को समाज के समक्ष रखकर दिशानिर्देश देने का प्रयास करता है और स्वयं को मुक्त अनुभव करता है। क्योंकि परिस्थिति विशेष में जब वह सब कुछ झेल रहा होता है तब वह इन सारी प्रक्रियाओं से पीछा नहीं छुड़ा सकता। उसे भोक्ता बनकर समाधान के हेतु परिस्थिति विशेष का सामना करना ही पड़ता है। ''आत्मकथा लिखने की पूरी पक्रिया जीवन की पीड़ाओं, असहसनीयता और तीक्ष्ण अनुभवों से लेखक को पुन: साक्षात्कार करा देती है। स्मृति के साथ तादात्म्य करते हुए नवीन ज्ञान और आकांक्षा से सराबोर व्यक्ति उन अनुभवों को जो उसने अपने जीवन के उस काल खण्ड में जिये, जिसमें वह उनको ठीक से अभिव्यक्त भी करना नहीं जानता था, विरोध करना और विश्लेषण करना तो उस समय दूर की कौड़ी ही रही हो। जब अनेक प्रकार के दायरे और स्वभाव में हिचक उत्पन्न करने वाली रूढ़ियां अपनी पूरी शक्ति के साथ क्रियाशील रही हों तब उन अनुभवों की कटुता की अभिव्यक्ति कहाँ हो पायी थी। ऊपर से एक मलाल यह भी कि उस समय आक्रोश क्यों नहीं आया? व्यक्ति को सालता ही है। तब केवल झेलने की बात ही होती है। परन्तु आत्मकथा लिखते समय उन सब परिस्थितियों से संघर्ष करके जूझने की ऊर्जा को एकत्र करने की रसायनिक क्रिया से भी को सामना करना होता है।''[45] अर्थात् आत्मकथा लेखन उस मानसिक संत्रास से मुक्ति है जो लेखक भोग और जिया है।

आत्मकथाकार की भोगे हुए यथार्थ से मुक्ति की यात्रा निष्कंटक भी नहीं रहती है। क्योंकि लेखक की प्रतिष्ठा परिवार समाज संबंधों पर अवलम्बित रहती है।

आत्मकथा लिखने पर इनके रेशे-रेशे उघड़ेंगे, प्रतिष्ठा दाँव पर लगेगी, खोखलापन दिखने लगेगा जो वांछनीय नहीं रहेगा। एक तरफ तो इनके अवरोध की तलवार घायल करने पर उतारू रहेगी, तो दूसरी तरफ मन की व्याकुलता लेखक को व्यथित करेगी। अंतत: वह सबको दरकिनार कर आत्मकथा लेखन जैसा दुस्साहसी कार्य करने पर विवश हो जाता है/हो जाती है। परंतु खतरा टलता नहीं है। ''असल में आत्मकथा लिखना एक वजनदार कार्य है। इसके लिए लेखक को कठिन स्थिति से गुजरना पड़ता है। अपने जख्मों को कुरेदकर पुराने दर्दों को उभारना होता है इस कठिन प्रक्रिया में स्मृति के ऊपर जब विमर्शात्मक क्षमता का बल लगता है तब अनुभव मात्र ताजे होकर ही सामने नहीं आते, अपितु उन घावों के कारणों और निवारक के बीच द्वंद्व मन में उभरता है जो आत्मकथा के लेखक को कहिए या उसके लेखन को धारदार बना देता है। जब किसी लेखक की जीवन यात्रा बीहड़ जंगल में से होकर गुजरती है, अभाव और कष्ट जिसका पीछा नहीं छोड़ते; साथ ही साथ पग-पग पर उसके संघर्ष को तुच्छताओं से प्रभावित करने वाला धिक्कार आगे-आगे चलकर बेअसर करने का चक्र भी चला रहा हो, तब उसके साहस को दुस्साहस कहकर धिक्कारने वाले भी भीड़ लगाकर खड़े हो सकते हैं।''[46] अर्थात स्त्रियों के लिए आत्मकथा एक टेढ़ी खीर की कहावत चरितार्थ होती है। प्रत्येक पग पर विरोध और प्रताड़ना की अग्नि परीक्षाओं से गुजरने जैसा होगा।

परंपरागत सामाजिक मान्यताएँ और अस्मिता की पहचान स्त्री जीवन के दो ऐसे ध्रुव हैं जो एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं। यदि वह अपने अस्तित्व की पहचान को विकसित करती है तो परंपरागत छवि टूटती है तो उसे परंपरा और समाज के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। यदि वह परंपरागत धारणाओं को संवर्धित करती है तो उसे

आत्मसंघर्ष की प्रक्रिया व्यथित करती है और यदि वह दोनों को साथ लेती है तो उसे मानसिक वेदना की असीम पीड़ा से गुजरना पड़ता है। यही दुविधा उसके लेखन में भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। ''सृजन रचनाकार की अस्मिता की पहचान है। स्त्री लेखन भी उसकी अस्मिता की स्वतंत्र और निजी धारणा है। अस्मिता जो परिवार, धर्म ओर समाज की सीमाओं में बद्ध है। नैतिक वर्जनाओं को तोड़ने की कोशिश और इन सीमाओं से मुक्ति के संघर्ष की अभिव्यक्ति उसके लेखन में हुई है। इस द्वंद्व व संघर्ष की अभिव्यक्ति ही उसकी अस्मिता की स्वीकृति है। सृजन की प्रक्रिया में निजी अनुभव ही व्यापक बन जाता है।''[47] स्त्री आत्मकथात्मक लेखन या तो परिवार या समाज या संबंधों का दायित्वों दुविधाओं के द्वंद्व से उसे सामना करना ही पड़ता है। ''इसका मूल कारण है - सबके अपने-अपने द्वंद्व। मसलन अन्या से अनन्या का द्वंद्व एवं भीतरी गुड़िया का बाहरी द्वंद्व और ऐसा है एक कहानी यह भी में 'भी' का द्वंद्व। पुरुषों में झूठ पाखंड, अत्याचार है - है ही पर वह सब रचना बन जाता है। (मन्नू जी ने स्वयं मुड़-मुड़के देखता हूँ को एक साहित्यिक कृति माना है) और लेखिकाओं का द्वंद्व रचना के आड़े आता है।''[48] लेखिकार स्त्रियां इस अच्छे-बुरे के बीच के द्वंद्व को सहजता से व्यक्त नहीं कर पाती है और सृजनात्मकता कुंठित होती है।

आत्मकथा लेखन आत्माभिव्यक्तियों का एक ऐसा ज्योति पुंज है जिसमें स्त्री अपने जीवन को कृति के साथ-साथ पुन: जीती है और विश्लेषित भी करती है कि कहाँ पर वह सबल और किन क्षणों में उसने आपको कमजोर पाया। अपनी अनुभूतियों की धरोहर आत्मकथा में यह सोचकर निरूपित करती है कि पाठकगण उसके आत्मानुभवों के साथ तादात्म्य स्थापित करे ना कि मनोरंजन और हास-परिहास का विषय बनाएँ। ''स्त्री आत्मकथा में सघन व्यक्तिगत अनुभूतियाँ होती है। जहाँ वह अपनी

जरूरत के मुताबिक कुछ प्रसंग उठाती है, कुछ छोड़ती है, उसे एक सिलसिला देती है, एक तर्क देती है, और जो कहानी है उसे भी कहानी बताती है। और हम पाठक आत्मकथाओं में क्या देखते हैं यही न कि किसने कितने नि:स्वार्थ भाव से काम किया, त्याग किया, छल किया, कितना कबूला कितनी बोल्डनेस दिखायी, कहाँ चुप्पी साधी आदि-आदि। लेकिन उसने जो जिया है, भोगा है और उतने ही साहस के साथ उसे न केवल कागज पर उतारा है बल्कि सबके सामने रखा है उसका क्या उद्देश्य रहा होगा क्या हम कभी इस पर सोच सकते हैं।''[49]

स्त्रियाँ सामाजिक जीवन के द्वंद्व से तो सामना करती है साथ ही साहित्यिक मानदंड भी स्त्री-पुरुष के लेखन की भिन्नता या द्वैय को साथ लेकर चलते हैं। पुरुष की सत्ता साहित्यिक क्षेत्र में भी व्याप्त है क्योंकि साहित्य ही तो व्यक्ति और समाज के संबंधों की अभिव्यक्ति है। वह अपने लेखन में दुविधा नहीं रखते हैं जबकि स्त्रियों का दोयम स्थान उन्हें सदैव संदेहगत रखता है। इसका कारण सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश है जो दोनों से भिन्न-भिन्न संवाद ही नहीं करता बल्कि स्त्रियों को लेकर हेय दृष्टि अपनाता है जिससे स्त्री के विकास की प्रक्रिया अवरूद्ध और द्वंद्वग्रस्त होती चली जाती है। साहित्य लेखन में भी स्त्रियाँ उसकी गुणवत्ता को लेकर पुरुष की तुलना में सशंकित रहती है। ''स्त्री के मन में अपने व्यक्तित्व, अपनी स्वायत्तता और अपने सृजन में विरोध एवं द्वंद्व होता है। स्त्री लेखिका के सामने जो पुरुष अग्रज हैं, वे सत्ता के प्रतीक हैं और अपनी विशिष्टिता के बावजूद भी वे स्त्री के अनुभव और उसकी पहचान को एक लेखक की तरह परिभाषित नहीं कर पाते। जिस प्रकार वे अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को संरचित करते हैं और उस संरचना के दौरान परंपरा से जितने तीखे संघर्ष से वे जूझते हैं, स्त्री वैसा नहीं कर पाती। अत: पुरुष लेखक को जहाँ अपने

पर पड़ने वाले प्रभाव की चिंता होती है, या फिर इस प्रभाव से बचना चाहता है वहीं स्त्री अपने लेखकत्व के प्रति ही आश्वस्त नहीं हो पाती। वह बार-बार सोचती है कि शायद वह और नहीं लिख पाएगी। वह कभी भी मील का पत्थर नहीं हो सकती। कारण ऐसा लेखन कर्म उसे अलगावित करेगा या उसको मिटा देगा।''[50] अर्थात बचपन से आरोपित भिन्न संस्कार आजीवन उसके व्यक्तित्व और सृजन पर हावी रहते हैं। स्त्री जाति की इस भिन्नता को विशिष्ट मानते हुए करौल गिलीगन कहती है कि ''चूँकि स्त्री पुरुष से भिन्न है अत: स्त्री अपनी भिन्नता को ही स्थापित करने की चेष्टा करे, उसकी नैतिकता उसकी भिन्नता पर आधारित होनी चाहिए। बल्कि कई मायनों में उसके सद्गुण, पुरुष के सद्गुणों से ज्यादा साबित होंगे।''[51]

स्त्रियां पुरुषों की तुलना में धाराप्रवाह और सुस्पष्ट आत्मलेखन करती हैं क्योंकि संबंधों की घनिष्ठता तरलता तथा उनको स्वभावगत निश्च्छलता उन्हें किसी घटना या विषय को लेकर धारा प्रवाह बोलने में सहायतार्थ होते हैं। ''विशेष तौर पर लड़कियाँ अपनी समस्याओं को लिखकर अभिव्यक्त करने में विशेष पारंगत होती है।''[52] पुरुषों की भाँति स्त्रियां किसी रणनीति या पूर्व नियोजित योजना के तहत अभिव्यक्त नहीं करती है कि उन्हें अपने विषय को घुमा-फिराकर तोड़-मरोड़ कहने की आवश्यकता पड़े। वह तो वही लिखती है जो उन्हें अन्यों के द्वारा प्राप्त हुआ है। ''एक पुरुष की तुलना में स्त्री अपने जीवन की कथा-व्यथा अधिक सटीक एवं वास्तविक लिख पाती है जबकि सर्जना की मूल प्रक्रिया तो एक सी ही होती है। केवल उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम अलग-अलग होते हैं। रचना का कालातीत बनना ही रचनाकार की निर्वेयक्तिकता कहलाती है, जिसका अर्थ है परिस्थितियों के वैज्ञानिक विलेषण द्वारा अपनी संवेदना की अभिव्यक्ति करना।''[53] परिस्थिति विशेष को लेकर स्त्रियाँ जल्दी

समझौता कर लेती है। आत्मसात करने की क्षमता पुरुषों से अधिक होने के कारण वे प्रत्येक घटना, विषय उनकी संवेदना को छूता है। ''यह बराबर महसूस किया जाता रहा है कि पुरुषों की तुलना में स्त्री में परिवर्तन अधिक द्रुत गति से आता है। केवल उसका बाह्याकार ही नहीं, उसकी सोच और चलन की जल्दी और बेहतर ढंग से बदलता है। उसमें परिस्थिति और समय के अनुरूप अपने को ढालने की क्षमता अधिक होती है। यही है उसकी प्रकृति प्रदत्त क्षमता और विशिष्टता। निस्संदेह विगत दशक का स्त्री स्वर, पहले की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और वयस्क हुआ है।''[54] एक प्रकृति प्रदत्त विशिष्टता ने स्त्री को सहज व सरल बनाया है दूसरे आधुनिकता के प्रवेश ने उसके आत्मविश्वास और व्यक्तिगत पहचान को सशक्त बनाया है यही उसके आत्मलेखन की भिन्नता भी है।

स्त्रियों का आत्मलेखन मात्र सहानुभूति बटोरना या दया का पात्र होना नहीं है बल्कि वे अपनी दु:ख और संताप की कथा-व्यथा को निरावरण लिखने में बड़े साहस और मानसिक पीड़ा की असहनीयता को मुख्य मानती है। जब अनुभूतियाँ नियंत्रण से बाहर हो जाती है तो लिखना विवशता बन जाती है। दिलीप कौर टिवाना कहती है ''मैं अपने लेखन के बारे में क्या कहूँ? शौक है, लिखती हूँ, पर लिखना क्या इतना सहज है? .....फिर भी कहीं कोई बात कचोट जाती है, अभिभूत कर जाती है, प्रेरित कर जाती है, चिंतन के क्षण दे जाती है। उन क्षणों उस अनुभूति से जुड़ जाती हूँ और कलम चल पड़ती है अनुभूति को कागज पर उकेरती हुई।''[55] लेखन की विवशता में मानसिक उद्वेलन मुख्य तत्व है जो शांत रहने नहीं देता। प्रतिभा वर्मा कहती हैं कि ''कभी-कभी कलम की इबारत दे जाती है इसलिए लिखता हूँ। मेरा लेखन भी मेरी इस किस्म की मजबूरी है। विषमताएँ, विसंगतियों मैं न चाहूँ तब भी मुझ तक पहुँचती है

आंदोलित करती है। अंदर का सारा उद्वेलन, सारा आलोड़न मुझे अनायास ही कलम तक पहुँचा देता है और मैं इन्हें शब्द देने की कोशिश करती हूँ।''[56] जीवन की जटिलता और संघर्ष की परिस्थितियाँ लेखन की भूमिका तैयार करने में उपयोगी हो जाते हैं। ''लेखन एक तरह की मजबूरी ही है। विषम परिस्थितियों से संघर्ष करते, जब चुकने लगती हूँ तो अनायास हाथ में लेखनी आ जाती है। बहुत कुछ देखा है, बहुत कुछ भोगा है।''[57] स्त्रियों के आत्म लेखन के उत्प्रेरण में कहीं उनकी प्रेरणा है, कहीं अकेलापन है, कहीं जिंदगी है कहीं दु:ख व शोषण की गाथा है। अत: स्त्री और पुरष के आत्मलेखन में वैचारिक स्तर पर भेद परंपरागत और समाजगत बनाए ढाँचे से उपजता है। दोनों के विकास की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न धरातल की परिणति होती है और यही भिन्नता उनकी आत्माभिव्यक्ति में भी परिलक्षित होती है। परंपरागत रूढ़ियों और सामाजिक बेड़ियों ने स्त्रियों के इतिहास को ही धूमिल कर दिया। अनावश्यक और अतिरिक्त होने की कुंठा उसे सालती है। मानसिक उद्वेलन और सामाजिक उपेक्षा कलम हाथ में उठाने को विवश करती है। स्त्री जो कह नहीं सकी वह अभिव्यक्त कर कह जाती है।

संदर्भ

1. प्रतिरोध की संस्कृति - स्त्री आत्मकथाएँ - डॉ. गरिमा श्रीवास्तव, आलोचना पत्रिका (अंक 35), पृ.सं. 56, संपा. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
2. वही
3. हंस - सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे - मैनेजर पाण्डेय, हंस पत्रिका, अंक 12, पृ.सं 32, संपा. राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

4. नारी लेखन : भारतीय स्त्री का आत्मबोध - गीतांजलि श्री, साक्षात्कार पत्रिका, जुलाई-अगस्त 1996, पृ.सं. 34, संपा. ध्रुव शुक्ल, मध्य प्रदेश साहित्य परिषद

5. एक कहानी यह भी - मन्नू भंडारी 2007, पृ.सं. 214, प्र.सं. 2007,राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

6. सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे - मैनेजर पाण्डेय, हंस पत्रिका, अंक 12, 2004, पृ.सं 31, संपा. राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

7. आत्मकथाकार बच्चन - डॉ. स्नेहलता शर्मा, प्र.सं. 1986, पृ.सं. 194, आर्य बुक डिपो, दिल्ली

8. जादुई झोले जैसी आत्मकथा- मधुरेश, वागार्थ पत्रिका, प्र.सं. 1997, पृ.सं. 101, संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता

9. उड़ गयो फुलवा रह गयी वास - गोपाल राय, समीक्षा पत्रिका, 2009, पृ.सं. 3, संपा. गोपाल राय हरदयाल, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

10. स्त्रीवादी बावड़ी में एक बूँद - अनामिका, 2001, हंस पत्रिका, अंक 4, पृ.सं. 90, संपा. राजेन्द्र यादव,अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली

11. प्रतिरोध की संस्कृति - स्त्री आत्मकथाएँ - डॉ. गरिमा श्रीवास्तव, आलोचना पत्रिका, अंक 35, 2009, संपा. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

12. नागपाश में स्त्री - संपा. गीता श्री, पृ.सं. 20, प्र.सं. 2010, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

13. सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे - मैनेजर पाण्डेय, हंस पत्रिका, अंक 12, पृ.सं. 31, 2004, संपा. राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
14. महिला लेखन और सेंसरशिप - अजंता लोहित, हंस पत्रिका, अंक 4, पृ.सं. 60, 2002, संपा. राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
15. विद्रोही स्त्री - जर्मेन ग्रीयर, अनु. बी. जोशी, पृ.सं. 1, प्र.सं. 2003, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
16. स्त्रियों की पराधीनता - जॉन स्टुअर्ट मिल, अनु. प्रगति सक्सेना, पृ.सं. 28, प्र.सं. 2002, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
17. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श - जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ.सं. 189, प्र.सं. 2002, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली
18. जो सहा नहीं गया - अरविंद जैन, हंस पत्रिका, संपा. राजेन्द्र यादच, जुलाई, 1996, पृ.सं. 77, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
19. स्त्री विमर्श के अंतर्विरोध - प्रभा खेतान, हंस पत्रिका, अंक 1, संपा. राजेन्द्र यादव, 1996, पृ.सं. 59, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
20. रचनात्मक सूत्रों की तलाश में पुनर्यात्रा - अर्चना वर्मा, हंस पत्रिका, अंक 10, संपा. राजेन्द्र यादव, मई 2007, पृ.सं. 83, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
21. सांगते ऐका यानी कहती हूँ सुनो - पुष्पा भावे, हंस पत्रिका, अंक 4, संपा. राजेन्द्र वर्मा, 1995,पृ.सं. 83, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
22. एक कहानी यह भी - मन्नू भंडारी, पृ.सं. 29,प्र.सं. 2007, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

23. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य - सं. राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ.सं. 186, प्र.सं. 2001, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
24. मराठी साहित्य में महिलाओं की आत्मकथाएँ - सरोजनी वैद्य, समकालीन भारतीय साहित्य पत्रिका, वर्ष 1997, पृ.सं. 8, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली
25. स्त्रीवादी बावड़ी में एक बूँद - अनामिका, हंस पत्रिका, संपा. राजेन्द्र यादव, सितम्बर 2001, पृ.सं. 90, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
26. मराठी साहित्य में महिलाओं की आत्मकथाएँ - सरोजनी वैद्य, समकालीन भारतीय साहित्य पत्रिका, वर्ष 1997, पृ.सं. 9, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली
27. मराठी साहित्य में महिलाओं की आत्मकथाएँ - सूर्य नारायण रणसुभे, समकालीन भारतीय साहित्य पत्रिका, वर्ष 1997, पृ.सं. 14, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली
28. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श - जगदीश्वर चतुर्वेदी, प्र.सं. 2002, पपृ.सं. 125, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली
29. वही, पृ.सं. 126
30. वही, पृ.सं. 128
31. जो सहा नहीं गया - अरविंद जैन, हंस पत्रिका, संपा. राजेन्द्र यादव, वर्ष 1996, पृ.सं. 77, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
32. स्त्री जीवन का हाहाकार यानी यह मंदिर का दीप, इसे नीरव जलने दो - रोहिणी अग्रवाल, समीक्षा पत्रिका, अंक 2, संपा. सत्यकाम, जुलाई-सितम्बर 2009, पृ.सं. 15, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली

33. कुछ कही कुछ अनकही - शीला झुनझुनवाला, पृ.सं. 354, प्र.सं. 2000, टी.पी. झुनझुनवाला फाउंडेशन, नई दिल्ली।

34. हादसे - रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 7, प्र.सं. 2005, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

35. बधिया स्त्री - जर्मेन ग्रियर, अनु. बी. मधु जोशी, पृ.सं. 97, वर्ष 2005, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली

36. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ - सुधा सिंह, पृ.सं. 76,प्र.सं. 2008, श्याम बिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया प्रा.लि., नई दिल्ली)

37. हादसे - रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 24,प्र.सं. 2005, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

38. दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर - विमल थोराट, पृ.सं. 50, प्र.सं. 2005, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली

39. स्त्री लेखन और समय के सरोकार - हेमलता महिश्वर, पृ.सं.67, प्र.सं. 2006, नेहा प्रकाशन, नई दिल्ली

40. लगता नहीं दिल मेरा - कृष्णा अग्निहोत्री, पृ.सं. 350,प्र.सं. 2010, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली

41. दिल्ली में उनींदे - गगन गिल, पृ.सं. 104, प्र.सं. 2006, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

42. गुड़िया भीतर गुड़िया - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 169, प्र.सं. 2008, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

43. एक कहानी यह भी - मन्नू भंडारी, पृ.सं. 57,प्र.सं. 2007, राधकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

44. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य - सं. राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ.सं. 187, प्र.सं. 2001, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

45. आत्मकथा ही क्यों? - हरपाल सिंह (अरुष), कथाक्रम पत्रिका, अंक 19, संपा. शैलेन्द्र सागर, जनवरी-मार्च,2004, पृ.सं. 48, 4 ट्रांजिट हॉस्टल, महानगर लखनऊ

46. वही, पृ.सं. 49

47. नारी एक सफर - सं. दिनेश नंदिनी डालमिया, पृ.सं. 40, प्र.स. 2008, ज्ञान भारती, दिल्ली

48. समकालीन भारतीय साहित्य - सत्यदेव त्रिपाठी, जनवरी-फरवरी 2009, संपा. ब्रजेन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 66, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली

49. आत्मकथा के आईने में स्त्री - प्रतिभा मुद्लियार, हिन्दी प्रचार वाणी, जुलाई 2010, पृ.सं. 4, संपा. राधाकृष्ण मूर्ति, बेंगलोर

50. उपनिवेश में स्त्री - प्रभा खेतान, पृ.सं. 97, प्र.सं. 2003, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

51. नागपाश के स्त्री - सं. गीता श्री, पृ.सं. 61, प्र.सं. 2002, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

52. विद्रोही स्त्री - जर्मेन ग्रियर, पृ.सं. 82, प्र.सं. 2005, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

53. नारी एक सफर - सं. दिनेश नंदिनी डालमिया, संतोष गोयल, पृ.सं. 101,प्र.सं. 2008, ज्ञान भारती, दिल्ली

54. वही, पृ.सं. 77

55. चर्चित महिला कथाकारों की कहानियां - सं. दिनेश द्विवेदी, पृ.सं. 213, प्र.सं. 1985, विद्याविहार, नई दिल्ली

56. वही, पृ.सं. 143

57. वही, पृ.सं. 92

तीसरा अध्याय

पुरुष वर्चस्व का प्रतिरोध और स्त्री अस्मिता के आत्मकथात्मक स्वर

सदियों का मौन जब मुखरित हुआ तभी स्त्री आत्मकथाओं की उपस्थिति का आभास होने लगा। जिस जाति, समाज, धर्म, वर्ग को एक परिधि में रखा गया हो उसका यों अचानक अस्तित्व में आ जाना कोई चमत्कार या वरदान का प्रतिफल नहीं वरन् शनैः-शनैः अपने अस्तित्व को पहचानना तथा कुछ पुरुष वर्चस्व के अपने स्वार्थ के उदारवादी नजरिये का परिणाम था। क्योंकि यह समय की माँग ही नहीं बल्कि विकास की अनिवार्यता भी है। विकास की इस अनिवार्यता ने स्त्रियों के बंधनों को ढीला/लचीला करना आरंभ किया। जाने-माने साहित्यकार डॉ. हरिमोहन की प्रतिक्रिया स्वरूप भी यही परिलक्षित होता है कि ''देश सर्वांगीण एवं तीव्र विकास की चाहत ने स्त्री-पुरुष के बीच लैंगिक भेदभाव और उत्पीड़न का अंत कर महिलाओं के अस्तित्व एवं गरिमा को बनाए रखने तथा पारिवारिक नहीं वरन् समग्र सामाजिक जीवन में प्रत्येक स्तर पर उन्हें सहभागी और सशक्त बनाने की आवश्यकता प्रतिपादित की है।''[1] जहाँ एक तरफ धवन जी विकास के लिए स्त्रियों की सहभागिता और सशक्तिकरण की अनिवार्यता को महत्व देते हैं वहीं दूसरी तरफ यह स्वीकारते हैं कि ''पुरुष वर्ग नहीं चाहता कि समाज में पुरुषों के समान महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन हो एवं पुरुषों की प्रधानता समाप्त हो। यह तथ्य कुछ सीमा तक सही प्रतीत होता, परन्तु पुरुषों का एक प्रभावी वर्ग चाहे वह संख्या में कम हो, यह अवश्य चाहता है कि बदलते सामाजिक मूल्यों के अनुसार स्त्री-पुरुष संबंधों में भी परिवर्तन आना चाहिए।''[2] पुरुषवादी नजरिया भी यह स्वीकार करता है कि स्त्री का आगे बढ़ना उनकी

आवश्यकता का पूरक रहा है। प्रसिद्ध दलित लेखिका और 'कदम' संस्था की संस्थापक रजनी तिलक भी स्वीकारती हैं कि ''भारत में स्त्री मुक्ति आंदोलन का आगमन कई कारणों से हुआ। ब्रिटिश कालीन भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध भारतीय पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी अपनी आजादी के बारे में महसूस करने लगती थी।''[3]

पुरुष वर्चस्व के निर्धारक तत्व पितृसत्ता के संबंध में वह कहती हैं कि ''मनुस्मृति जितनी वर्ण-व्यवस्था की स्थापना करती है उतनी ही पितृसत्ता की भी करती है।''[4] आगे उन्हीं का वक्तव्य है कि ''स्त्रियों के प्रति पितृसत्तात्मक समाज का रवैया सदैव तानाशाहपूर्ण था।''[5] जिस प्रकार पुरुषों का अपनी स्वत: की वैयक्तिक दृष्टि से देखा, सोचा, समझा और लिखा जाता है। स्त्री का होना उसके अपने स्तर की सोच पर निर्भर करता है कि वह उसे कहाँ स्थान दे और कहाँ पर जमीन दिखा दे। उसी तरह स्त्री के स्वत: के संसार में उसके अतिरिकत अन्य सभी पक्षों की उपस्थिति का होना अहम पहलू है। दोनों की सृजनात्मक क्षमता में अंतर उनकी सोच और परिवेश के कारण है। स्त्री-पुरुष की अभिव्यक्तियों को भेदभावपूर्ण दृष्टि से आंका जाना पूर्वग्रसित मानसिकता का ही परिणाम है। स्त्री लेखन महत्वहीन है और पुरुष लेखन महत्वपूर्ण है की धारणा को खंडित करते हुए प्रसिद्ध लेखिका चित्रा मुद्गल के उद्गार ध्यातव्य है ''सिद्धांत रूप से लेखन, लेखन होता है नर मादा नहीं। उसे नर मादा के साँचे में बाँटकर देखने वाली दृष्टि पूर्वग्रस्त है। लेखन जिस तरह पुरुष लेखक की अनुभूति और चेतना की अभिव्यक्ति है, स्त्री लेखक द्वारा लिखा गया लेखन भी उसके विशिष्ट स्वानुभवों और आत्म चेतना की अभिव्यक्ति है। वह इसी समाज में समता के लिए संघर्षरत है, समता की आकांक्षी है। खाँचे में विभाजित कर उसकी चेतना की अभिव्यक्ति को परखने, मूल्यांकित करने का अर्थ होगा उसकी सामाजिक उपस्थिति को

प्रति संसार के रूप में स्वीकृति देना।"[6] स्त्री को उसने अपने भौतिक वैचारिक और सांस्कृतिक वर्चस्व (स्तर) के अनुरूप (महिमा मंडन) कभी समीत्या और कभी अन्या का स्थान दिया। जैसा कि प्रभा खेतान ने कहा है कि "ग्रामशी ने इसे ही Hegemony वर्चस्व की संज्ञा दी और इसे समझना किसी भी समाज के सांस्कृतिक जीवन के लिए अत्यावश्यक माना। यह बात पितृसत्ता पर भी लागू होती है। पुरुष का मूल्यबोध उसका दमन इसलिए भी प्रचलित है क्योंकि पुरुष स्वयं को व्यक्ति विचार व्यवस्था का प्रतीक मानता रहा है, तो स्त्री को अन्या वस्तु, भोग्या, अज्ञेय। अन्या से भिन्न जो कुछ भी पुरुष को मिला उसको संगठित करने का पुरुष ने प्रयास किया, उसका महिमामंडन किया, अन्या के माध्यम से पुरुष ने अपने वर्ग का वर्चस्व स्थापित करने के लिए संस्था, व्यवस्था, जाति और समाज बनाया।"[7]

स्त्री आत्मकथात्मक स्वर अपनी पुरजोर कोशिश में लगा है कि पुरुष के वर्चस्व को नकारकर कैसे अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर अपनी अस्मिता के बचाव और सम्मान को स्थायित्व दिलाने में समर्थ हो सके? परिवर्तन की इस अकल्पनीय घटना पर प्रभा खेतान की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है कि "इतिहास में पहली बार घट रहा है कि स्त्री पितृसत्ता को नकार रही है; उस सत्ता द्वारा आरोपित भूमिकाओं के प्रति सवाल उठा रही है। वह वस्तु से व्यक्ति बनने की प्रक्रिया में है, किन्तु इस प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करने की मुख्य समस्या है कि स्त्री तो स्वयं एकतरल स्थिति में है, उसका जीवन अनन्त संभावनाओं से भरपूर है वह कुछ भी हो सकती है। अत: उसके प्रति हमारे पास कोई ठोस पूर्व निर्धारित जानकारी कैसे होगी। और जब जानकारी नहीं, सबूत नहीं, तो प्रतिनिधित्व का अधिकार पुरुष को कैसे मिलेगा?"[8] जब अधिकार मिला नहीं

तो आरोपित कैसे हो चला? कर्तव्यों के अभाव में अधिकार की संभावना निराधार साबित होगी।

लम्बे अर्से से चली आ रही इस अधिकारिक प्रवृत्ति को चुनौती देती स्त्रियों की आत्माभिव्यक्ति ने पूर्व घोषित मानदंडों के प्रति संदेह और तर्कपूर्ण दृष्टि से सोचने और समझने की प्रक्रिया में प्रभा खेतान की तीखी प्रतिक्रिया ध्यातव्य है ''इतिहास में जब भी किसी एक जाति ने दूसरी जाति को अधिकृत एवं नियंत्रित करने की कोशिश की है तो इसके परिणाम से हम सभी वाकिफ हैं। ऐसी वर्चस्वशाली व्यवस्था में देर-सबेर विद्रोह और उत्पात तो होना ही है। आखिर किस आधार पर एक जाति दूसरी जाति को इतने लम्बे समय तक शोषित करती रही? आखिर पुरुष को स्त्री की तुलना में श्रेष्ठ किसने कहा? कम से कम स्त्री ने तो ऐसी व्यवस्था नहीं चाही।''[9] स्त्री आत्मकथाएँ पुरुष वर्चस्व को यथास्थिति रखने में सहायक तथा पुरुष वर्चस्व के विरूद्ध संघर्ष की पहल है परंतु यह संघर्ष पुरुष विशेष के प्रति न होकर समूची पुरुष सत्तात्मक परंपरा से है जो अनादिकाल से अबाध रूपेण बहती आ रही है। प्रसिद्ध लेखिका प्रभा खेतान कहती है कि ''हम किसी व्यक्ति विशेष पुरुष के खिलाफ नहीं बल्कि इस पुरुष सत्ता के खिलाफ हैं। होल्डरनीन के शब्दों को यदि उधार लूँ तो कहना चाहूँगी कि इस भयानक समय में प्रतिरोध का यह आखिरी क्षण है। यदि अभी नहीं तो कभी नहीं। खामोशी का अर्थ हुआ हमेशा के लिए चूक जाना।''[10] खामोशी का टूटना ही आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। स्त्री अपनी पीड़ा, दु:ख, द्वंद्व को वैदिककाल से ही काव्य और कथा के माध्यम से व्यक्त करती रही, परंतु उस काव्यात्मक और कथात्मक अभिव्यक्ति को उचित और प्रभावी स्थान आत्मकथा विधा में प्राप्त हुआ।

पुरुष सत्ता ने अपना वर्चस्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में रखा और सीमाएँ निर्धारित की, जिनको तोड़ना सहज नहीं था। जानी मानी नारीवादी लेखिका नओमी वुल्फ अपने वक्तवय में कहती है कि "एक टीवी पत्रकार के अनुसार हमें पुरुषों से दुगना-तिगुना काम इसलिए करना पड़ता है कि हम सिद्ध कर सकें कि हम महज सुन्दर और मूर्ख (बिम्बों) नहीं हैं। हमारे पास भी दिमाग है, बुद्धि है और जब यह साबित हो जाता है, तो जाने क्यों, हमारे पुरुष सहकर्मियों को इसे स्वीकारना अपमानजनक लगता है।"[11] पुरुषसत्तात्मक परम्पराओं को चुनौती देती स्त्री आत्मकथाएँ अपने वजूद की तलाश में प्रयत्नरत है। पंजाबी की प्रख्यात कथा लेखिका अजीत कौर अपनी आत्मकथा 'खानाबदोश' में अपनी शर्तों पर अपनी जिंदगी जीने की जिद और ललक में संघर्षरत हैं। उनके एकाकी जीवन में पुरुष वर्चस्व की दखलंदाजी बार-बार आड़े आती है; जब वह घर या मकान तलाश करती है पर उन्हें बार-बार धक्के खाने पड़ते हैं और अजीबोगरीब प्रश्नों का सामना करना पड़ता है जैसे - "आपके हजबैंड क्या करते हैं?

'वह गुजर चुके हैं।'

"ओह! तो अब आप कितने लोग रहेंगे इस घर में?"

"मैं और मेरी एक बेटी। और मेरे पिताजी। वह कभी मेरे पास रहते हैं, कभी मेरे भाई के पास"

"पिताजी क्या करते हैं?

"डॉक्टर हैं।"

"तो आप अपने भाई के पास क्यों नहीं रहती?"

" मैं कसमसाती, मैं इंडिपैंडेंट काम करती हूँ, उसके पास क्यों रहूँ?"[12]

अजीत कौर अपनी जिदंगी आत्मनिर्भर होके जीना चाहती हैं तो पुरुष वर्चस्व उनके जीवन सहज करने के बजाय और अवरोध उत्पन्न करता है। पितृसत्ता ने स्त्रियों के जीवन से लेकर उनकी अभिव्यक्ति को अपने दृष्टिकोण से देखा परखा और अभिव्यक्त किया, उन्हें एक परिधि में समेटकर उनकी प्रतिभा और विलक्षणता पर अंकुश लगा रखा था। वैचारिक प्रतिभा की विलक्षणता को स्पष्ट करती स्त्री आत्मकथाएँ पुरुष वर्चस्व के समक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। रोहणी अग्रवाल के शब्दों में व्यक्त करें तो - ''बीसवीं सदी की शैशवावस्था में साँस लेती 'सीमंतनी उपदेश' की अज्ञात हिन्दू महिला नामक लेखिका विधवा विवाह के समर्थन में न केवल पुरजोर माँग करती है, बल्कि इसकी अनुपस्थिति में समाज की संकीर्णताओं को इसके संजीदा और दूरगामी परिणामों से थर्रा भी देती है। इस अज्ञात लेखिका के पास सरोकार और समझ की जो संपदा है, क्या वह संजय या शिवमूर्ति के पास है? कोरी संवेदना से सिर्फ छद्म सहानुभूति दिखायी जा सकती है।''[13]

स्त्रियों ने पुरुष वर्चस्व को अपनी आत्माभिव्यक्ति के द्वारा यह सोचने पर विवश किया है कि जो पठनीयता में इतना भयावह है वह सहने और भोगने में कितना भयावह होगा? मराठी लेखिका बेबी कांबले की आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति 'जीवन हमारा' उनकी नारकीय, अमानवीय जिंदगी का लेखा-जोखा है। ''अब बाप का जोश आ जाता। वह अपने बेटे को शूरवीर मर्द बनाने का भाषण देने लगता और कहता -अरे, मर्द की तरह व्यवहार कर मूँछों को ऐंठते हुए सीना तानकर खड़ा रहा कर। क्या तूने चूड़ियाँ पहन ली है ……..बाप का इस तरह भाषण सुनकर लड़का तैश में आ जाता। वह अपने आपको सबसे अलग और विशिष्ट समझने लगता है। अब बाप और बेटा बहु की नाक काटने का प्लान बनाने लगते। ससुर बहु के मायके जाता है और समझा

बुझाकर बहु को ले आता। यहाँ वे उस्तरे को धार लगाकर तैयार रखा होता। रात को जब सब सो जाते, तब वह लड़का अपनी पत्नी की छाती पर चढ़ जाता और खून-खून हुई तड़पती-बिलखती उस औरत को घर से बाहर धक्के मारकर निकाल देता है।''[14] बेबी कांबले ने जहाँ सबके समक्ष सच बोलने को ढोया वहीं बंग्ला की आत्मकथा 'आलो आंधारि' में बेबी हलदार ने सच को उजागर करने के साथ-साथ विरोध की वैचारिकता को भी पुष्ट किया, वह कहती है कि ''मैं असहाय, एक व्यक्ति की बन्दिनी जो थी। वह जो कहे वही मुझे सुनना होगा, जो कहे वही करना होगा लेकिन क्यों? जीवन तो मेरा है, न कि उसका? क्या मुझे उसके कहे अनुसार सिर्फ इसलिए चलना होगा कि मैं उसके पास हूँ? कि वह मुझे दो मुट्ठी भात देता है? वह मुझे जिस तरह रखता है उस तरह तो कुत्ते-बिल्ली को रखा जाता है।''[15] इन स्त्रियों ने असहनीय पीड़ा से मुक्ति की तरफ कदम बढ़ाकर यह निश्चित कर लिया था कि बस अब नहीं अब आगे बढ़ना ही है नहीं तो अंधकार के बादल गहराते जायेंगे तब रास्ता मिलना मुश्किल ही नहीं असंभव हो जाएगा। पितृसत्तात्मक परंपरा की थोपी हुई मानसिकता को ढोते-ढोते उनका अस्तित्व ही विलीन होने की कगार पर है। परंपरागत स्त्री धर्म को ताराबाई शिंदे ने अपनी पुस्तक 'स्त्री-पुरुष तुलना' में तार्किक दृष्टि से व्याख्यायित किया है कि ''स्त्री धर्म क्या है? हर हालत में पति की आज्ञा मानना और वह जो कुछ चाहता है, उसे करना। कई कारणों से ताराबाई शिंदे ने इस धर्म को बिल्कुल ठुकरा दिया। व्यभिचार की इच्छा रखने वाले पुरुष की आज्ञा को हर्गिज नहीं मानना चाहिए। जो पति चोरी करता हो, जुआ खेलता हो, घूसघोर हो, खूनी हो, क्या उसकी हर आज्ञा को माना जा सकता है? जब किसी के उचित और अनुचित का विवेक जग जाए तो ऐसे में स्त्री धर्म का पालन कैसे हो सकता है?''[16] पुरुष सत्ता की जड़ों की थाह को मापने का

प्रयत्न ताराबाई शिंदे ने सन् 1882 ई. में अपनी पुस्तक 'स्त्री पुरुष तुलना' में आरंभ किया, तब से लेकर भारतीय साहित्य की विभिन्न भाषाओं में स्त्रियों ने अपनी आत्मा अभिव्यक्ति के माध्यम से पितृसत्ता का यथार्थ अपने अपने दृष्टिकोण से समाज को दिखलाने का प्रयत्न किया। पितृसत्ता को व्याख्यायित करती प्रभा खेतान का वक्तव्य है कि "पितृसत्ता एक सामाजिक घटना है, हजारों साल से चली आई ऐसी व्यवस्था है, जिसमें स्त्री स्त्री की अधीनस्थता सर्वविदित है। पितृसत्ता ने स्त्री को अपने ज्ञान की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रयुक्त किया-उसके नाम, रूप, जाति गोत्र सब अपने संदर्भ में परिभाषित किये।"[17]

पितृसत्ता जहाँ पुरुष को सिरमौर देती है वहीं स्त्री को जमीन दिखाने में कोताही नहीं बरतती है। अच्छा-बुरा, ऊँच-नीच, महत्वपूर्ण-महत्वहीन जैसे वर्गीकरण में स्त्रियों के खाते में ऋणात्मक पद के विशेषण रूप ही आते हैं। स्त्री-पुरुष की सृजनात्मकता का मूल्यांकन पुरुष की दृष्टि से पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था ही करती है। तमिल लेखिका बामा अपनी आत्मकथा 'करक्कु' में स्त्री-पुरुष के समान रूप से कार्य करने पर भी वेतन अलग-अलग दिये जाने पर प्रश्न करती है कि "और दूसरी बात हालांकि वे एक सा काम ही करते, फिर भी पुरुषों को अलग मजदूरी मिलती और महिलाओं को अलग। वे पुरुषों को हमेशा अधिक पैसा देते। मुझे इसका कारण कभी समझ नहीं आया।"[18] यह स्पष्टीकरण स्त्रियों को पुरुषों से कमतर समझने के पक्ष में है। जो उन्हें समझ में आ रहा है पर क्यों यह नहीं समझ आ रहा है। बामा जातिगत शोषण का शिकार तो है उसके साथ-साथ पितृसत्तात्मक परंपरा से भी अछूती नहीं है। वह कहती है कि "अपने बचपन के खेलों को याद करते हुए बामा बताती है कि उनके खेलों में भी जातिगतभेद प्रतिबिंबित होते थे। हालांकि लड़के-लड़कियाँ साथ-साथ खेलते लेकिन

अक्सर उनमें से कुछ लड़के 'नायकर' बन जाते और अन्य बच्चों पर खूब रौब दिखाते, उनका अपमान करते, उन्हें अपशब्द कहते, मानों उनके पास बहुत ताकत आ गई है। अन्य बच्चे चुपचाप खेतों में काम करने का नाटक करते रहते। या फिर दुकान लगाने का नाटक करते। कभी-कभी विवाहित होने का खेल खेलते जिनमें पति शराब पीकर घर आता और अपनी पत्नी को मारता। फिर पुलिस आती और उस पति को खूब पीटती।''[19] कमजोर पर सत्ताधारी का वर्चस्व बामा अपने से देखती आ रही थी, उन स्थितियों को वैचारिक स्तर पर मनन करती कि ऐसा क्यों हो रहा है भेदभावपूर्ण दृष्टि क्यों अपनायी जा रही है। जीवन के उतार-चढ़ाव, शोषण और संघर्षों को झेलकर जब वह भौतिक और मानसिक रूप से सक्षम होती है उसकी वैचारिक दृढ़ता और आत्मनिर्भरता उसकी सोच को नया आयाम देती है। वह स्पष्ट करती है कि ''बी.एड. खत्म करने के बाद जब मैंने काम करना शुरू किया तो जीवन थोड़ा सुविधापूर्ण हो गया। हर माह पर्याप्त धन कमाना और जहाँ भी चाहूँ वहाँ स्वतंत्रतापूर्वक जाना बहुत अच्छा लगा। अब जो साड़ी या जैकेट मुझे अच्छी लगे, मैं खरीद सकती थी। जहाँ भी चाहूँ जा सकती थी, जो भी चाहूँ खा सकती थी। यहाँ तक कि मैं अपने लिए कुछ जेवर भी बनवा सकती थी। अब मुझे मालूम हुआ कि अगर आपके पास थोड़ा भी पैसा है तो आप कुछ सत्ता और प्रतिष्ठा तो हासिल कर ही सकते हैं। और मुझे एहसास हुआ कि जिनके पास खर्च करने के लिए पैसा है, वे हमेशा आराम से रह सकते हैं।''[20] आर्थिक रूप से सक्षम और वैचारिक रूप से दक्ष और स्वतंत्रता के अहसास से बामा के जीवन को एक सार्थकता प्रदान की; अपने जीवन को दूसरों के प्रेरणास्वरूप देखती है और कभी निराश होती है फिर भी उसे अच्छे जीवन की आशा है। वे कहती है कि ''फिलहाल मुझे रास्ता दिखाई नहीं पड़ रहा है। फिर भी मुझे भरोसा है कि एक सार्थक

जीवन जीना संभव है, एक ऐसा जीवन जो दूसरे के लिए उपयोगी हो। मैं खुद को इस विचार से सांत्वना देती हूँ कि एक झूठी मुस्कराहट की अपेक्षा असली आँसू बहाते हुए जीवन कहीं बेहतर है।''[21] आत्मविश्वास से भरपूर बामा को जिंदगी सहज और उद्देश्यपूर्ण लगने लगती है।

तमिल लेखिका बामा ने अपनी दृष्टि से अपने आपको देखा, पहचाना, जाना तभी उसमें अच्छे जीवन की आस और उद्देश्यपरक जीवन को दूसरों के लिए प्रेरणादायी मानती है क्योंकि अगर उसका आकलन पुरुष की दृष्टि से होता तो शायद वह अपने को समझने में असफल रहती। चंद्रा सदायत ने भारतीय संदर्भ में स्त्री दृष्टि की महत्ता स्थापित करते हुए लिखा कि ''भारत जैसे परम्पराबद्ध समाज में सत्ता, शास्त्र लोकमत और पुरुष की अधीनता में जीती स्त्री को अपने व्यक्तित्व तथा अस्तित्व की स्वतंत्रता के लिए जैसा कठिन संघर्ष करना पड़ता है उसे पुरुष दृष्टि से नहीं पहचाना जा सकता।''[22]

पुरुष सत्ता के दीर्घकालीन साम्राज्य को सविता सिंह इस तरह व्याख्यापित करती है कि ''जैसी भारत की आधुकिता अर्ध संपन्न अपनी तमाम कुरुपताओं में जगमगाती हुई अपनी विसंगतियों में ठीक वैसा ही यहाँ का समाज और वैसा ही पुरुष सत्ता जो मिटने का नाम ही नहीं लेती।''[23] पुरुष सत्ता और पितृसत्ता दो ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जिनका निर्मूलन इतना आसान नहीं है। प्रसिद्ध विदेशी लेखिका केट मिलेट ने पितृसत्ता की विचारधारा की आलोचना करते हुए लिखा कि ''रूढ़िगत रूपों एवं लिंगभेदीय मानसिकता के निर्माण में विचारधारा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विचारधारा के जरिए स्त्री-पुरुष की स्टीरियोटाइप इमेजों को बरकरार रखा जाता है। यह स्पष्टीकरण स्त्री के पक्ष अधिक सटीक बैठता है क्योंकि आगे वह कहती है कि

पितृसत्ताक दृष्टि से स्त्री का अर्थ है पेसिव (ठंडी) या निष्क्रिय। यही आदर्श स्त्री है। यही स्वाभाविक (नार्मल) स्त्री है। जबकि सक्रिय पुरुष को नार्मल माना जाता है।''[24]

स्त्री शिक्षित हो, अनपढ़ हो, सभ्य हो असभ्य हो, जन्म से लेकर मृत्यु तक उसे पुरुष सत्ता का शिकार और सामना करना ही पड़ता है। प्रसिद्ध दलित लेखिका कौशल्या बैसंत्री शिक्षित होने के साथ प्रतिभावान स्त्री भी पुरुष वर्चस्व को सहने और भोगने के लिए विवश होती है। तदन्तर विरोध करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं। वे कहती हैं कि - ''मेरी और देवेंद्र की नहीं बनी। देवेन्द्र कुमार सिर्फ अपने ही घेरे में रहने वाला आदमी है। गर्म मिजाज और जिद्दी। अपने बारे में खुद ही कहता है कि मैं बहुत शैतान आदमी हूँ। उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात-बात पर गाली, वह भी गंदी-गंदी और हाथ उठाना। मारता भी था तो बहुत क्रूर तरीके से।''[25] दिलीप कौर टिवाणा की आत्मकथा 'पहली बार मैं' में पुरुष सत्तात्मक वर्चस्व से संघर्ष और उससे उबरने की दास्तान परिलक्षित होती है। वे लिखती हैं कि ''जिस व्यक्ति से शादी हुई वह नाम का पति होने का दावा करता है जब वह उसके पास जाने से इनकार कर देती है तो पहले अपनी बुआ फिर वह स्वयं लेने का धमकता है तुम समझती हो हमारे घर में तुम्हारी इज्जत सेफ नहीं, पर मैं कहता हूँ कि सीधे से नहीं चलोगी तो मैं तुम्हें यहाँ से उठवा के ले जाऊँगा और चार बदमाश से अपने सामने तुम्हारी इज्जत खराब करवाऊँगा। बताओ, तब क्या करोगी?''[26] टिवाणा के इस स्पष्टीकरण को मानवता की दृष्टि से किस श्रेणी में स्थान दिया जाए क्योंकि पति होने का दंभ भरने वाला इंसान, पति तो क्या इंसान बनने लायक भी नहीं है। सारे संबंधों को ताक पर रखकर पुरुष वर्चस्व का घिनौना या कहें अति को भी पीछे छोड़ता रूप परिलक्षित होता है। पुरुष सदैव पहले अपने पुरुषत्व को महत्व देता है उसके पश्चात

ही वह अपने से जुड़े अन्य पक्षों को महत्व देता है। उसका वर्चस्व परिवार से आरंभ होकर समाज तक विस्तृत होता है। इसी संदर्भ में प्रसिद्ध विदेशी लेखिका आईजनेस्टाइन की प्रतिक्रिया ध्यातव्य होगी कि ''व्यक्ति स्वतंत्रता के प्रसंग में उदारवादी विचारधारा केवल बाह्य दुनिया में लागू होती है। परिवार में भी पितृसत्ता की दलनकारी नीतियाँ बरकरार है। अत: हमें पारिवारिक संस्था के रूप में बची हुई पितृसत्ता को खत्म करना होगा।''[27] पितृसत्ता की जड़ों को खोजना और उनका निर्मूलन अति आवश्यक है नहीं तो स्त्रियों के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक पक्षों को बाधित करने में अपनी पकड़ को और कसता चला जायेगा। भविष्य में उसकी जड़ें और गहरे होती चली जायेगी। पुरुष वर्चस्व का एक और रूप सुशीला राय की आत्मकथा 'एक अनपढ़ कहानी' में परिलक्षित होता है। ''यह ऐसी स्त्री की कहानी है जो पढ़ी लिखी नहीं है सुन्दर नहीं है परन्तु उसका पति व ससुराल वाले उसे इंसान नहीं समझते या जिम्मेदारी से भागना चाहते हैं। दस वर्षों तक पति की उपेक्षा, संतान न होना आदि से उसका वैवाहिक जीवन नष्ट होने की कगार पर था। वह कहती है कि पता नहीं, दूसरी शादी करने के लिए पति उस समय क्यों इतने उतावले हो गये थे। जब कभी कहीं बाहर से आते थे, मुझे कहने लगते थे कि तुम क्या करोगी? इस तरह तुम हर समय दु:खी रहती हो यह ठीक बात नहीं तुम शादी करना मंजूर कर लो, अभी तुमको कुछ नहीं हुआ है बहुत समय बचा है घर के लोग तुम्हारा मन रखने के लिए कहते हैं कि हम रखेंगे लेकिन यह मान लो कोई तुम्हारे काम नहीं आयेगा। मैं जो तुमको कहता हूँ अच्छे के लिए कहता हूँ। तुम जहाँ शादी करोगी मैं तुम्हारा खर्च देने के लिए तैयार हूँ।''[28] इस आत्मकथा में पुरुष की जिस मानसिकता का चित्रण हुआ है वह एक पूर्व ग्रसित मानसिकता को पाले हुए है उसे इंसान अधिकारों की सत्ता हाथ में आते ही

पुरुष वर्चस्व सीमाहीन हो जाता है। कमजोर से कमजोर व्यक्ति भी तानाशाह बन जाता है विशेषकर स्त्री के संदर्भ में। मोहन राकेश की पत्नी अनीता राकेश पति की मृत्यु के पश्चात अकेलेपन तथा दु:खी व्यक्ति के प्रति दया भाव के कारण रम्मी नाम के व्यक्ति से विवाह कर लेती है। जो दिखने में सीधा सादा और मेडिकल की पढ़ाई और अपनी जीविका को लेकर संघर्षशील था। पति बनते ही उसे एक स्त्री पर या पत्नी पर शोषण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अधिकारों की पूंजी रम्मी स्वामी बन जाता है। जो न सिर्फ अनीता बल्कि पूरे रम्मी अनीता के पैसे से डाक्टरी की पढ़ाई, घर-परिवार की सुविधाएँ पाकर वह उन सुविधाओं का दुरुपयोग करने के साथ-साथ अनीता का जीवन नारकीय बना देता है। अनीता परिस्थितियों से जूझती सहज बनाने का प्रयत्न करती है परंतु सब निरर्थक। रम्मी के सिर पर प्रथम तो पुरुष दूसरे पति होने का दंभ पनप रहा था। अंतत: अनीता ऊबकर उस पुरुष नाम के व्यक्ति को जिसे उसने अकेलेपन के अवलम्ब के रूपेण जीवन में सम्मिलित किया था, उसे नेस्तनाबूत करने की ठान लेती है। वह कहती है "अब तक मैं एक आहत योद्धा बन चुकी थी। दाएँ-बाएँ बल्ला घुमाते मैं अपने शतक के करीब जहाँ नितांत अकेले दर-दर दस्तक देती मैंने जैसे-तैसे चीफ कमिश्नर इन्कम टैक्स तक पहुँच उस पर रेड़े करवाई - साथ ही डेस्यू अकेले ठोकर खा-खाकर उसके बंद मीटरों पर अर्जी दी जिस पर उसके अनेकानेक एअरकंडिशनर और मशीनें चलती थी -जिससे उसका यहाँ से अन्न- जल उठा और भागकर उसने गोआ में शरण ली।"[29]

स्त्रियों को पुरुष वर्चस्व का प्रतिरोध का सामना चारदीवारी के भीतर ही नहीं बल्कि बाहर भी करना पड़ता है। पुरुषों के चहुँतरफा फैले साम्राज्य को ध्वस्त करना इतना आसान नहीं है। येन केन प्रकारेण वह प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों को अपनी राजनीति

का अंग बनाना जन्म सिद्ध अधिकार समझता है, चाहे वह व्यक्ति हो या व्यकित विशेष। शीला झुनझुनवाला धर्मयुग पत्रिका के संपादन में सहयोगी भूमिका में कार्यरत थी। पत्रिका के प्रधान संपादक कार्यालय के अन्य कर्मचारियों से द्वेष भाव रखकर उन पर अपनी धौंस दिखाना चाहते थे। इस कार्य को परिणत तक लाने के लिए मोहरा बनाया शीला झुनझुनवाला को। क्योंकि एक पुरुष दूसरे पुरुष को सीधे आहत कैसे कर सकता है? वह कहती है कि ''भारती जी ने शायद सोचा भी नहीं था कि कोई उनके केबिन में उनकी बात को यूँ नकार देगा। वह कुर्सी से आधे उठ खड़े हुए, मेज पर हाथ मारते हुए और क्रोध से मेरी ओर देखते हुए गरजे, 'आप झूठ बोलती हैं।'

अब तो मुझे भी गुस्सा आ गया। मैं उनके पद की गरिमा को देखते हुए, उनसे आराम से बात कर रही हूँ और यह मुझे बार-बार झूठा बतला रहे हैं। मैं भी कुर्सी से उठ खड़ी हुई और जरा जोर से, पर गुस्से से बोली, 'भारती जी आप झूठ बोल रहे हैं। मैंने आपसे कभी ऐसा कुछ नहीं होगा। और यह बात आप जानते भी हैं।'

कोई भारती जी जैसे आदमी को झूठा कह दे, यह तो एक अनहोनी बात हो गयी। भारती जी गुस्से से विफरते हुए फिर बोले, आप झूठ बोल रही है।

मुझे भी तैश आ गया। मैंने हाथ की नोट बुक को मेज पर पटकते हुए गुस्से में कांपते हुए कहा, ''भारती जी, आप जानते हैं कि सही बात क्या है? यह रखिये अपनी 'धर्मयुग' की नौकरी। अपना लिखित त्याग-पत्र आपके पास शाम तक पहुंचा दूंगी। कहकर तीर की तरह मैं बाहर आयी, अपनी मेज पर पहुंची किताबें उठायी और आफिस के बाहर आ गयी।''[30] व्यक्ति विशेष या तथाकथित संभ्रांत वर्ग अपनी प्रतिष्ठा और पद के अहम के गर्व में स्वयं को श्रेष्ठ और अन्य को हीन समझता है। विशेषकर स्त्री के पक्ष में तो अवश्य। मैत्रेयी पुष्पा की प्रथम बिना प्रकाशित हुए लौन आने पर,

वह सम्पादक के पास कहानी लौटाने का कारण जानते हुए जाती है। संपादक महोदय (वह भी पुरुष) अपने दंभ से ओत-प्रोत लेखिका अपने समक्ष देखकर आहत और अपमानित करने से नहीं चूकते। वह लिखती है कि "ये जो मैडम आई है, इनकी शिकायत है कि भेजी हुई कहानी बिना पढ़े ही लौटा दी गयी है।" आशिक मियाँ ने मेरा पक्ष रखा।

"अच्छा ! कहकर संपादक जी ने आगे बढ़कर कहानी मुझसे ले ली और पन्ने पलटने लगे। मैं फैसले की उम्मीद में दम साधे हुए। संपादक जी ने खूब मुस्कराया, फिर बोले - "अब की बार बिना पढ़े ही लौटा दी कहानी। अगली बार इसे पढ़कर लौटा देना।" यह क्यों? मैं उन्हें असमंजस भरे गुस्से से देखने लगी और वे हँसने की हद तक मुस्कराए। पान की पीक लम्बी लकीर में बहती हई ठोढ़ी छूने को थी। स्टाफ के लोग हँस रहे थे। मैंने दाँती कस ली। यहाँ आना गलत, यहाँ रूकना गलत, यहाँ बैठना ……..यहाँ के लिए लिखना अपराध .....।"[31] इस अपमान और उपेक्षा को चुनौती के रूप स्वीकारती है। कालांतर में "मैंने इस मासिक कथा पत्रिका के दफ्तर न आने की कसम खायी थी, कहानी पूरी होते ही कौल टूटने लगा। संपादक का वाक्य मेरे लिए चुनौती था, चुनौती का सामना करने में मुझे आनंद आता है।"[32]

पुरुष का अहम स्त्रियों के व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया विशेष रूप आड़े आता है। वह कहीं प्रत्यक्ष रूप से कहीं अप्रत्यक्ष से अपने दमित प्रतिरोध को व्यक्त करता है। स्त्री का अग्रसर होना उसे कहीं न कहीं सालता अवश्य है। मैत्रेयी पुष्पा की शिक्षा रुचि देखकर उनके पति को इस उम्र में उसका पढ़ना-लिखना और व्यक्तिगत पहचान बनाना उनसे सहन नहीं होता। मैत्रेयी को हतोत्साहित करते हुए कटाक्ष करते हैं "पढ़ाई के लिए अब इतना मोह, समझ में नहीं आता तुम्हारा रवैया।" पति ने कहा और फिर

भूल सुधार की, अरे हाँ, अचम्भा किस बात का, तुम्हारे यहाँ तो औरत चाहे जब झोला उठाकर स्कूल चल देती है।''

''हम लोगों का मकसद दब जाता है तो मर नहीं जाता। जिंदगी का आधार मानते हैं हम लक्ष्य को।'' मैंने आवाज जरा ऊँची कर दी थी।

लेकिन अब मैं बाहर लॉन में तो क्या आऊँ, बरामदे तक में खड़ी नहीं होती थी। सारी निराशाओं और कष्टों को झोली में भरे हुए .....मेरी कठिनाई कौन समझेगा ? मैं लाखों-करोड़ों अशिक्षित स्त्रियों जैसी एक घरेलू औरत - 'घरेलू औरत' कहकर रेखा अग्रवाल जैसे मेरे दुख को और दुखा रही थी। घुटन कई-कई गुना बढ़ जाती।''[33]

स्त्री की अपनी इच्छा, मनोकांक्षा, स्वतंत्रता नहीं उसके अधिकार पुरुष के उदारवादी दृष्टिकोण पर ही अवलम्बित है। वह कभी सामाजिक प्रतिष्ठा कभी मान मर्यादा कभी स्वयं की संकुचित मानसिकता का हवाला देकर वर्चस्व की दीवारें इतनी सख्त कर देता है कि स्त्री को अपने रास्ते स्वयं निर्धारित करने पड़ते हैं। वह अपने अधिकारों के लिए सोचने पर विवश हो जाती है। अपने अस्तित्व को किस खाँचे में रखे यह प्रश्न उसे उद्वेलित करता ही रहता है। मैत्रेयी फणीश्वरनाथ रेणु की राजेन्द्र यादव के चित्र घर पर लगाने मात्र से ही घर की सुख शांति को ग्रहण और पति को पर पुरुष की उपस्थिति ठेस पहुँचाती है। वह लिखती है कि ''तस्वीरों को ढाँप-मूँदकर काम में मन लगा रही थी। रसोई सँभाल रही थी कि विचार आता गया - क्या इस घर में मेरा हिस्सा नहीं? क्या किसी हिस्से में मेरा कोना नहीं? 'वर्जीनिया वुल्फ' पर क्या ऐसी ही बीती होगी कि उन्होंने 'अपना निजी कमरा' नाम से पूरी पुस्तक लिख दी। मैं क्या लिखूँ? यही कि मेरी चेतना रोज आहत होती है, घरवाला बेखबर है। मुझे जगह तलाश लेनी चाहिए। मैं खानाबदोश जन्मजात अपनी इच्छा से करूँ, जुर्म लगे।

पति ने दलील दी, बिना माँगे ही - ''समझो, सोचो, ऐमेजिन.....मैं यहाँ ड्राइंग रूम में किसी औरत की तस्वीर लगा दूँ तो तुम अपने मिलने वाले को क्या बताओगी? यही कि मेरे पति इसके हुनर पर फिदा .....वह क्या समझेगा,यही कि यह औरत इस औरत के पति की माशूका.....इस शर्मनाक मंजर पर गौर किया है तुमने?

''कोई हो तो ऐसी'' मैं धीमे से बोल गई।

''कैसी?'' उन्होंने पूछा, मेरी आँखों में आँखे डालकर

''जो तुम्हारे लिए ज्ञान का जरिया बने और हकदारी न दिलाए।''

''ओहो!'' उन्होंने व्यंग्य से देखा आगे बोले - ''तब नया ज्ञान लेना होगा मुझे और जरिया बनाना होगा किसी माशूका को। क्या ही अच्छा रास्ता है!''[34]

पुरुष किसी अन्य पुरुष के वर्चस्व को भी इतनी सहजता से आत्मसात नहीं कर सकता (परंतु स्वयं सेंध लगाने से नहीं चूकता) उसकी आधिकारिक सीमा में जो वस्तु या व्यक्ति है उस पर वह अपने संपूर्ण आधिपत्य का दावा अवश्य प्रस्तुत करता है। आधिकारिक वस्तु या व्यक्ति पर दूसरों का अधिकार सहन नहीं कर पाता है। स्त्री विशेष के लिए पर पुरुष की प्रशंसा, सराहना और हस्तक्षेप करते देख स्वयं के स्वामित्व पर संकट देखता है। सत्ता हस्तांतरण की पूर्व संभावना पर विचलित हो जाता है। चन्द्र किरण सौनरेक्सा की कहानी पर प्रतिक्रिया स्वरूप प्रशंसा संपादक अमृतराय के करने पर उनके प्रति कांतिचन्द्र ईर्ष्या की आग में झुलसने लगते हैं। पत्नी की प्रशंसा स्वयं की निंदा एक पुरुष का दंभ कैसे स्वीकार कर सकता है? अपना आक्रोश पत्नी पर व्यक्त करते हुए कहते हैं ''ये साले संपादक की लड़कियों को बड़े मीठे-मीठे पत्र लिखते हैं। अभी कोई पुरुष लेखक अपनी रचना भेजता तो उत्तर ही पंद्रह दिन बाद मिलता -या मिलता ही नहीं। और यह रसोई के सामने खड़े थे - क्रोध- ईर्ष्या की

मिली जुली तस्वीर बनकर - तुमने भी तो कहानी भेजते समय पत्र में कुछ न कुछ तो लिखा ही होगा जरूर .....उसके चूतड़ों में घी मला होगा।''[35] पति की आत्मघाती प्रतिक्रिया पर सौनरेक्सा दु:ख और पीड़ा से व्यथित हो जाती है। पुरुषों को स्त्री का दाय तो अवश्य चाहिए, परन्तु देय भाव पर भी अपना आधिपत्य रखना चाहता है। वह सोचती है कि ''मैं क्या इसी व्यवहार और अपमान की अधिकारी हूँ मैं क्यों पति रूपी पुरुष ज्यादतियाँ सहन करूँ जबकि मैं स्वयं आत्मनिर्भर और समाज के प्रतिष्ठित पद पर हूँ। मैं किस बात में कांतिचन्द्र से कमतर हूँ? फिर इतना घृणित और निंदनीय व्यवहार मेरे पक्ष में। वह लिखती हैं कि ''क्या इस तरह तिल-तिलकर खपा रही हूँ? तीन वर्ष के विवाहित जीवन के बाद कोई विश्वास का आधार नहीं बन पाया अब तक, तो आगे क्या आशा हो सकती है -विश्वास नहीं होता था - पर एक कड़वा सच था - मैंने ऐसे व्यक्ति का साथ चुन लिया था, जो शक के चश्मे से ही सब कुछ देखता है - वरना जिस को मैंने आँख से नहीं देखा (अमृतराय को) केवल संपादक के नाते पत्र-व्यवहार किया - उसी का नाम लेकर ऐसी गाली छि: - कभी कोई संतुलित सामान्य व्यक्ति नहीं देता। बस अब और नहीं बढ़ने दूँगी यह सिलसिला अविश्वास के धुंध में मानो मेरा दम घुटने लगा - मैंने निर्णय किया मैं 'इनके' साथ नहीं रहूँगी, घर छोड़कर मेरठ चली जाऊँगी।''[36] पुरुष सत्ता और पितृसत्ता से पीड़ित स्त्री अन्य स्त्री की मन:स्थिति को सहजता से आत्मसात कर लेती है। क्योंकि पुरुष सत्ता और पितृसत्ता की जड़ें व्यापक स्तर पर देश, जाति, समाज, घर, परिवार में अनादिकाल से फैली हुई है। या कहें कि सभ्यता के विकास के साथ ही रोप दी गई है। पीड़ित स्त्री दूसरी स्त्री अनुप्रेरित करती अपनी पहचान बनाने के लिए वो सीमाएं तोड़ने के लिए जो पुरुष वर्चस्व के द्वारा निर्धारित कर दी गयी हैं। मन्नू भंडारी जो स्वयं पितृसत्ता और पुरुष

वर्चस्व की शोषिता हैं मैत्रेयी के लिए सहानुभूति रखती है और कहती हैं कि जो क्षमता हमारे भीतर है उसे सबके समक्ष लाने और साबित करने की आवश्यकता है। मैत्रेयी लिखती हैं कि मन्नू दी कहती है "अरे। मैत्रेयी! लिखती रहो, लिखकर ही एक दिन खुद को पूव कर दोगी कि डॉक्टर साहब भी मान जाएंगे, उनकी पत्नी असल में क्या थी।" लिखना ! मन्नू दी वही कह रही है, जो मुझे बरबाद किए दे रहा है। मैं खुद को पूव कर दूंगी लिखकर .....कि बदला ले रही हूँ पति के शासन से, कहानी-उपन्यासों के जरिए पुरुष सत्ता को चुनौती देती हूँ .....ये मैंने कैसे हथियार थाम लिए कि पति बात-बात पर आहत हो जाए.....।"[37]

स्त्रियां सामाजिक सुरक्षा और स्नेह की इच्छा पूर्ति हेतु किसी पुरुष का संबल चाहती है। वह अनुभव करती है सामाजिक सुरक्षा, समानता, स्वतंत्रता के अधिकार की बागडोर पुरुषवादी समाज ने अपने हाथों में पकड़ रखी है। जिसके छूटने की संभावना का प्रश्न नहीं नहीं उठता, बल्कि स्त्रियों की इस विवशता को तथाकथित संभ्रांत वर्ग अपनी संपत्ति समझने लगता है। परन्तु ऐसा क्यों है? यह निर्णय वह स्त्री पर ही क्यों नहीं छोड़ देता कि वह किससे संबंध रखे और किससे नहीं रखे? क्या स्त्री कभी इस तरह की उद्घोषणा करके पुरुष वर्ग की सीमाओं का हनन करती है। नामवर सिंह की सारिका पत्रिका के साक्षात्कार में कृष्णा अग्निहोत्री के लिए की गई सार्वजनिक टिप्पणी पुरुष वर्चस्व के दंभ से आप्लावित नहीं है तो क्या है? "समझ नहीं आता कि कृष्णा जी व मेहरुन्निसा कैसे लेखक बन गईं। आगे वह सुमन जी से कहते हैं कि "आपकी छात्रा की क्या बात है? शायद किसी सामंतवादी भोगी पुरुष से संपर्क रखना मात्र इतना भयानक है कि एक जंजीर-सी लोग बना लेते हैं कि यदि यह औरत उस भोगी पुरुष से मिलती है तो उसके साथ इसके गलत संबंध होने ही चाहिए और यदि

उसके साथ है तो हमें भी उसे भोगने का अधिकार देना चाहिए, वरना हम उसे उखाड़ देंगे।''[38] इस टिप्पणी पर कृष्णा अग्निहोत्री प्रतिक्रिया अपनी अपनी आत्मकथा में अभिव्यक्त करती हैं कि ''ऐसी धारणाओं या अंधी विचारधारा का क्या हो सकता है? मेरे साहित्य का मूल्यांकन होगा, हो रहा है, होता रहेगा और वह बढ़िया होगा, क्योंकि वह न मानसिक अय्याशी है, न कामर्शियल है और न महत्काकांक्षियों की पूर्ति हेतु अवसरों को भुनाकर लिखा गया है। वह संघर्ष, साधना-परिश्रम व प्रतिभा का समन्वय है, जिसे नकारना असंभव है।''[39]

पुरुष व्यक्ति हो या व्यक्ति विशेष। उसकी स्वयं का कोई व्यक्तित्व हो या ना हो, उसका पुरुष होना मात्र ही दुनिया की सर्वोच्च सत्ता का स्वामी भाव उसे यह अधिकार दे देता है कि वह स्त्री पर अपने पुरुषत्व की धौंस जमाए। उसका दमन करे, संदेह करे, या उसके अस्तित्व को ही नकार देने का अधिकार पितृसत्ता उसे देती आ रही है। कस्तूरी जमींदार की पत्नी को रेशम कुंवर की कथा सुनाने जाती है उसकी शिक्षा, व्यवहार कुशलता बौद्धिक क्षमता अपने समय की स्त्रियों से आगे की रहती है। जमींदार और उसकी पत्नी कस्तूरी से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते हैं। जमींदार की कृपा कस्तूरी के घर पर बरसती है, परंतु उसका पति पर पुरुष द्वारा दी गई सुविधाओं को कस्तूरी के चारित्रिक हनन की प्रक्रिया से जोड़ता है। वह लिखती है कि ''रेशम कुंवर की कहानी का ढोंगे! सती कथा का पाखंड, तुम जैसी औरत।''

''अरे! तुम तो देश भक्ति के गीत गाते हो, और मुझे नहीं समझते।''

''समझते हैं। अपनी धरती को समझते हैं और गंगा को भी समझते हैं। चल, मैं गंगा का कोण बनाता हूँ तू उसमें खड़ी होकर, सौगंध खा कि इस दुनिया के बेटे से तेरा कोई संबंध नहीं?"

कस्तूरी चुप रही।

''बस!'' पति ने कड़ुआ मुंह बनाया कि चेहरा नीला पड़ने लगा।

''है संबंध,'' वह धीमे से बोला।

''रखैल का। बोल, रखैल का। बोल दे हो,'' कहते हुए उनकी लम्बी काया थरथराने लगी और होंठ ऐंठने लगे।

''हाँ रियामा का''

''ओ.... ऽ..... ओ!'' कलशियाँ बेचने वाली, बड़ी-बड़ी बातें सीख गई है।''

उपहास से लबालब उनके होंठ ठहाके पर आ उतरे।''[40]

दमन और शोषण पितृसत्ता के हथियार हैं। पुरुष वर्चस्व और पितृसत्ता के आतंक और भय से कस्तूरी की आत्मा तक काँप जाती है। क्योंकि दमन और शोषण की प्रक्रिया में दी जाने वाली पीड़ा और यातनाओं की संभावनाओं से ही मन व्यथित हो जाता है। इस सबके अतिरिक्त स्त्रियों में जन्मजात प्रतिभा होती है कि कठिनाइयों के समक्ष सहजता से हथियार नहीं डालती है इस आशा से कि कभी तो उद्देश्य की प्राप्ति होगी। कस्तूरी का संपूर्ण जीवन अग्रसर होने तथा संघर्ष करने, पराजय न स्वीकार करने और अंतत: अपने उद्देश्य की प्राप्ति की प्रक्रिया में चलता रहता है। वह पुरुषों द्वारा या पितृसत्ता के द्वारा बनाई गई परंपरागत मान्यताओं को तोड़कर अपने रास्ते स्वयं निर्धारित करती है। वह संकल्प लेती है कि अपनी बेटी के लिए वर का चुनाव वह स्वयं करेगी और बिना दान-दहेज लड़की के समतुल्य लड़का ढूंढेगी। इस संकल्प के यज्ञ में भांति-भांति की आहुतियाँ उसे देनी पड़ती है। क्योंकि उसका सामना होता है उसी पुरुषवादी सत्ता से जो सदियों से नियम निर्धारित करते आये हैं और स्त्रियों को उसे मानना ही है। उसी समाज में कस्तूरी पहल करती है उनके वर्चस्व को ध्वस्त करने

की। ''रोज-रोज आ जाती है। तूने यह घर खाला का घर समझ लिया है? झोला उठाया और चल दी। हमारी कोई इज्जत नहीं है क्या, कि शादी-ब्याह जैसा मामला लुगाई तै करे। जा यहाँ से, कोई मर्द-मानस हो तो भेजना। बिरादरी के लोग मखौल उड़ाते हैं।

माताजी मूढ़े पर बैठी पानी-पानी हो गई। किधर बहे कहाँ निकले? अपमान के मारे आँखें भर आईं। औरत की तरह रोना भी मुहाल लगा। औरत होना ही तो भर्त्सना पा रहा है। वे मर्द की तरह होंठ कसे और नथुने फुलाती हुई बैठी रही। मगर कितनी देर.....।''[41]

पुरुषों के पारंपरिक ढांचे में कमजोर और निस्सहाय स्त्री के लिए तो स्वार्थगत उदारवादी दृष्टिकोण तो रहता है, परंतु सबल स्त्री अर्थात आर्थिक और सामाजिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री के लिए न कोई उदारवादी दृष्टिकोण है और ना ही सहानुभूति होती है और यदि यदा-कदा स्पष्ट भी हो जाए तो सोची समझी राजनीति के तहत। आत्मनिर्भर प्रभा खेतान डॉ. सर्राफ की प्रेमिका होने मात्र से ही अपनी सामाजिक आर्थिक स्वतंत्रता खो देती है। डॉ. सर्राफ उन्हें पत्नी होने का पद तो नहीं देते परन्तु प्रभा खेतान पर अपना आधिपत्य जताते हैं। ''प्रभा! तुम्हारा दिमाग तो नहीं खराब हो गया। खाकी कैनवास के इस थैले का ढाई सौ डॉलर दे आई - पागल हुई हो? चलो वापस करो।''

नहीं मुझे हू-ब-हू इसकी नकल उतारनी है और मेरी व्यापारिक बुद्धि कहती है .....

''.....व्यापारिक बुद्धि? तुम्हारे पास बुद्धि नाम की चीज भी है?'' गुस्से में उनका गोरा चेहरा लाल होता जा रहा था -''तुम अपने आपको समझती क्या हो?''

''डॉक्टर साहब मेरे पास पैसे हैं, अपनी खरच के लिए जो हैं, उसमें से दे दूँगी।''

''तुम्हारा यह मालिकाना तेवर मैं सहन नहीं कर सकता।''

''औरों के लिए भी तो इतना सामान खरीदा गया है।''

''वे चीजें उनकी जरूरत है।''

''तो यह बैग मेरी जरूरत है।''

बहस जो वहाँ से उठी तो जैकसन हाइट पर ही आकर खतम हुई। खतम क्या हुई, डाक्टर साहब ने मेरे हाथ का पैकेट छीनकर फुटपाथ पर दे मारा था और कहा था - ''तुम यहीं पड़ी रहो।'' और डॉक्टर साहब टैक्सी में बैठकर चले गये, साथ में मेरा पासपोर्ट और वॉलेट भी लेते गये।''[42]

डॉ. सर्राफ प्रभा खेतान का चुनाव थे। उन्होंने भावनात्मक संबंध डॉ. सर्राफ के साथ जोड़ा था। डॉ. प्रभा खेतान का मानसिक और दैहिक शोषण करने के बाद सामाजिक प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा का भय दिखाकर डॉ. सर्राफ इस अनैतिक रिश्ते से साफ बच जाना चाहते हैं या फिर उन्हें प्रभा खेतान से कभी भावनात्मक जुड़ाव था ही नहीं।

''प्रभा! सच मानो मैं तुम्हें चोट नहीं पहुंचाना चाहता''

''अब और चोट पहुंचाना बाकी है?'' जलती हुई आँखों से उनकी ओर देखते हुए मैंने कहा। मेरी चुनौती स्वीकारते हुए उन्होंने बड़े सपाट लहजे में कहा - ''ठीक है, तुम सुनना चाहती हो ना, तो सुन लो, मेरे लिए इस संबंध का कोई महत्व नहीं ...क्योंकि मेरे लिए औरत बस एक देह है, मन लगाने की चीज और कुछ सुनना चाहती हो?''

एक खेला-खाया चालीस साल का आदमी मुझसे कह रहा था और मैं मूर्ख की तरह पूछ रही थी - ''आप सच कह रहे हैं? नहीं, आप झूठ बोल रहे हैं, आप इतने गिरे हुए इंसान नहीं हो सकते।'' वे हंस दिए थे। मेरा हाथ उठ चुका था। उनके गालों पर मेरा तमाचा था, ''आप .....आप.....आप इतने नीच नहीं हो सकते।''[43]

पुरुष स्त्रियों की बौद्धिक क्षमता और कार्यक्षमता को हमेशा संदेह की दृष्टि से देखते हैं उनका दंभ स्त्रियों की परंपरागत छवि को ही स्वीकारता है। वह बिल्कुल भी सहन नहीं कर पाते कि स्त्री हमारी बराबरी में या हमसे बढ़कर कैसे हो सकती है यदि है तो वे उसका श्रेय उसे न देकर अन्य कारण ही मानेंगे। स्त्रियों की उपस्थिति उन्हें केवल अनुगामी रूप में सहनीय है अग्रगामी या सहगामी की नहीं। कच्छ यात्रा की अवधि में रमणिका गुप्ता की बौद्धिकता और व्यावहारिक दक्षता को उनके स्त्री होने के रूप में आंका जाता है। सहयात्री उनकी प्रशंसा को द्वेष भाव से देखते हैं। वह कहती है कि "आखिर अवधेश जी से नहीं रहा गया। वे बोल ही पड़े - "रमणिका जी को स्त्री होने का फायदा मिल रहा है।"

मुझसे भी रहा नहीं गया। मैंने कहा - "मैं मिट्टी की माधो नहीं हूँ, बुद्धि भी रखती हूँ। मिट्टी के माधों की पूजा होती है, तर्कशील व्यक्ति सराहे जाते हैं। यहाँ मेरी पूजा नहीं हो रही, हम सबकी सराहना हो रही है, मुझे केवल प्रतीक बनाया जा रहा है।"

पर अवधेश जी से तर्क की बात करना कठिन था। स्त्रियों के प्रति संभवत: वे किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित थे या हीन भावना से त्रस्त थे जो उनके अहं पर बार-बार चोट करती थी। मेरे ख्याल में हर पुरुष स्त्री के समक्ष ऐसी ही हीन भावना से ग्रस्त होता है और वह उसकी भरपाई करने हेतु ही स्त्री पर हमला करता है।"[44]

पुरुष वर्चस्व अपने दमन की प्रक्रिया में इतना भयावह और घिनौना रूप धारण कर लेता है कि सुनने मात्र से या पढ़ने मात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जिनके ऊपर ये ज्यादियाँ कहर ढाया जा रहा उनके दु:ख, कष्ट को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। रमणिका गुप्ता ने अपना संपूर्ण जीवन आदिवासी, श्रमिक और पीड़ित स्त्रियों के हित हेतु समर्पित कर दिया। न्याय और संघर्ष की इस लड़ाई में पुरुष वर्चस्व की

अकथनीय शोषण और दमन की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है। वह कहती है कि ''मैं दफ्तर के दरवाजे पर उससे बात करने के लिए बाहर निकली तो उसने मुझे धमकाते हुए कहा ''इस इंस्पेक्शन में अगर माइनिंग अफसरों के साथ जाओगी तो ठीक नहीं होगा। बरसात में खदानें बंद ही रहेगी- सुना तुमने।'' राजाराम को देखकर मजदूर यूनियन आफिस के गिर्द जमा होने शुरू हो गये थे। मैंने कहा - ''हमने उन अधिकारियों को बुलाया है! हम क्यों नहीं जाएंगे। तुम कौन होते हो हमें मना करने वाले!'' उसने कहा ' बड़ी पंचौती करती हो औरतों के लिए और अब चली हो खदान खुलवाने! चुपचाप आफिस में बैठी रहो, नहीं तो अंजाम बुरा होगा!''

यह कहते हुए उसने मेरे बात पकड़कर घसीटना शुरू किया। उसने मेरा ब्लाउज भी फाड़ डाला। मैं उससे जूझती हुई घिसटती चली जा रही थी कि उसने एकाएक मुझे दफ्तर के भीतर धकेलकर बाहर से दरवाजे की कुंडी लगाकर ताला लगा दिया और अपने साथियों को झोपड़ी में आग लगाने को कहा। शायद वे लोग आग लगाने में झिझक रहे थे। इसलिए वह उन्हें भी गाली देने लगा। हमारे मजदूर भाग चुके थे। आफिस के पीछे आकर वे दीवार तोड़कर मुझे बाहर निकालने की कोशिश कर रहे थे।

मैंने उन्हें रोक दिया और कहा - ''मैं पीछे से नहीं भागूँगी। हिम्मत है तो आगे आकर बाह निकालो, नहीं तो मुझे जलकर मर जाने दो।''[45]

दमन और शोषण की पराकाष्ठा पर करती है यह घटना। पुरुष अपने निज स्वार्थ और पुरुष सत्ता के आधिपत्य को स्थापित करने में वाह्य रूप और अंत: रूप को भिन्न-भिन्न उपस्थिति करता है या कहें कि दोहरी मानसिकता अपनाता है। व्यक्तिगत स्वार्थ, लाभ, यश, संतुष्टि और सामाजिक प्रतिष्ठा के द्वंद्व से ऊबर नहीं पाता है। मजदूरों की मजदूरी को लेकर रमणिका गुप्ता आंदोलन छेड़ती है इस आंदोलन के

अन्य कार्यकर्ता अर्थात् समाज के ठेकेदार तथाकथित संभ्रांत वर्ग, व्यक्ति अपने वाह्य रूप और आंतरिक व्यक्तित्व द्वैय को लेकर चलते हैं। वह लिखती है कि ''सीताराम केसरी उस समय बिहार कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने मुझे पूछ लिया - क्या आप आई.जी. पुलिस हैं कि सब कांग्रेसी महाजनों और सूदखोरों को गिरफ्तार करवा रही है? इन खेतिहर मजदूरों को आप पूरी मजदूरी दिलवा देंगी तो फिर हमें पूछेगा कौन? दरअसल, आपको कम्युनिस्ट पार्टी में रहना चाहिए था। खेतिहर मजदूरों को अगर पूरी मजदूरी दिला दीजिएगा तो फिर हमारे पास मुट्या क्या बचेगा? कौन रहेगा हमारे साथ।'' मैं हैरान हो गई उनके इस सवाल पर। मैंने उनसे कहा -तब बीस सूत्रीय कार्यक्रम में ये मुद्दे क्यों जोड़े गए? कांग्रेसियों ने क्या महाजनी, सूदखोरी का पट्टा लिखा रखा है कि उन्हें अवैध काम करने पर पकड़ा न जाए? क्या ये सूत्र केवल नारे हैं? क्या ये लागू करने के लिए नहीं - केवल भाषण है? जब तक ये बीस सूत्री के अंदर है, अध्यक्ष होने के नाते मैं इन्हें लागू करवाऊँगी अन्यथा आप लिख कर दें कि इन्हें लागू नहीं करना।''[46]

पुरुष स्त्रियों के प्रति उदारवादी होने का प्रपंच भले ही रच ले। लेकिन वह अंतर्मन से वही पुरातनपंथी व्यक्ति ही रहता है। तथाकथित समाज के ठेकेदार और स्त्रियों के संघर्ष की लड़ाई के अगुवा व्यक्तिगत जीवन में संकीर्ण विचारधारा को ढोते दृष्टिगोचर होते हैं। उनके व्यक्तित्व की वास्तविक पहचान एक स्त्री ही व्यक्त कर सकती है जिसने उस व्यक्ति की वास्तविक पहचान एक स्त्री ही व्यक्त कर सकती है जिसने उस व्यक्ति की दोहरी जिंदगी को झेला हो भोगा हो। मन्नू भंडारी प्रसिद्ध आलोचक, चिंतक, लेखक और सामंतवादी मानसिकता से ओत-प्रोत राजेन्द्र यादव (पति) के दोहरे रूप को स्पष्ट करती है कि ''मैं नहीं जानती थी कि हमेशा थी कि हमेशा

लीक छोड़कर चलने की गुहार लगाने वाले, सामंती संस्कारों की धज्जियां बिखेरने वाले राजेन्द्र का पूरा व्यक्तित्व इन्हीं संस्कारों में इस कदर लिपटा पड़ा है, जिसने इन्हें इस परंपरागत धारण से कभी मुक्त ही नहीं होने दिया कि परिवार में वर्चस्व और प्रभुत्व केवल उसी का हो सकता है जो परिवार का भरण-पोषण करे.....उसकी जिम्मेदारियाँ निभाए (आज भी शायद ही कोई पुरुष इस धारणा से मुक्त होगा) अहंकार की परतों में लिपटे राजेन्द्र के अहं को प्रभुत्वहीन और वर्चस्वहीन (केवल अपनी नज़रों में) जीवन स्वीकार्य ही नहीं था।''[47]

पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह हेतु पुरुष अपनी अहम तुष्टी को ही प्राथमिकता देते हैं। घर पर समाज पर देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाले व्यक्ति सेवाएं देने कैसे लगेगा उसके भीतर तो सेवाएं लेने की प्रवृत्ति रही है। स्त्री के समान पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह की स्वीकृति उसका दंभ कभी नहीं दे सकता। मन्नू भंडारी आर्थिक पक्ष, पारिवारिक पक्ष और सामाजिक पक्षों का निर्वाह करने के प्रयत्न में अपने पति राजेन्द्र यादव से कोई अपेक्षा नहीं रख सकती है। वह लिखती है कि ''नौ साल तक स्कूल में पढ़ाने के बाद कॉलेज में पढ़ाना.....मुझे ठीक उसी तरह तैयारी करनी पड़ती थी, जैसे एम.ए. करने के समय किया करती थी। पर उससे भी बड़ा संकट था कि बच्ची का मैं क्या करूँ? उसे देखना न राजेन्द्र के बस का काम था और न ही उसके लिए तैयार थे, क्योंकि उनके मन की असली गाँठ तो यह थी कि मेरे कॉलेज जाने के पीछे अगर उन्होंने बच्ची को देखा तो वे उसकी आया बनकर रह जाएंगे और उनका अहं उन्हें इस बात की अनुमति नहीं देता था।''[48] अर्थात पुरुष स्त्री के आर्थिक पक्ष का उपभोग तो करता है और करने का इच्छुक भी रहता है परंतु उसके वर्चस्व के संसार में स्त्री के लिए उदारीकरण की या सहानुभूति की कोई राह नहीं निकलती, जो स्त्रियों

तक पहुँच सके। अपनी सत्ता स्थापित करने हेतु वह संकल्पनाएं तो निर्धारित कर देता है उनका वास्तविक जीवन स्वीकृत होना अपने में विशेष बात है।

पितृसत्ता उन्हीं स्त्रियों को प्रति उदार हो सकती है जिन्हें वह अपना उत्तरदायित्व सौंप सके। सदियों से चली आ रही इस परंपरा गतिमान और सशक्त बना सके। क्योंकि पितृसत्ता अपने अधिकार स्त्री या पुरुष के रूप में परिभाषित न होकर बल्कि परंपरागत मान्यताओं को अंगीकृत करने तथा उनके संवहन के संदर्भ में स्पष्ट होती है। यदि स्त्री विशेष उस परंपरा संवहन करती है तो प्रभुत्व का आधिपत्य आश्वासन दिया जा सकता है यदि स्त्री उनके विरूद्ध जाती है या स्वतंत्र इच्छा रखती है तो पुरुष सत्ता की उदार दृष्टि को अनुदार दृष्टि में परिवर्तित होते क्षण नहीं लगते। पुरुष वर्ग उन्हें अपना प्रतिद्वंदी समझने लगता है और प्रतिद्वंदी के लिए क्षमा दान जैसी कोई प्रावधान नहीं रहता। मन्नू भंडारी के पिता को मन्नू का बौद्धिक और सक्रिय पक्ष तभी तक सहनीय रहा जब तक मन्नू भंडारी ने पितृसत्ता को ढोया और जैसी ही स्वतंत्र व्यक्तित्व की खोज उन्होंने की प्रतिरोध उन्हें सालने लगता है। वह लिखती है कि "पिताजी की आजादी की सीमा यहीं तक थी कि उनकी उपस्थिति में घर आए लोगों के बीच उठूँ-बैठूँ, जानूँ-समझूँ। हाथ उठा-उठाकर नारे लगाती, हड़तालें करवाती, लड़कों के साथ शहर की सड़कें नापती लड़की को अपनी सारी आधुनिकता के बावजूद बर्दाश्त करना उनके लिए मुश्किल हो रहा था तो किसी की दी हुई आजादी के दायरे में चलना मेरे लिए। जब रगों में लहू की जगह लावा बहता हो तो सारे निषेध, सारी वर्जनाएं और सारा भय कैसे ध्वस्त हो जाता है, यह तभी जाना और अपने क्रोध से सबको थरथरा देने वाले पिताजी से टक्कर लेने का जो सिलसिला तब शुरू हुआ था, राजेन्द्र से शादी की, तब तक वह चलता ही रहा।"[49]

पुरुष वर्चस्व की रणनीति अपने से कमतर पर शासन और शोषण करने की रही। तथाकथित समाज को ठेकेदार व संरक्षक व्यक्ति विशेष वास्तविकता के धरातल पर बिल्कुल विपरीत व्यवहार करते हैं। अपनी वीरता का दंभ भरने वाले अवसर आने पर कायर बन जाते हैं। सफल राजनीतिक और समाज सेवी रमणिका ऐसे दंभी पुरुषों की चालों और हथकंडों से भली भांति परिचित हैं। पुरुषों को दोहरी प्रवृत्ति आज से नहीं सदियों से चली आ रही है। वह कटाक्ष करती है कि ''इतिहास गवाह है कि हमेशा वक्त पर ये सब दंभी पुरुष पांच पांडव बन जाते रहे हैं या फिर अपनी अक्षमता छिपाने के लिए ऐसी परिस्थिति में अपनी औरतों को जौहर में झुलसकर मरने को गौरवान्वित कर अपने अहम् को तुष्ट करते रहे हैं।''[50]

स्त्रियाँ अपनी समानता और स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत है। परिवार और समाज में अपनी उपस्थिति मात्र अधीन की न स्वीकार कर बल्कि मनुष्या की मांग करती है। एक स्वस्थ समाज का निर्माण खुशहाल परिवार पर निर्भर करता है और स्त्री उस परिवार की धुरी है। फिर इतना भेदभाव और असंयमित व्यवहार क्यों? क्या इसलिए कि सदियों से यही परंपरा चली आ रही है या फिर पुरुष वर्ग स्त्री को कमतर साबित कर अपनी श्रेष्ठता का परचम लहरा सके। स्त्रियाँ एक ऐसे परिवार और समाज के निर्माण में प्रयासरत है जहाँ उन्हें भी सभी अधिकार पुरुषों के समतुल्य मिले, कम-से-कम उन परिस्थितियों जहाँ वह पुरुषों से किसी भी क्षेत्र में कमतर नहीं हैं। ''मुझे आज भी यही अहसास होता है कि जीवन तो नर नारी दोनों का एक सा ही बीतना चाहिए। समझ व विश्वास से, उसे तानाशाही की कालिख लगे संबंध को अंधेरा बना देता है। मैं दो पल इन्हें ताकती रही, जिनकी दृष्टि में कोई अपनापन आत्मीयता न होकर अहं व

गर्व ही झलक रहा था। भला नई बहु से पति ऐसे बात करते हैं, समझकर भी कह सकते हैं, अपनत्व से भी बोल सकते हैं।''[51]

स्त्रियां अपने संबंधों के प्रति पूर्णत: समर्पित भी रहती है और स्वीकृत भी करती है चाहे वह संबंध पिता-भाई-पति किसी का भी हो। परन्तु एक पुरुष स्त्रियों के लिए सदैव द्वैय की स्थिति में रहते हैं। एक तरफ तो उन्हें स्त्रियों के दाय की प्राप्ति की इच्छा तो दूसरी तरफ उनके अस्तित्व को ही अस्वीकृत करते हैं। हमेशा संशयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं। गगन गिल कहती है कि ''एक स्त्री तो पुरुष में सर्वस्व समझ सकती है परंतु कभी भी स्त्री के प्रति पूर्णत: उदार नहीं हो सकता। ''लेकिन एक भिक्षु क्या देखता है ऐसी के मुख पर?

निश्चय ही वह उसका पिघला हुआ चेहरा देखता है।

लेकिन वह कुछ और भी देखता है।

उसकी वर्जित देह।

उसका जाल।

उसका जंजाल।

एक स्त्री के प्रति एक भिक्षु कभी करुणामय नहीं हो सकता। सबसे उदात्त क्षणों में भी नहीं।''[52]

पितृसत्ता स्त्री के संरक्षण और भरण पोषण का आश्वासन तो देती है परंतु यह आश्वासन छलावा मात्र है। पितृसत्ता अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए यह सब हथकंडे अपनाती है और उन्हीं की आड़ में अपनी सत्ता को पालती और पोसती है। प्रसिद्ध चिंतक प्रभा खेतान कहती हैं कि पितृसत्ता हमेशा ऐसी दीवारें खड़ी करती है जिसमें एक स्त्री अपने को सुरक्षित और खुश रहने का भ्रम पालती रहे ''हमारी औरतें

वह चाहे बाल कटी हो या गाँव देहात से आई हो, कभी भी सुरक्षित नहीं। उनके साथ कुछ भी घट सकता है। सुरक्षा का आश्वासन पितृसत्तात्मक मिथक है। स्त्री कभी सुरक्षित थी ही नहीं। पुरुष भी इस बात को जानता है। इसलिए सतीत्व का मिथक संबंधित करता रहता है। सती-सावित्री रहने का निर्देशन स्त्री को दिया जाता है पर कोई स्त्री सती रह नहीं पाती। हाँ, सतीत्व का आवरण जरूर ओढ़ लेती है। या फिर आत्मरक्षा के नाम पर जौहर की ज्वाला में छलाँग लगा लेती है।''[53]

बौद्धिक और शिक्षित व्यक्ति ही अपने अस्तित्व और अधिकार के प्रति उत्सुक और इच्छित रहता है। आधुनिक और आत्मनिर्भर स्त्रियों ने अपनी वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात किया और कारण खोजे प्रश्नों के क्रम लगाए, परंतु इन अनुत्तरित प्रश्नों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई बल्कि बढ़ोत्तरी ही हुई। वह परिवार समाज और यहाँ तक स्वयं को इन अनुत्तरित प्रश्नों के प्रति उत्तरदायी मानती है। ऐसा नहीं है कि इससे पूर्व स्त्रियों ने प्रश्नों को व्यक्त नहीं किया या अपनी छटपटाहट व्याकुलता को व्यक्त नहीं किया अवश्य किया। लेकिन तब उनके पास आधार या आत्मनिर्भर का अभाव हमेशा खटकता रहता था। जिसके कारण वह पुरुषों के समक्ष अपने को हेय समझती थी। प्रभा खेतान कहती हैं कि ''इन अनुत्तरित प्रश्नों के प्रति उत्तरदायी कौन? ''कुछ था डॉक्टर साहब के मन में जो इतने वर्षों से बूंद बूंद कर इकट्ठा हो रहा था और जो इन दिनों बात-बेबात मुझ पर गरज-बरसकर ही शांत होता।'' मुझे कभी अपनी बेबसी और लाचारी पर गुस्सा आता तो कभी मैं भी पलटकर वार किए बिना नहीं मानती। मुझे अपने स्त्रीपन से चिढ़ हो रही थी, आखिर हम स्त्रियाँ अपने प्रिय पुरुष की अहं संतुष्टि के लिए खुद का अवमूल्यन क्यों करती है, किसलिए गुलाम की तरह उस पुरुष को हर मूर्खता एवं कुंठा को झेलती रहती है। मैं ही आखिर क्यों और किसलिए यह सब

बर्दाश्त करूँ? क्या मैं मेहनत नहीं करती? क्या मैं पैसे नहीं कमाती? दूसरा मन तुरंत पलटकर मुझसे कहता चुप! बिल्कुल चुप!! इन बातों को जबान पर नहीं लाना। नहीं तो मार दी जाओगी।''[54]

पुरुष मालिकाना अधिकार सिर्फ और सिर्फ अपने पास रखना चाहता है। स्त्रियों को अपने उदारवादी दृष्टिकोण के तहत घर-परिवार के स्वामित्व का भ्रम में रखता है। स्त्रियाँ इसी छलावे में रहती है कि घर की, परिवार की सत्ता उनके हाथों में है परन्तु पुरुष पिता भाई, पति और बेटे के रूप में शासन करता है क्योंकि परंपराएं और मान्यताएं तो उसी की गढ़ी हुई हैं। बौद्धिक स्त्री, पुरुषों की इस रणनीति को भली भांति परिचित हो रही है, सोचती है, समझती है। और कहती है कि ''डॉक्टर साहब के अनुसार मालिक एक होता है, और वह पुरुष ही होता है।

''क्यों? स्त्री क्यों नहीं?''

''वह अपनी गृहस्थी की मालकिन होती है।''

गृहस्थी की मालकिन शब्द से मुझे हँसी आ जाती मिसेज सर्राफ तो डॉक्टर साहब की गृहस्थी चला रही हैं लेकिन यह किसकी गृहस्थी है? डॉक्टर साहब की। किसके बच्चे हैं? डॉक्टर साहब के नाम पर चलता हुआ वंश है। बैंक की पासबुक डॉक्टर साहब के पास रहती है। परिवार के सदस्यों पर डॉक्टर साहब नैतिक निर्णय देते हैं। तब मिसेज सर्राफ क्या करती हैं? वह घर के चकले-बेलन को अपनी ढाल-तलवार बनाती हैं। मालकिन शब्द में छपे हुए विरोधाभास को कम से कम मैं समझने लगी थी।''[55]

पुरुष वर्ग अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए अपनी पीढ़ी या फिर अपनी सत्ता ऐसे हाथों में सौंपता है जो उनकी सत्ता को अग्रसर कर सके, स्थायित्व दिला सके। इन सत्ता के संवर्धन के लिए वह लिंग भेद की अवधारणा को जन्म देता है। जन्म से ही

लड़की और लड़के के बीच ऐसी विभेदक रेखा खींच दी जाती है जो जीवन पर्यन्त आचार व्यवहार, रीति-रिवाज, संस्कारों के रूप में निरूपित होती है। सन् 1915 ई. में लिखी गई आत्मकथा सरला एक विधवा की आत्मजीवनी में सरला परिवार और समाज में व्याप्त लैंगिक वैषम्य को अभिव्यक्त करती है ''सोचने लगी मोहन लड़का और लाडली में फर्क क्या है? सबसे पहिले प्रत्यक्ष यही दिखाई दिया कि मोहन लड़का और हमारी गुड़िया अभाग्य से लड़की थी। फिर याद आया कि यद्यपि यह कहा जाता है कि पहिले लड़की का पैदा होना शुभ है किंतु स्वयं माता को भी लड़की के पैदा होने से वह प्रसन्नता नहीं होती जो उसे लड़के के पैदा होने में होती है। तीसरे लड़की के पैदा होते ही लोग दु:ख मना लेते हैं इसलिए इसके मरने पर उन्हें दु:ख करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसके विपरीत लड़के के पैदा होते ही लोग खुशी मनाते हैं इसलिए उसके मरने पर वे दु:ख करते हैं।''[56] सन् 1915 ई. में सरला भी समाज में व्याप्त लिंग भेद के कारणों को जानने का प्रयत्न करती है और सन् 2002 ई. में प्रकाशित सतरें और सतरें की अनीता इन कारणों का शिकार भुक्तभोगी माँ के रूप में पितृसत्ता की संवाहक एक स्त्री जो अपने बेटे और बेटी में अंतर रखती है। अनीता के व्यक्तित्व विकास में या एक स्त्री के व्यक्तित्व विकास में इन प्रतिरोधों को किस प्रकार उत्तरदायी है स्पष्ट होता है? ''माँ को मेरा भाई हर तरह से मुझसे ज्यादा बेहतर लगता था और कुछ न भी हो तो उसका लड़का होना ही उन्हें एक बहुत बड़ी लियाकत लगती थी। ''वह काम कर सकता है क्योंकि वह लड़का है। वह हंस सकता है क्योंकि वह लड़का है। वह खेल सकता है क्योंकि वह लड़का है.....।'' अर्थात वह सब कुछ कर सकता है क्योंकि वह लड़का है। मैं कुछ भी नहीं कर सकती क्योंकि मैं लड़की हूँ। मैं

इतनी अड़ियल और जिद्दी हो गई कि माँ तक मुझे कहती थी कि मैं कुढ़-कुढ़कर मर जाऊँगी।''[57]

जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लैंगिक वैषम्य का निरूपण व्यक्ति, परिवार, समाज सभी के द्वारा होता है। पुरुष होना मात्र प्रभुत्व, सत्ता, वर्चस्व का अधिकार उसके पास आ जाता है। पुरुष नामक संज्ञा इनका संवहन करने के लिए पर्याप्त है। शीला झुनझुनवाला अपने लड़की होने पर प्रश्न चिह्न लगाती है। ''बचपन में मेरे और भाई के बीच इतना भेदभाव क्यों, क्या उसका मात्र लड़का होना ही सब कुछ है ''लड़की होना मानो संकीर्णता की जंजीरों में जकड़े रहना। लड़के और लड़की एक रेखा के दो छोर-लड़कों पर सारा प्यार-दुलार लुटाया जाए - वह पढ़े नहीं तो टीचर रखा जाए। मैं नहीं पढूं तो किसी को कोई वास्ता नहीं। क्या फायदा ज्यादा पढ़े-लिखकर। आखिर मुझे तो चूल्हा ही झोंकना है। लड़कों की आवारागर्दी और सौ खून माफ और मुझे इन बंधनों में जकड़कर रखना कि यहाँ नहीं जाना, वहां नहीं जाना। इतनी रूकावटें कि दो कदम भी कहीं आगे बढ़े तो साथ में एक भाई को लेकर जाओ, चाहे वह उम्र में मुझसे दस साल छोटा ही क्यों न हो। समय पड़ने पर वह क्या मेरी रक्षा करेगा? मुझे ही उसे संभालना पड़ेगा।''[58]

सामाजिक और संस्कृति मान्यताएँ ही (जो पुरुषों के द्वारा गढ़ी गई) स्त्रियों की दीनहीन दशा के द्योतक तो है ही साथ ही वह आगे आने वाली पीढ़ी को दक्ष करती है। स्त्रियों पर दबाव व शासन स्थापित करने के लिए। पुरुष वर्ग अपनी मानसिकता में बिठाकर चलता है कि स्त्री ऐसा जीव है जिसकी सेवाएँ तो ली जा सकती है और जब चाहे तब उसे अस्तित्वहीन घोषित किया जा सकता है। ''अरी पद्मा, बेवकूफ लड़की, आज तक दुनिया की कोई भी औरत शराबी पति को सूफी नहीं बना सकी। मर्द इश्क

करता है। मर्द का इश्क औरत के लिए दुनिया का सबसे खूबसूरत करिश्मा है। सबसे सुंदर वस्तु है, दाय है। पर मर्द के अहंकार को कोई स्त्री नहीं तोड़ सकी। अगर उसका अहंकार टूट भी जाता है तो भी वो कभी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसके पुरखों ने मर्द को ये शिक्षा दी है कि स्त्री पांव की जूती होती है, छोटी बड़ी हो जाए तो उसे उतार फेंक। नई खरीद लो। गंठवा लो।''[59] पुरुष का प्रभुत्व आज की अबकी बात नहीं अनादिकाल से चली आ रही परम्परा है समय के साथ उसके रूप परिवर्तित होते जाते हैं। यदि स्त्री अनपढ़ है निस्याह आश्रित तो भिन्न और यदि शिक्षित आत्मनिर्भर बौद्धिक तो भिन्न तरीके उसके दमन और शोषण के अपनाए जाते हैं।

स्त्री आत्मकथाएँ अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम से अपनी अस्मिता को स्थायीत्व दिलाने हेतु प्रयत्नरत हैं। पुरुष वर्चस्व का प्रतिरोध कभी पितृसत्ता, कभी लिंगभेद और कभी वर्गगत, जातिगत अवरोध के रूप में उनके पथ को बाधित करते रहे हैं। सिद्धांतगत दृष्टि से देखें तो कुछ मुख्य तथ्य स्पष्ट होते दिखाई देते हैं-

1. सारे साहित्यिक प्रतिमान पुरुष समुदाय का वर्चस्व स्थापित करने के हेतु ही निर्मित किये गये हैं।
2. पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री का निरंतर शोषण उसके अस्तित्व और अस्मिता को कुचला जाना, इनके विरोध में स्त्री का संघर्ष। (पुरुष प्रभुत्व का बोध और उसका विरोध)
3. सामाजिक सांस्कृतिक उपेक्षा।
4. अनुभूति को अभिव्यक्त करने में बाह्य और आंतरिक द्वंद्व
5. लैंगिक वैषम्य और वर्ग चरित्र के कारण कई बार अंतर्विरोध।

6. आत्मकथाएँ अगेन्स्ट द करेंट अर्थात धारा के विपरीत तैरने के लिए प्रेरित करती है।
7. पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना का वैश्विक स्तर पर हावी होना। राष्ट्रीय संरचना पर पितृसत्तात्मक मानसिकता का हावी होना, इसका विरोध सार्वभौम घटना है।
8. अप्रत्याशित, अनसुने, आधारभूत, जटिल तथा असुविधाजनक प्रश्न उठाये गये हैं।
9. स्त्री की वैचारिक दृष्टि को नए आयाम देने का प्रयास।
10. समानतावाद की स्थापना।
11. स्त्री आत्मकथाएँ मुक्ति के साधन रूप या औजार रूप में तात्कालिक समय तथा नए संदर्भ को मापने के मानदंड।
12. बिना किसी पूर्वग्रसित मानसिकता के पुरुष वर्चस्व परंपरा का बुनियादी ढांचा बदलने का प्रयास।
13. अधिकारों का निर्धारण।

आज भी पितृसत्ता अपना वर्चस्व निर्बाध गति से आरोपित करने में सक्षम है। देश, काल, जाति, वर्ग, लिंग सभी को इसने अपनी चपेट में लिया है। अनादि काल से वर्तमान तक इसके रूप परिवर्तित हो रहे हैं पर यह नहीं। जगदीश्वर चतुर्वेदी का वक्तव्य ध्यातव्य है कि फलत: "पितृसत्तात्मक आधुनिक काल में आर्थिक राजनीति संरचना के बदलने के बावजूद बरकरार है। व्यवस्था बदलने से एटीट्यूड नहीं बदल जाते। एटीट्यूड बदलने के लिए सचेत विचारधारात्मक संघर्ष की जरूरत होती है। आज पितृसत्तात्मक राजनीतिक व्यवस्था का अंग होने के साथ ही साथ मन की आदतों

या जीवन शैली का भी सहज अंग प्रतीत होती है।''[60] स्त्रियाँ अपने संघर्ष का वर्षों से गतिमान पुरुष सत्ता के विरोध में संचालित होता है क्योंकि पितृसत्ता स्त्री को हीनतर और स्वयं को श्रेष्ठ साबित करने का दावा प्रस्तुत करती है। पुरुष वर्चस्व की जड़ें ढीली करने तथा मुख्य धारा में स्थापित होने के लिए यह संघर्ष आवश्यक है और यही वर्तमान की माँग है। यदि विद्रोह नहीं होगा तो अधिकार की प्राप्ति का प्रश्न कोरी कल्पना बनकर रह जाएगा। ''स्त्री विषयक संदर्भों में पुरुष की भूमिका शोषक की रही है अथवा उद्धारक की। पुरुष संस्कृति ने पितृसत्ता के माध्यम से पुरुष को अर्थ संपन्न्ता और स्वामित्व के अधिकार सौंपे हैं और स्त्री को मिली है अधीनता, अर्थ पर निर्भरता और दासत्व। पुरुष को यह व्यवस्था ताकतवर बनाती है और स्त्री को कमजोर। इसलिए स्त्री का संघर्ष पुरुष के साथ द्वंद्वात्मक स्थिति रखने में नहीं वरन् पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करने में है।'' संघर्ष की इस शक्ति स्त्री को अर्जित करना पड़ा है जूझना पड़ा है तब कहीं जाकर वह इतना साहस बटोर पायी है कि सार्वजनिक तौर पर कुछ कहने बोलने और लिखने की हिमाकत कर सके।

''आज के संदर्भ में पितृसत्ता को निरूपित किया जाए तो विकास और आधुनिकता के साथ उसे गति और संदर्भों को जोड़ा जा सकता है। अभय कुमार दुबे कहते हैं कि भूमंडलीकरण ने पितृसत्ता के कुछ नए रूप रचे। उसे परंपरा और धर्म के अलावा आर्थिक आधुनिकीकरण और वैकासिक आग्रहों को भी नई पितृसत्ता का जनक बना दिया, जबकि कभी इन दोनों को औरत की आबादी का संभावित जरिया माना जाता था।''[61] पुरुष वर्चस्व की दीर्घकालीन परंपरा समय के साथ अपने रूपों का निर्माण करती है। जो कि स्त्री अस्मिता, स्वतंत्रता, समानता में बाधक है। इसका निर्मूलन स्त्री मुक्ति के साथ ही जुड़ा हुआ है।

संदर्भ

1. दलित महिलाएँ इतिहास वर्तमान और भविष्य - लेख - प्रभावी सामाजिक आंदोलन से ही संभव है महिला सशक्तिकरण - लेखक - डॉ. हरिमोहन धवन, पृ.सं. 182, श्री नटराज प्रकाशन
2. वही, पृ.सं. 184
3. दलित आत्मकथाएँ इतिहास वर्तमान और भविष्य - लेख - डॉ. अम्बेडकर और महिला ..... लेखिका - रजनी तिलक, पृ.सं. 104, वर्ष श्री नटराज प्रकाशन
4. वही, पृ.सं. 110
5. वही, पृ.सं. 110
6. साहित्यिक वार्षिक इंडिया टुडे - 1996
7. औरत अस्तित्व और अस्मिता - अरविन्द जैन, पृ.सं. 13, प्र.सं. 2001, राजकल प्रकाश्न
8. वही, पृ.सं. 14
9. पितृसत्ता के नये रूप - सं. राजेन्द्र, प्रभा, अभय, पृ.सं. 17, प्र.सं. 2003, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
10. वही, पृ.सं. 19
11. वही, पृ.सं. 109
12. समकालीन साहित्यिक समाचार - संपा. सत्यव्रत, अप्रैल 1997, पृ.सं. 4, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली

13. पितृसत्ता के नये रूप - सं. राजेन्द्र, प्रभा, अभय, पृ.सं. 135, प्र.सं. 2002, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
14. समकालीन साहित्यिक समाचार - संपा. सत्यव्रत, अप्रैल 1997, पृ.सं. 18, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली
15. आलो आंधारि - बेबी हलदार, पृ.सं. 59, प्र.सं. 2002, अनुवादक प्रबोध कुमार, रोशनाई प्रकाशन, पश्चिम बंगाल
16. 19वीं सदी में स्त्री चेतना और ताराबाई शिंदे - वीर भारत तलवार - तद्भव पत्रिका, संपा. अखिलेश, पृ.सं. 185, 18/201,इंदिरा नगर, लखनऊ
17. औरत अस्तित्व और अस्मिता - अरविन्द जैन, पृ.सं. 14
18. पितृसत्ता के नये रूप - सं. राजेन्द्र, प्रभा, अभय, पृ.सं. 123, प्र.सं. 2002, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
19. वही, पृ.सं. 124
20. वही, पृ.सं. 126
21. वही, पृ.सं. 129
22. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श - जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ.सं. 192,प्र.सं. 2002, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली
23. लिखने से लिख ली जाती है एक दुनिया - सविता सिंह - उद्भावना पत्रिका, सितंबर 2010, पृ.सं. 15
24. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श - जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ.सं. 209, प्र.सं. 2002, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली

25. दलित स्त्री आत्मकथन : विगत से संवाद - विमल थोराट, पृ.सं. 21, प्र.सं. 2002,अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली
26. औरत - उत्तरकथा - पहलीबार मैं - दिलीप कौर टिवाणा, सं. राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ.सं. 51,प्र.सं. 2002, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
27. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य - राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ.सं. 183
28. एक अनपढ़ कहानी- सुशीला राय, पृ.सं. 19
29. सतरें और सतरें - अनीता राकेश,पृ.सं. 153, प्र.सं. 2002, राधा प्रकाशन, दिल्ली
30. कुछ कही कुछ अनकही - शीला झुनझुनवाला, पृ.सं. 199, वर्ष , टी.पी. झुनझुनवाला फाउंडेशन, नई दिल्ली
31. गुड़िया भीतर गुड़िया - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 189, प्र.सं. 2008, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
32. वही, पृ.सं. 190
33. वही, पृ.सं. 20
34. वही, पृ.सं. 287
35. पिंजरे की मैना - चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ.सं. 220,प्र.सं. 2008, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली
36. वही, पृ.सं. 221
37. गुड़िया भीतर गुड़िया - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 225, प्र.सं. 2008, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

38. लगता नहीं दिल मेरा - कृष्णा अग्निहोत्री, पृ.सं. 326, प्र.सं. 2010, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली
39. वहीं, पृ.सं. 326
40. कस्तूरी कुंण्डल बसै - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 23, प्र.सं. 2002, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
41. वही, पृ.सं. 78
42. अन्या से अनन्या - प्रभा खेतान, पृ.सं. 7,प्र.सं. 2007, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
43. वही,पृ.सं. 76
44. हादसे- रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 44, प्र.सं. 2005, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
45. वही, पृ.सं. 95
46. वही, पृ.सं. 186
47. एक कहानी यह भी - मन्नू भंडारी, पृ.सं. 216, प्र.सं. 2007,राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
48. वही, पृ.सं. 65
49. वही, पृ.सं. 23
50. हादसे- रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 251, प्र.सं. 2005, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
51. लगता नहीं दिल मेरा - कृष्णा अग्निहोत्री, पृ.सं. 98, प्र.सं. 2010, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली

52. दिल्ली में उनींदे - गगन गिल, पृ.सं. 79, प्र.सं. 2006, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

53. अन्या से अनन्या - प्रभा खेतान, पृ.सं. 208, प्र.सं. 2007, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

54. वही, पृ.सं. 213

55. वही, पृ.सं. 214

56. सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी,सं. प्रज्ञा पाठक, पृ.सं. 48, प्र.सं. 2008, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली

57. सतरें और सतरें - अनीता राकेश,पृ.सं. 30, प्र.सं. 2002, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

58. कुछ कही कुछ अनकही - शीला झुनझुनवाला, पृ.सं. 13, प्र.सं. टी.पी. झुनझुनवाला फाउंडेशन, नई दिल्ली

59. बूँद बावड़ी - पद्मा सचदेव, पृ.सं. 132, प्र.सं. 1999, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

60. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श - जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ.सं. 240,प्र.सं. 2002, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली

61. पितृसत्ता के नये रूप - राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान, अभ्य कुमार दुबे, पृ.सं. 63,प.सं. 2003, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी की स्त्री आत्मकथाएँ - आत्म और इतिहास की अभिव्यक्ति

(प्रमुख स्त्री आत्मकथाओं के संदर्भ में)

आत्मकथा विधा का आधार तत्व आत्म या स्व की उपस्थिति होना है। उसके अभाव में इस विधा की विकास यात्रा संदेहास्पद होगी। स्त्री आत्मकथाओं में आत्म की उपस्थिति व्यक्तिगत होते हुए भी समूहगत, जातिगत होती है। यह आत्म कहीं होता नहीं बल्कि अर्जित करना पड़ता है। स्त्री आत्मकथाओं में इस आत्म की अभिव्यक्ति कहीं स्वीकृत, कहीं उद्घाटित और कहीं सम्मिलित रूप में स्पष्ट होती है। जैसा कि सुधा सिंह लिखती हैं ''कि स्व या सेल्फ पुंसवादी समीक्षा में आत्मकथा लेखन का बुनियादी आधार है। वह कहीं होता नहीं है बल्कि बनाया जाता है। अर्जित किया जाता है। यह स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक 'स्व' वह है जो अंतर्युक्त है। भरा-पूरा है। इंसान के होने की अनिवार्य शर्त है। आधुनिक अर्थ में 'स्व' को हासिल करने की कोशिश इस 'स्व' से दूर भागने की कोशिश है। यहाँ तक कि इस स्व की सहज स्वामिनी स्त्री को भी इसके कारण हीनता बोध कराया जाता है। क्योंकि स्त्री के स्व और संसार के बाहरी स्व के बीच बड़ा अंतर होता है। उसके अंतर्भुक्त स्व को स्व की कोटि से ही खारिज कर दिया जाता है। स्त्री के स्व की अन्यतम विशेषता होती है कि इसमें बहुत स्पेस होता है। अपने से ज्यादा दूसरे के लिए। यह एक किस्म की अंतक्रिया है स्वयं, अन्य तथा वास्तविक संसार के बीच।''[1]

वाह्य जगत के साथ इस आत्म का समन्वय ही स्त्री आत्मकथा को केन्द्र बिन्दु माना जा सकता है। क्योंकि व्यक्ति के अंत:जगत से बाहरी संसार से संबंध ही स्त्री

आत्मकथाओं को गति प्रदान करता है। सुधा सिंह के शब्दों में ''बाहरी दुनिया के साथ संपर्क का नाम स्त्री आत्मकथा।''[2] संपर्क की इस प्रक्रिया में स्त्री का जीवन विविध आयामों से गुजरता हुआ अपने अपने आत्म को पाने की कोशिश में लगा रहता है। स्त्री अपने आत्म को अपने से जुड़े विभिन्न पहलुओं में प्रस्तुत करती है। स्त्री अपने को मुख्यत: तीन स्थितियों में व्यक्त करती है। सामाजिक आत्म, पारिवारिक आत्म और निज आत्म। ये तीनों आत्म 'स्व' न रहकर संपूर्ण स्त्री स्व बन जाते हैं। वह व्यक्ति या स्त्री विशेष का न होकर समाज रूपी स्व में परिवर्तित होता रहता है। जैसे ''स्त्री का स्व मैं, हम और वे में संतरित होता रहता है। स्त्री के आत्मकथात्मक लेखन में स्त्री के कई मैं होते हैं। वह आसानी से इनके भीतर आती जाती रहती है। मैं, हम, वे की भूमिकाओं में संतरण के कारण स्त्री के लेखन में बिखराब दिखाई देता है।''[3]

आत्म के स्त्री जगत में जो आत्मकथा अपनी वैचारिक उपस्थिति में दर्शित होती है वह है सन् 1882 ई. में एक अज्ञात हिन्दू औरत कृत सीमन्तनी उपदेश जिसके संपादक डॉ. धर्मवीर भारती। यह कृति व्याभिचार चाहे वह पुरुष द्वारा हो या स्त्री द्वारा दोनों पर कटाक्ष करती है। स्त्रियों की वर्तमान दशा, धर्म, व्यवहार अधिकार को नैतिकता और अनैतिकता के मानदंडों के साथ प्रस्तुत किया गया है। लेखिका का स्व हम और वे से संवरित होता रहता है। वह अपने स्व को उस समय की तमाम स्त्रियों के साथ जोड़ती है। विशेषकर वैवाहिक स्त्रियों के रीति-रिवाजों तथा विधवाओं की दुर्दशा में व्यक्त करती है। विधवाओं का संतान द्वारा निरादर व कुदशा देखने पर कहती है कि ''अव्वल तो मुझे कभी औलाद की ख्वाहिश ही नहीं होई थी मगर जो कुछ थी वह इसका हाल देखने से जाती रही। उस वक्त मैंने परमेश्वर का बड़ा शुक्र किया कि मुझे दु:ख देने वाली औलाद से माफ किया।''[4]

लेखिका विधवाओं की समस्याओं और उनसे उत्पन्न अन्य समस्याओं को देश, समाज व जाति के लिए ग्रहण रूप में देखती है। वह स्वयं एक विधवा है और एक विधवा का आत्म सारी विधवाओं के आत्म का बोध कराता है। अपनी पुस्तक में वह लिखती हैं कि "हिन्दुस्तान में जब किसी औरत का खाविंद मरता है उस बिचारी की बहुत बुरी दुर्दशा करते हैं। मगर पंजाब में यह दस्तूर नहीं है। हिन्दुस्तानी औरतों का हाल लिखती हूँ। सब कौमों से कायस्थों की कौम में बहुत सख्त दस्तूर है।"[5]

यहाँ विशेष स्त्री आत्म जातिगत आत्म या समूहगत आत्म के रूप में मुखरित होता है। उन तमाम स्त्रियों की तरफ से ईश्वर को अपनी दयनीय स्थिति का आभास कराती है और अपनी छटपटाहट को व्यक्त करती हुई कहती है कि "हे परमेश्वर, हमारी फरियाद सुन। हम मजलूमों की फरियाद पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। हमने इस हिन्दुस्तान में चारों तरफ पुकार-पुकार और रो-रो के हरेक के सामने फरियाद की लेकिन किसी ने हमारे बावैले पर कान न धरे न पलक उठाके देखा। हमने खूब गौर किया इस दुनिया में देख लिया, मगर सिवा तेरे हमारी बेकसी, बेबसी, बेकही बेइज्जती की फरियाद को सुनने वाला कोई नजर नहीं आया। तू गौर से हमारी फरियाद सुन। मुद्दत से हिन्दियों के दिमाग में जहालत की अंधेरी चल रही है। उससे जुल्म की गर्द उड़-उड़ कर हमारे ऊपर पड़ती है। जैसे कोई मकान बहुत देर तक गर्द पड़ने से दब जाता है उसी माफिक हमारी हालत है। हम निकलने की ताकत नहीं रखती है। जैसे गन्ने का रस निकाल लेने से छिलका रह जाता है वैसे ही हमारी हालत है।"[6]

सीमन्तनी उपदेश में स्त्रियों की दयनीय स्थिति का वर्णन, धर्म की गलत धारणा, अंधविश्वास आदि का लेखिका ने बड़ी बेबाकी और तार्किक ढंग से चित्रण प्रस्तुत किया है। लेखिका समानता और स्वतंत्रता को मुख्य से स्पष्ट करती है वह कहती है

कि ''हे जगत पिता क्या तूने हमको पैदा नहीं किया? क्या हमारा पैदा करने वाला कोई और खुदा है? लोगों ने तेरा नाम मर्द करार दिया, इसलिए तू भी हिन्दियों की तरह बेरहम बन गया है। अगर तुझको हमारी यही हालत मंजूर थी तो हमारी पैदाइश किसी तरह से करता है जिससे हमको भी तसल्ली होती। और मजलूमों की फरियाद तो दुनिया की अदालत में भी सुनी जाती है, क्या तूने हम मजलूमों के लश्कर को देखकर अपनी अदालत का दरवाजा बंद कर लिया है?[7]

स्त्री स्वातंत्र्य के बीज वह स्वयं से बोने को कहती है। जब तक तुम स्वयं अपनी पीड़ा दु:ख को समाप्त करने के लिए आगे नहीं बढ़ोगी तब तक कोई चमत्कार नहीं होने वाला। वह लिखती हैं कि ''जब तक खुद इन बेड़ियों को न उतारोगी चाहे हिन्दुस्तानी विलायत में तालीम पावें कभी शामस्ता नहीं बन सकते।''[8] लेखिका पारिवारिक आत्मक को समानता की सीढ़ी पर व्यक्त करती है। जब पुरुष और स्त्री को एक ईश्वर ने बनाया तो दोनों के जीवन निर्वाह में इतना भेद क्यों है? अन्य स्त्रियों से वह प्रश्न करती है कि ''तुम्हारे वास्ते तुम्हारे खाविंद कौन सी निशानी रखते हैं? और मुझे याद आ गई मर्दों को क्या जरूरत है जो इनके लिए तकलीफ उठावें, क्योंकि एक जोरु के मरने से बहुत मिल सकती है; बल्कि इनकी जिंदगी में ही। मगर इनको खाविंद के मरने से दूसरा कहाँ!''[9]

आत्मकथाकार अपनी आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से अपने स्व को स्वतंत्र रूप से मुखरित करता है कर सकता है यह उस पर निर्भर है वह अपने आत्म को किस रूप में और कितने रूप में प्रस्तुत करेगा। उसे बंदिशे रोक नहीं सकती है। ''आत्म वर्णन करते समय आत्मकथाकार उन चीजों का विरोध करता है जिसे उसका आत्म मानने को तैयार न हो। आत्म को व्यक्त करते समय व्यक्ति 'स्व' में कैद नहीं रहता। बल्कि

अपने अलगाव और अज्ञान को दूर करने में आत्म की मदद लेता है। आत्मकथा का मकसद आत्म सत्य को बताना नहीं है। उसका मकसद है आत्म सत्य का खंडन करना। आत्म की बंद गलियों के बाहर आना और उन तमाम चीजों का खंडन करना जिनसे आत्म भिन्न नजर आता है।''[10]

आत्मकथाकार जीवन और समाज के दायरों के भीतर जो कुछ पाता है और पाना चाहता है उसके बीच कड़ी उपस्थिति करता है। अपने लेखन के माध्यम से वह इस कड़ी को मजबूत और स्पेस की पूर्ति करना चाहता है। जिसे वह भर नहीं पाया। स्त्री का स्व जितना व्यक्त है उतना अव्यक्त भी। अव्यक्त स्व को प्राप्त करने की प्रक्रिया ही आत्म लेखन है। क्योंकि ''लेखन में वह शक्ति होती है उसके जरिये सेल्फ को हासिल किया जा सके। अभाव को पूरा किया जा सके।''[11]

सीमन्तनी उपदेश की लेखिका बहुत कुछ बदलना चाहती है। वह अपने जीवन के अभावों को स्त्री जाति की स्वतंत्रता और समानता से भरना चाहती है। वह कहती है कि ''अगर इस दुनिया में खुशी है तो उन्हीं की है जो अपने तईं आजाद रखते हैं। हिन्दुस्तानी औरतों को तो आजादी किसी हालत में नहीं हो सकती। बात, भाई बेटा रिश्तेदार-सभी हुकुमत रखते हैं। मगर जिस कह खाविंद जुल्म करता है उतना कोई नहीं करता। लौंडी तो यह सारी उम्र सब ही की रहती है पर शादी करने से तो बिल्कुल जरखरीदी हो जाती है। इस दुनिया में चाहे बादशाहत की नियामत मिले और आजादी न हो, नर्क की बराबर है। आजादी में चाहे तीन दिन बाद रोटी मिले स्वर्ग से भी ज्यादा आराम है।''[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संपूर्ण कृति अपने स्व को हम में रूपायित करने का प्रयास है। स्त्री आत्म कोई भी साहित्यिक कृति अपने साथ-साथ तत्कालीन समय की

कहानी कहती है। पहले के समय में अगर हम देखें तो साहित्य ने इतिहास का आश्रय लिया है और इतिहास ने साहित्य का बहुत ही कम। परंतु कालांतर में चीजें परिवर्तित हुई और आज इतिहास साहित्य के माध्यम से अपने रास्ते नवनिर्मित कर रहा है। साहित्य और इतिहास एक-दूसरे पर कम या अधिक आश्रित हो सकते हैं।आत्मकथा के संदर्भ में देखें तो चूंकि आत्मकथाकार उस समय की समकालीन घटनाओं और सामाजिक शक्तियों का स्वयं भोक्ता है तो उनका विश्लेषण वह अपने बौद्धिक स्तर करेगा या कहें कि ऐतिहासिक बोध होने पर ही अभिव्यक्ति के माध्यम से वास्तविकता को प्रकट करेगा। जिसमें हेर-फेर की गुंजाइश। सम्भार बना गौण होगी। स्त्री आत्मकथाएँ एक तरह से इतिहास का आभास कराती हैं। उनकी आत्माभिव्यक्ति में परिघटनाएँ प्रमाणिकता का सबूत दे सकती हैं।

तत्कालीन समाज को वास्तविकता के प्रतिबिंब को स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से देखा जा सकता है। ऐतिहासिक अभिव्यक्ति अर्थात वास्तविक और समय सापेक्ष की अभिव्यक्ति। सीमन्तनी उपदेश सन् 1882 ई. की लिखी कृति मानी जाती है। तत्कालीन समय अंग्रेजों का शासन और ईसाई धर्म के प्रभाव को स्पष्ट करता है। लेखिका इनसे अछूती नहीं रही। वह कहती है कि ''हमेशा मैम लोगों को ख्याल नए किस्म की ईजाद में रहता है। ईजाद की ताकत परमेश्वर ने हिन्दुस्तानियों में पैदा ही नहीं की। रही सही को पंडित जी करने नहीं देते क्योंकि न अच्छा मुहुर्त निकलता है, न ये ईजाद कर सकती है। मनुस्मृति में लिखा है कि अच्छी बात को नीच से भी लेना चाहिए। बुरी बात अगर बड़ा पंडित महात्मा बनाए उसे छोड़ दो। आज आधा हिन्दुस्तान अंग्रेजी कोट पतलून बूट पहनता है। तुमको भी चाहिए - जो तुम्हारे फायदे की चीज हो अंग्रेजी लेडियों से सीखो। अगर वे मर्द उस पोशाक से किरानी होंगे तुम हिन्दू भी नहीं रह

सकती।"[13] लेखिका अंग्रेजी रहन-सहन, व्यवहार और स्वतंत्रता को अपने समय में देखती है और चिंतन करती है कि जब ये भी स्त्रियाँ होकर निडरता और अधिकारपूर्वक जीवन जीती हैं तो हम हिन्दू स्त्रियाँ क्यों नहीं। अंग्रेजी शासन में किसी की हत्या करना जघन्य अपराध माना जाता था। वह लिखती हैं कि विधवाओं के गर्भवती हो जाने हिन्दू या तो उन्हें छोड़ देते थे या किसी न किसी प्रकार मारने की चेष्टा करते थे। क्योंकि परिवार की प्रतिष्ठा गिर जाना उन्हें पसंद न था। "आजकल अंग्रेजों के खौफ से जाहिर मार नहीं सकते।"[14]

आगे वह तत्कालीन समय की सती प्रथा को परम्परा को ब्रिटिश कालीन शासन में बंद होने की बात पर लिखती हैं कि "पहले हिन्दुस्तान में रिवाज था, जब कोई मरता उसकी औरत को उसके साथ जिंदा जला देते थे। अब अंग्रेजों के राज में यह रिवाज जाता रहा है। मगर विधवाओं के वास्ते कुछ बसर नहीं हुआ। फिर बताओ, वह लोग क्या करें? जरा इंसाफ की नजर से देखो कि यह मुसीबतें इनसे कौन उठवाता है?"[15] लेखिका अंग्रेजी शासन के अच्छे प्रयासों को सराहती है वहीं वह विधवाओं के लिए कुछ न किये जाने पर चिंतित भी है इनकी समस्याओं और दयनीय स्थिति का जिम्मेदार कौन है? क्योंकि सती प्रथा तो रोक दी पर विधवाओं के भावी जीवन के लिए कोई मार्ग नियम-कानून तत्कालीन समय में निर्मित नहीं हुए। जो हुए भी उनके कारण उनकी परेशानी और बढ़ गई। फिर भी वह अंग्रेजी राज्य के शासन और न्याय प्रणाली को स्पष्ट करती है कि "लेकिन अब श्रीमती विक्टोरिया महारानी का राज है, जिसमें इंसाफ सूर्य की (.....) चमक रहा है। जहाँ इंसाफ है वह सतयुग है, जहाँ कलियुग नहीं। जो लोग सत् युग में इस रिवाज को मानते हैं, इन्हें चाहिए (.....) और नहीं, जैसे मर्दों का भी रोको। क्या कलियुग औरतों के वास्ते जन्मा है?"[16] पंजाब और आगरा में

विधवाओं के साथ हो रहे अत्याचार और दुर्व्यवहार को लेकर वह कटाक्ष करती है कि ''आगरा में एक औरत खाविंद के मरने से पहले कुछ बीमार थी। जब खाविंद मरा कमजोरी के वाइस दरिया पर न सकी। उसकी सास ने अलग उसकी खाट डाल दी। भिश्तियों को बुलाकर मुश्के उस पर छुड़वाई और सब दरिया पर चली गई। पीछे उसी हालत में उसका दम निकल गया। जब लोगों ने देखा कि यह मर गई खुशी से मशहूर किया कि सच्ची सती थी। खाविंद से बड़ा प्यार था। बहुत अच्छी अशराफ औरत थी। खाविंद के पीछे जीना नहीं चाहती थी। खूब सती थी, अपने हाथ से मार देवें और लोगों को जाहिर करे, सती हुई।''[17]

लेखिका हिन्दुस्तान की वैवाहिक परम्परा को संकेत करती है कि अगर इतनी संख्या में विधवाएँ समाज में है तो उसका दारोमदार हमारी सामाजिक संरचनाएँ है ''एक-एक आदमी दस-दस शादियाँ करता है। उसके मरने से दस रांड हो जाती है। और एक औरत के मरने से दस कुंवारी विवाह सकता है।''[18]

सरला

एक विधवा की आत्मजीवनी

सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी हिन्दी में आत्मकथा लिखने का किसी स्त्री के द्वारा प्रथम प्रयास है। इसका प्रकाशन 'स्त्री दर्पण' पत्रिका के जुलाई, 1915 से मार्च, 1916 तक के अंकों में धारावाहिक के रूप से हुआ। सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी में सरला के आत्मिक विकास पर दृष्टि डालें तो वह सामाजिक विसंगतियों को लेकर व्यथित है पर दयनीय नहीं। वह अपने आप से और मोहन (जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था का परिचायक होते हुए भी तर्कशील, संवेदनशील और उदर प्रवृत्ति का है) प्रश्न करती है कि स्त्री और पुरुष की समानता और स्वतंत्रता में भेद

क्यों? उसे जैविक-बौद्धिक तथा मानसिक दृष्टि से पुरुष की तुलना में हीन क्यों है? सरला को भौतिक सुखों का अभाव नहीं है फिर भी उसकी आत्मा आश्वस्त न होकर व्याकुलता भरी है। जो स्वयं तथा समाज के प्रतिनिधि मोहन को भी झकझोरती है। मैंनेजर पाण्डेय आत्मा को विश्लेषित करते हुए कहते हैं कि "आत्मकथा को आत्म की कथा के रूप में देखते समय यह जानना भी जरूरी है कि उसमें कैसी आत्मा की आवाज व्यक्त हुई है? क्या वह बेचैन आत्मा है या आश्वस्त आत्मा? संघर्षों में विकसित आत्मा बेचैन होती है जबकि सुविधाओं में पली हुई आत्मा आश्वस्त आत्मा होती है। बेचैन आत्मा की कथा में छटपटाहट और चीख सुनाई दे सकती है जबकि आश्वस्त आत्मा सुविधा के लिए दुविधा की भाषा बोलती है।"[19]

सरला : एक विधवा की आत्म जीवनी में सरला की आत्मा चीखती तो नहीं पर छटपटाती अवश्य है। "अम्मा मुझे बकने लगी, कहने लगी क्या हुआ वह तो बच्चा है। तुम अभी उसकी रेल दे दो। आखिर मोहन की जीत हुई। रेल मुझसे छिन गई। मैं भी रोते-रोते बावूजी जी की गोद में पड़ गई।[20]

लेखिका माँ का जीवन परंपरागत सुविधा संपन्न भारतीय स्त्री का था, उनके जीवन में संघर्ष के थपेड़ों का अभाव था। इसलिए वह सामाजिक चलन की प्रथा को महत्व देती थी। जब व्यक्ति वाह्य और अंत: होने वाली प्रतिकूल घटनाओं को तार्किक और बौद्धिक दृष्टि से विश्लेषित करेगा उसमें डूबेगा, उतरायेगा तभी तो मुक्ति की छटपटाहट होगी। इस डूबने और उतराने की प्रक्रिया में उसे अपने साथ-साथ अन्य की छटपटाहट का अनुभव होगा और उसका एकात्म बहुआत्म बन जायेगा। लेखिका का वैयक्तिक आत्म उससे प्रश्न करता है ऐसा क्या हो गया कि विधवा होने से मैं अभागिन बन गई। जिस पति को वह न जाती है पहचानती उसकी विधवा बनकर जब वह

ससुराल जाती है तब उसे ''उस दिन पहिले-पहिल यह मालूल हुआ कि विधवा का अर्थ कुलक्षिणी है, अभागिन है। जो बात मैं इतने दिनों से सोच रही थी कि मुझमें क्या परिवर्तन हुआ है, मेरी क्या हानि हुई है; मुझे कौन सी क्षति पहुँची है, वह समझ में आ गई। विधवा होने के पहले मैंने ये शब्द कभी नहीं सुने थे। मेरे बाबू जी कभी-कभी मुझे 'आओ लक्ष्मी' कहकर बैठाते थे किंतु अब मैं कुलक्षिणी हूँ, अभागिन हूँ। मैं सब तरह से वही हूँ, वैसी हूँ मेरे शरीर में, मेरी शक्तियों में,मेरे मस्तिष्क में बिना किसी प्रकार के अंतर हुए ही केवल मात्र विधवा होने से मैं कुलक्षिणी और अभागिनी हो गई।''[21]

मोहन के विवाह पर उसकी छाया भी अशुभ मानी जाती है तब अपनी इस स्थिति को सामाजिक मानदंडों के परस्पर मापती है। सधवा और विधवा होने में स्त्रियों का या मेरा क्या दोष या योगदान है मैंने तो कुछ नहीं किया। वह कहती है कि ''मैं सोचने लगी, विधाता मैंने क्या किया है? अपनी जान में मैंने कोई खोटा काम नहीं किया। जो स्त्रियाँ परछन के समय उपस्थित थी उनमें से कितनी ही को मैं जानती हूँ कितने ही उनमें से मेरी छाया छूने के योग्य भी नहीं। किंतु सधवा होने से वे मांगलिक हैं पवित्र हैं और सब कुछ और करने की अधिकारिणी है। दैव वशात् विधि की विडम्बना से बैठे बिठाए मैं विधवा हो गई।''[22]

जिस कार्य में उसकी भागीदारी ही नहीं है जो उसने किया ही नहीं है उसका हक उसे क्यों दिया जा रहा है? दण्ड के निर्धारक पूर्वग्रसित मान्यताओं को थोपकर आनंदित और खुश हैं जबकि वह व्यथित है कुंठित है। ''मुझे विधवा मानकर समाज ने अन्याय करने में मग्न है और तनिक भी कुंठित नहीं होता। वह अपनी मौजें ले रहा है। उसे यह चिंता नहीं कि उसका कोई अंग दुखित है, पीड़ित है।''[23]

लेखिका स्त्रियों की दीन हीन स्थिति के लिए उनकी पुरुषों पर निर्भरता मानती है। पुरुष स्त्री का भरण पोषण करने के कारण श्रेष्ठता का भाव रखेगा और स्त्री हीनता के भाव से मुक्त न हो सकेगी। वह कहती है कि "जब एक पर दूसरा अपनी आवश्यकताओं के लिए निर्भर रहेगा, तब दोनों में बराबरी का दावा नहीं रहेगा और ऐसी दशा में आश्रित का आदर अवश्य कम हो जाएगा। प्रेम रहते भी पुरुष के हृदय में अनजान में ही इस भाव का कि वह पैदा करता और खिलाता है; असर होना बिल्कुल स्वाभाविक है। साथ ही साथ हर प्रकार से अपने प्रेम, अपनी भक्ति, अपनी सेवा-सुश्रुषा से संतुष्ट होते भी स्त्री अपने हृदय को इस विचार के प्रभाव से नहीं बचा सकती कि पुरुष उसके लिए सब कुछ करता है और यह कि वह दीन और उसकी आश्रित है।"[24]

लेखिका स्त्रियों की कार्यक्षमता को पुरुष से कमतर नहीं आंकती। वह स्त्री-पुरुष के जैविक और बौद्धिक अंतर को निराधार बताती है। वह कहती है कि "संसार के कर्म क्षेत्रों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। जो काम पुरुष द्वारा किया जा सकता है, उसे स्त्री भी कर सकती है, संसार के कर्म क्षेत्रों में क्या सामाजिक, क्या औद्योगिक और क्या राजनीतिक स्त्री, पुरुष के बराबर काम कर सकती है।"[25] स्त्रियाँ मानसिक, शारीरिक किसी भी दृष्टि से पुरुषों की तुलना में हेय नहीं हैं।

लेखिका स्वप्न में लाड़ली के माध्यम से ऐसे संसार/समाज की रचना करती है जिसमें स्त्रियों को न कोई बंदिश, न हीनता बोध और ना ही दीनता का भाव बल्कि वह स्वतंत्रता और समानता रचे गए इस युग में स्त्रियों की उस इच्छा को साकार करती है जिसे वे सदियों से पाने में प्रयत्नरत है। "मुझे जो सुख यहाँ है वह सुख और वहाँ नहीं मिल सकती। अभी दस ही दिन यहाँ आई हूँ किंतु यहाँ एकदम मैं बढ़ गई हूँ। अब

छोटी नहीं रही। पर घूँघट नहीं है। न यहाँ मैं आँगन या दालानों में कैद ही हूँ। एक बात और है यहाँ मैं सबके साथ मिलती-जुलती हूँ घूमने-फिरने भी निकलती हूँ।''[26]

कोई भी रचनाकार अपने तत्कालीन समय से अछूता तो नहीं रह सकता है। इस आत्मकथा में भी समाज में हो रही घटनाओं की विवेचना की गई है। मुख्य रूप में बाल विधवा की समस्या, स्त्री-पुरुष में अंतर, समाज में फैली कुरीतियाँ, स्त्री शिक्षा का महत्व और एक ऐसे समाज की परिकल्पना जिसमें स्त्रियों की स्वतंत्रता, समानता और अधिकारी का स्वामित्व हो। वे ही समाज की नियंता और शासक है। सीमन्तनी उपदेश में जहाँ वैचारिक आंदोलन का सूत्रधार किया वहीं इस कृति ने एक आंदोलन का रूप लिया।

समाज के बाल विवाह का प्रचलन सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं के आधार पर था। लड़की हो या लड़का उनका विवाह छोटी उम्र में ही कर दिया जाता था। लेखिका कहती है कि ''तत्कालीन समाज में कुछ महीने की उम्र से लेकर पंद्रह वर्ष तक की बच्चियों का धड़ल्ले से विवाह हो रहा था। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हमारे समाज सुधारक और रचनाकार इस बहस में ही काफी समय गंवा चुके थे कि लड़कियों का विवाह आठ वर्ष की उम्र में होना चाहिए अथवा बारह वर्ष की उम्र में, रजोदर्शन से पूर्व होना चाहिए या उसके बाद।''[27] लेखिका का विवाह 7 या 8 वर्ष की अवस्था में हो जाता है तब उसे विवाह का अर्थ पता ही नहीं होता है। विवाह को वह कपड़े, जेवर, मिठाई की प्राप्ति से जोड़ती है। सरला एक विधवा की आत्म जीवनी में लेखिका लिखती है ''विवाह क्या बला है? उसका अर्थ क्या है? उसका महत्व क्या है और वह क्यों किया जाता है? यह सब तो मैं जानती थी ही नहीं किंतु इतना सत्य अवश्य है कि यह सुनकर कि मेरा विवाह होगा मुझे खुशी बड़ी हुई। खेल में गुड़ियों के विवाह का खेल मैं खेला

करती थी। मैं यह जानती थी कि विवाह में बहु गुड़िया को मेवे मिठाई, गहने, खिलौने खूब दिए जाते हैं।''[28]

बाल विवाह होने के अनेक कारण समाज में व्याप्त थे जैसे धन का अभाव या धन बचाने के लिए लोग अपनी बेटी का विवाह उसकी उम्र के दुगने तिगुने उम्र के व्यक्ति से कर देते थे। इस आत्मकथा को प्रकाश में लाने वाली स्वयं प्रज्ञा पाठक कहती हैं कि ''तत्कालीन साहित्य में अनेक ऐसे साक्ष्य मिलते हैं जहाँ लोग अपनी छ: या सात साल की कन्या का विवाह साठ या सत्तर वर्ष के बूढ़े से धन के लालच में कर दिया करते थे। इस घटना का अनिवार्य परिणाम कष्टकारी वैधव्य हुआ करता था।''[29]

लेखिका विधवा भी छोटी उम्र में ही हो जाती है। विधवा होने पर अबोध सरला अपने आपको वैधव्य की परिधि में परिभाषित ही नहीं कर पाती है। जब पहली बार पति की मृत्यु के पश्चात ससुराल जाती है तब उसे उन स्थितियों का सामना करना पड़ता है जिसकी वह आशा कदापि नहीं करती है। ''5 वर्ष की अवस्था में जमीन जायदाद से संबंधित कागजात पर दस्तखत करने के लिए पहली बार ससुराल पहुंचने पर मालूम होता है कि विधवा का अर्थ कुलक्षणी है, अभागिन है; कुछ समय बाद छोटे भाई मोहन के ब्याह के बल आत्मीय जनों की चौकस वर्जनाओं के बीच वह अपनी नियति और निर्वासन दोनों को साफ-साफ देख प्रश्नाकुल हैं।''[30]

टाड राजस्थान और रघुवंश पढ़ने वाली लेखिका के विकासवाद जिसमें स्त्री वास्तव में अविकास प्राप्त और स्पेंसर के कथन स्त्री वास्तव में अरेस्टेड मैन है जैसे सिद्धांतों पर मोहन (भाई) से वाद-विवाद करती है। लेखिका पर मार्क्सवाद का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। वह कहती है कि ''संसार रूपी बाजार में पुरुष का आदर अधिक है क्योंकि वह Productive Capital है, उपार्जन करता है; क्योंकि उसके द्वारा

धन की आय और उसकी वृद्धि होती है। स्त्री लक्ष्मी होते हुए भी पैदा नहीं करती इसी कारण से उसका मान कम है। यदि वह भी उपार्जन करती होती तो पुरुष के समान बाजार में उसका भी मूल्य होता और उस अवस्था में पुरुष के समान आदर की अधिकारिणी भी वह होती।''[31]

लेखिका ने आत्मकथा में तत्कालीन परंपराओं और गतिविधियों का भी वर्णन किया है। जैसे ''चार दिन बाद कल प्रात:काल बारात आने वाली है।''[32] ''द्वार पर डोली खड़ी थी''[33] ''उनके हाथ में एक पीला तार का लिफाफा था''[34] तत्कालीन समय में मातृभाषा की शिक्षा पर न के बराबर ध्यान दिया जाता था जिससे लोगों को उसका समुचित ज्ञान नहीं होता था और मातृभाषा का अस्तित्व भी संकटमय था। वह लिखती हैं कि ''मातृभाषा की शिक्षा तो हम लोगों को नाममात्र की मिलती है उसे अच्छी तरह हम लोग जानते भी नहीं साथ ही इस ओर लोगों के ध्यान न देने से वह मर भी रही है। अंग्रेजी के कितने ही शब्दों के समान शब्द हम लोगों को मालूम ही नहीं न हमारे बड़े उनके लिए शब्द ही गढ़ते हैं।''[35]

लेखिका का जीवन सुविधाओं और दास दासियों के बीच बीता। जो तत्कालीन समय की जमींदारी प्रथा और अंग्रेजी शासन को दर्शाता है। ''कलेक्टर शाहब हमारे लिए परसों तक रूके थोड़े रहेंगे। गाँवों की मालगुजारी के संबंध में कुछ कहना है काम जरूरी है।''[36]

मेरी जीवनयात्रा

'मेरी जीवन यात्रा' जानकी देवी बजाज कृत आत्मकथा है जिसका प्रथम संस्करण सन् 1956 ई. में प्रकाशित हुआ। जानकी देवी एक धनाढ्य, धार्मिक वृत्तियों, सद्विचार के रखने वाले व्यवसायिक घराने की बेटी थी, लेखिका बचपन से ही सहज

और सरल स्वभाव की रही। माता-पिता की सरलता ने उसके अंदर अहम के बीज नहीं बोने दिये। अपने स्वभाव की सादगी का एक कारण वह अपना सुन्दर न होना भी मानती है जिसके कारण वह निश्छल और कर्तव्यपरायण बनी। वह कहती है कि ''इसे मैं भगवान का उपकार ही मानती हूँ कि मैं रूपवान होने से बची। संपन्न परिवार, जमनालाल जी जैसे सुन्दर पति तथा सब प्रकार की अनुकूलताओं को पाकर भी रूप के कारण मैं अहंकार में डूबने से बची। मुझमें जो सादगी आई, धर्म ध्यान करने की रुचि बढ़ी, उसमें शायद मेरी कुरुपता भी एक कारण रही हो।''[37]

लेखिका के आत्म के विकास में सहायक है उसकी सकारात्मक दृष्टि। क्योंकि स्त्रियां समस्याओं और संघर्षों को लेकर सहजता से हतोत्साहित नहीं होती है यदि कोई कमी या दोष है तो उसे भी उदात्त बनाने की क्षमता होती है। नकारात्मक सोच उनके व्यक्तित्व का अंग हो ही नहीं सकती। जब तक समाधान प्राप्त न हो जाए जूझने की प्रवृत्ति होती है। ''निषेधात्मक प्रयोगों जैसे 'न' आदि के प्रति लेखिका का वैचारिक नहीं पर मनोवैज्ञानिक विरोध रहा है। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक ऐसे संबोधनों को टाला है। पर सब जगह उससे बचना कठिन था। उनकी भावना यह है कि किसी चीज या किसी कार्य के लिए 'ना' कहना अस्वाभाविक है। ईश्वर की सृष्टि में परिपूर्णता है और ना का निषेध है।''[38]

स्त्री का सामाजिक आत्म जब विकसित होता है तब सामाजिक धरातल पर अपने आपको विस्तृत करती है। अपने से जुड़े लोगों के साथ उसका समभाव का रिश्ता पनपता है। लेखिका कहती है कि ''तेरह चौदह वर्ष की उम्र में मुझे थोड़ा-थोड़ा पढ़ना आ गया था। इससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। मुझे यह लगा हर स्त्री को पढ़ना आना

चाहिए। ससुराल में मैंने अपनी ननद और देवरानियों को पढ़ाना शुरू किया। गांव की और लड़कियां भी पढ़ने को मेरे पास आने लगी।''[39]

पति की सेवा धर्म-कर्म, बाल बच्चे इन्हीं के बीच पत्नी, माँ के रूप में अपने आपको पाती है। लेखिका का आत्म सुविधा और संपन्नता में पला बढ़ा है। वह अपने दायित्वों का निर्वाह करके अपने आपको संतुष्ट पाती है। उसका आत्म आश्वस्त आत्म है। वह अपने पति सेवा की सेवा उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करती है कि ''वह स्नान करके पूजा में बैठते और मैं उनकी धोती धोकर उनकी पूजा करती। उनकी धोती धोने की मैंने नौकरों को मनाही कर दी थी। मैंने पढ़ा था कि पति का पादोदक, जैसे वैष्णवों में गुरू का लेते हैं, लेना चाहिए और सफेद फूल से पूजा करनी चाहिए। इसलिए मैंने एक गमला ऊपर रख लिया था और उसमें से रोज एक फूल उतारकर चढ़ाती और श्लोक का पाठ करते हुए चांदी की कटोरी में दाहिने पैरे के अंगूठे को धोकर उस जल को पी जाती।''[40]

संस्कारगत जो परंपराएँ और रूढ़ियां व्यक्ति के मन मस्तिष्क में घर बना लेती है उनसे निकलना मुक्ति पाना इतना सहज नहीं था। लेखिका अधिक पढ़ी लिखी न होने पर भी अनुभव के ज्ञान की स्वामिनी थी। उसे स्त्री जाति की स्वतंत्रता में जो सबसे बड़ी बाधा थी वो घूँघट था। वह घूँघट की प्रथा औरतें के विकास को बाधित कर रही थी और उसका समाप्त होना आवश्यक मानते हुए उसने वह एक दिन उतार ही फेंका। ''हमारे घर में यह प्राचीनता के अंत और नवीनता के उदय का संधिकाल था। एक बार पहाड़ की चोटी पर पहुँच जाना सरल होता, समूह को लाँघ जाना भी सरल होता, पर उस समय हमारे घर में ससुर के पास बिना घूँघट के बोलने के लिए जाना बहुत बड़ी बात थी।''[41]

पारिवारिक मतभेदों को लेकर वह आत्मिक विश्लेषण करती है। वह अपनी कमजोरियों को भी उद्घाटित करती हैं। वह कहती हैं कि "मेरे स्वभाव में अपने पराए का इतना ख्याल नहीं था, फिर भी एक प्रकार की कंजूसी थी। मेरा दिल जमनालाल जी की तरह उदार नहीं था और कभी उदारता दिल में आ जाती तो भी वह सदा-सर्वदा उनकी तरह टिकती नहीं थी। गुस्सा भी मुझमें विशेष था और सहन शक्ति की भी कुछ कमी थी।"[42]

सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में स्वयं के साथ-साथ वह दूसरों को भी प्रेरित करती हैं। अपनी कर्तव्यनिष्ठा को दूसरों के समक्ष आदर्श के रूप में रेखा। संकटकालीन परिस्थितियों में अपने साहस और धैर्य से दूसरों का सम्बल बनती हैं। वह लिखती हैं कि "कमरे के सामने वाले मकान में स्त्रियां ही थी। कमरे तथा राजकोठी के बीच मोरचा लग रहा था। रेती की थैलियां जमाई गई। सिपाही बाहर से नसेनी लगाकर छत पर तार बांध रहे थे। मुझे ऐसा लगा कि शायद भीतर स्त्रियाँ डर रही होंगी, सो मैं भीतर गई और कहा -आप बाहर तो निकल ही सकती हैं, मैं भी घूम रही हूँ।"[43] अपनी जिंदगी की सार्थकता वह दूसरों की भलाई सेवा में मानती हैं। उसका दृढ़ संकल्प इतना सशक्त था कि देर सवेर शनैः-शनैः अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ली। राज्य में पानी की समस्या पर वह 108 कुओं को बनवाने का संकल्प लेती है और उसे पूरा करके विश्राम लेती है।

अंग्रेजों का शासन, देश विदेशी सत्ता का गुलाम, समाज सुधार, देश भर में स्वतंत्रता आंदोलन और जानकी देवी तथा उनके पति जमुनालाल की सहभागिता आदि पक्ष इस आत्मकथा को ऐतिहासिकता प्रदान करते हैं। यह कृति अपने समय का प्रमाणिक दस्तावेज है। राजस्थानी समाज में परदे के चलन के कारण स्त्रियाँ अकेले घर

से निकल नहीं सकती थी। स्त्रियों में अधिकतर शिक्षा का अभाव था। ''हम लोग जावरे रहते थे। वह मुसलमानी राज था। पर राज में पिताजी का बड़ा मान था। हमारे घर शादी-ब्याह में राज के वरदी वाले बाजे आया करते और लक्ष्मणगढ़ में जब जावरा-राज के वरदी धारी बाजे वाले आते तो लोग उनको देखने उमड़ पड़ते थे।''[44]

स्त्रियाँ समसामयिक समय में शिक्षा के बजाय घर गृहस्थी, सिलाई कढ़ाई आदि घरेलू कार्यों में अपने आपको व्यस्त रखती थी। ''सीने-पिरोने का तो माँ को व्यसन ही था। सिलाई तथा पटवा-काम (जेवर गूँथने के काम) में वह बहुत होशियार थी। किसी के यहाँ ब्याह-शादी होती, मुकलावा (गौना) होता, जन्म आदि होता तो वह कपड़ी सी देती, गोटा-किनारा लगा देती, उनकी चोटियाँ बना देती।'' लोगों की सिलाई का काम छबड़ी (टोकड़ी) में पड़ा ही रहता।''[45]

तत्कालीन व्यवस्था ऐसी थी कि समाज का प्रत्येक वर्ग एक दूसरे का सहयोगी बनकर रहता था। घर से लेकर बाहर तक सभी अपने दायित्वों का निर्वाह करते थे। वह लिखती है ''उस समय लड़का-लड़की देखने का काम ब्राह्मण या नाई ही करते थे। नाई तथा ब्राह्मणों पर समाज विश्वास रखता था। वे भी समाज के एक उपयोगी अंग माने जाते थे। इनके साथ पारिवारिक रिश्तों का सा व्यवहार होता था।''[46]

राजस्थानी समाज में घोग्या जाति नाम दक्षिण की तरफ के लोग दिया गया ''जावरा वाले वर्धा वालों को घोग्या कहते थे। राजस्थान के जो लोग दक्षिण की तरफ आ गए थे और जिनके रहन-सहन तथा खान-पान पर दक्षिण निवासियों का असर पड़ गया, उन्हें घोग्या कहा जाता था।''[47]

लड़कियों का विवाह छोटी उम्र में ही कर दिया जाता था। आठ नौ वर्ष की लड़कियाँ घर गृहस्थी संभालने लगती थी। जबकि उनके खुद के काम उनकी माँ या

नौकर चाकर करते थे। अर्थात उन्हें वह काम दे दिया जाता था जिनके वे योग्य नहीं थी। राजस्थानी समाज के रीति-रिवाज और संस्कार अपनी विशेषताओं के साथ अभिव्यक्त होते हैं। ''माँ मेरी विदाई की तैयारी करने लगी। सिर धुलाया गया माथा गूंथा गया और मेंहदी लगाई गयी। मारवाड़ियों में माथा गूंथने का रिवाज था। एक बार माथा गूंथ देने पर आठ-दस दिन तक उसे खोला नहीं जाता था। बालों में मेज लगाकर सीढ़ियाँ बनाई जातीं और उसे सोने का जेर बांधा जाता था।''[48]

तत्कालीन समय में वस्तुओं का मूल्य कम था। लोग अपनी आवश्यकताएं सहजता से पूरी कर सकते थे। रुपये की कीमत बहुत अधिक रहती थी। वह लिखती हैं कि ''उस समय देश में एक रुपये की दक्षिणा बहुत बड़ी बात मानी जाती थी। उस समय कलदार रुपये को चेरासाही कहते थे। दक्षिणा 'माथा दीठ' चुकती थी। इसलिए लोग साथ में जानवर भी ले आते थे।''[49]

देशभक्ति का जज्बा सबके भीतर हिलोरे ले रहा था (चेतासाही अर्थात चेहराशाही। यानि अंग्रेजी शासन में चेहरे वाला रुपया निकला था, जो देशी राज्यों के रुपये से अधिक कीमत का था) स्वतंत्रता की पुकार देश का प्रत्येक वर्ग, जाति, समाज कर रहा था। स्त्री-पुरुष अंग्रेजी शासन के अधीनस्थ नौकरियों का त्याग करके देश की आजादी की लड़ाई में अपना योगदान दे रहे थे। अंग्रेजी शासन के विरोध स्वरूप विदेशी कपड़ा, जेवर, वस्तुएं त्याग कर, देशवासी खादी पहनने लगे। ''कांग्रेस के सदस्य बनाने के बाद कांग्रेस के काम और प्रचार की शुरूआत हुई। मैं हर शनिवार को एक सभा करती और उसमें कांग्रेस की बातें समझाती। इसी समय विदेशी कपड़ों को होली की बात सामने आई। जमनालाल जी ने मुझसे कहा, गाँधीजी का कहना है कि

विलायती कपड़ा राक्षस के रूप में अपने देश में घुस पड़ा है। इस पाप को हिन्दुस्तान में से निकालना है। अपने हार में भी एक टुकड़ा न रहे।''[50]

लेखिका ने आजादी की लड़ाई में अपने आपको पूरी तरह समर्पित कर दिया था। झंडा सत्याग्रह, नमक सत्याग्रह जेल यात्रा में एक देशभक्त, समाजसेवी, राजनीतिक कार्यकर्ता की भूमिका का निर्वाह कर रही थी। वह कहती है कि ''मुझे जेल जाने की और बहनों को जेल के लिए तैयार करने की ऐसी धुन लगी, जैसे पीहर जाने का ही उत्साह हो। मेरा यह काम जोर से चलने लगा तब सरकारी अधिकारियों ने मुझे बाहर रखना ठीक न समझा और गिरफ्तार कर लिया। दूसरे दिन जेल में ही मुकदमा हुआ और छ: महीने की सजा दे दी गई।''[51]

देश के लिए बलिदान देने वालों की कमी नहीं थी। देशवासी देश की आजादी और हित हेतु बड़े से बड़ा त्याग करने से नहीं चूकते थे। प्रत्येक के मन-मस्तिष्क में देश की स्वतंत्रता सर्वोपरि था। ''बापूजी ने बारह दिन के बाद मुझे सेवाग्राम बुला लिया। सावित्री भी मेरे साथ सेवाग्राम रहने चली आई थी। उसके जीवन में विशेष परिवर्तन आ गया था। सारे राजसी सुखों को छोड़कर वह आश्रम में काम करती। जब बापू का 'करो या मरो' आंदोलन शुरू हुआ तब वह भी जेल गई।''[52] महात्मा गांधी का बलिदान, विनोबा भावे का त्याग, नेहरू की सक्रियता देशवासियों का सहयोग आदि से रची बसी यह आत्मकथा तत्कालीन समय के साथ न्याय करती है। जानकी देवी बजाज कर्मठ समाज सेवी, समर्पित देशभक्त, परोपकारी धर्म परायण स्त्री के रूप में इन आत्मकथा की पात्र हैं। शब्द ज्ञान से परिचित परन्तु दृढ़संकल्प की धनी जानकी देवी बजाज कृत 'मेरी जीवन यात्रा' आत्मकथा ''एक निरक्षर अबोध बालिका के रूप में बजाज परिवार में पहुँचकर नर्मदा के प्रवाह में पड़े शंकर की भांति वह कहाँ से कहाँ

पहुँच गई! इन्हीं अनुभवों, संस्मरणों एवं विचारों की यह कहानी है। जमनालाल के संपर्क तथा बापूजी और विनोबाजी के सत्संग से किस प्रकार जीवन परिवर्तन हुआ, संघर्षों से पैदा हुई परिस्थितियों में उन्होंने कैसे अपने को ढाला और कैसे अपनी दृढ़ता से औरों को प्रभावित किया।''[53]

जो कहा नहीं गया

'जो कहा नहीं गया' कुसुम अंसल कृत आत्मकथा का प्रथम संस्करण सन् 1996 ई. में प्रकाशित हुआ। कुसुम अंसल का जन्म अलीगढ़ के संपन्न वैश्य परिवार में 1940 में हुआ। मातृविहीन लेखिका को बचपन में ही बुआ द्वारा गोद लेने के कारण अलीगढ़ से आगरा जाकर रहना पड़ा। कुसुम अंसल का आत्मिक विकास एक धनाढ्य वैश्य परिवार जहाँ धर्म और नैतिकता की शिक्षा सर्वोपरि थी हुआ। बाल्यकाल से सौतेली माँ और बाबा के अनुशासन ने कुंठित और भयभीत किया। 10 वर्ष की उम्र में ही बुआ जो कि निसंतान थी उसे अपने साथ आगरा ले गई। बुआ की संतान प्राप्ति के पश्चात उसे फिर अलीगढ़ वापस आने का आदेश दिया गया। इस स्थानांतरण से उसकी मन:स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, वह क्या चाहती है, किसके साथ रहना चाहती यह समझने की चेष्टा किसी ने नहीं की। वह लिखती हैं कि ''मैं क्या चाहती थी यह किसी ने नहीं पूछा या शायद मेरी इच्छा का मूल्य ही नहीं था। रिश्तों का उलट-फेर मुझे आहत कर रहा था और न चाहते हुए भी मेरा घर एक बार फिर बदल गया था। इस बदलाव के तहत मेरा कितना कुछ परिवर्तित हुआ था, मेरी पढ़ाई जो इस समय मेरी भाग्य निर्णायक थी- मुझे उसकी विधा बदलनी प़ड़ रही थी।''[54]

स्थानांतरण की प्रक्रिया लेखिका को स्थापित नहीं होने दे रही थी स्वयं को और उससे जुड़े अन्यों को भी। छ: वर्ष बाद बुआ के घर से वापस आने पर वो अपनापन

उसे नहीं मिला, जो एक घर में मिलता है। पराएपन की गंध उसे सदैव सालती रही। अलीगढ़ के पारिवारिक सदस्यों ने उसे लगभग विस्मृत कर दिया था। ''साकेत का चुप सन्नाटा गहरा ही नहीं होता जा रहा था, चारों ओर फुंकारें मार रहा था - मेरा यहाँ होना भी बहुत बेमानी जैसा था - जैसे मैं कोई इंसान नहीं, एक परछाई थी जिसका अपना कोई आकार नहीं होता। वैसे तो अलीगढ़ वाले भी अब तक मुझे भूल गए थे - छः साल का अंतराल किसी को विस्मृत कर देने के लिए काफी है - कुछ इसलिए भी कि मुझे घर में आने वाले अतिथियों से मिलवाया नहीं जाता था।''[55]

उपेक्षित वातावरण उसे रास नहीं आता और वह अपने स्व की खोज में भटकती है। मेरा अस्तित्व क्या है मेरी पहचान क्या है अन्यों के लिए मेरी उपस्थिति क्या है क्या मेरी पहचान उनके द्वारा निर्धारित की जाएगी और यदि वह न चाहें तो क्या मैं ऐसी ही रहूँगी। अपने स्व का बोध उसे विचलित करने लगता है। ''कभी-कभी मेरे भीतर एक उन्माद उफनने लगता, मेरे अंदर की युवती मुझसे श्वांस-श्वांस पूछती, मैं कौन हूँ? धड़कन-धड़कन पूछती, मैं कौन हूँ?''[56]

कर्मठ पति, बच्चे, घर, परिवार सब कुछ होने के बावजूद लेखिका अपने को कहीं स्थापित नहीं कर पा रही थी। भौतिकता उसे आकर्षित नहीं कर रही थी क्योंकि उसके आत्म को, स्व को इन चीजों की शर्त पर व्याख्यापित नहीं किया जा सकता था। जब भी वह अपने बारे में सोचती, इन सबसे अपना संबंध जोड़ती है तो उसे अनुभव होता है, सबकी अपनी अपनी उपादेयता है, उसके अस्तित्व की कोई पहचान नहीं है। वह कहती है कि ''धन की उपलब्धि मुझे नहीं छूती। समय बदल गया है, समृद्धि के द्वार खुले हुए हैं परंतु मेरा स्व पथराया-सा अपने पुराने खोल में तटस्थ खड़ा है - मेरी आँखों ने बहुत कुछ देखा है - और देखे हुए सच को भुलाया नहीं जा सकता, देखे हुए

सच को विश्लेषित करके पूर्ण सत्य की ओर जाने का मार्ग अवश्य तलाशा जा सकता है और मैं अपने नक्षत्र जड़ित पथ पर चल तो रही हूँ पर मेरी दृष्टि, मेरा मन किसी चिरंतन सत्य की खोज में इतना डूबा है कि ये सो आडम्बर मुझे पकड़ नहीं पा रहे हैं।''[57]

स्त्री चाहे किसी वर्ग की हो, किसी जाति की हो, शिक्षित हो या अशिक्षित घरेलू हो या सामाजिक हो कोई भी हो, सामाजिक मानदंड उसे पुरुषों के समतुल्य स्थान नहीं देते। उसे एक कोना ही दिखाया जाता है। वह घर-समाज में आवश्यक न होकर अनावश्यक है। ''एक शून्य से आरंभ होती उनकी यात्रा दूसरे शून्य में समाह हो जाती थी। स्त्री का यह दयनीय रूप मुझे सालने लगा, मनुष्य का ये निरपराध-रूपायन क्यों? क्या है स्त्री? बस एक अर्थहीन वस्तु जिसे जब जी चाहा उपयोग किया जब जी चाहा त्याग किया, एक ऐसे प्रपात के बहाव में जहाँ डूब जाओ तो मृत्यु, तैर आओ तो एक अनिश्चय जैसा जीवन, आश्चर्य इस बहाव में माता-पिता भी उंगली छुड़ाकर पता नहीं किस योनि में समाधिस्थ हो जाते हैं कि उन्हें अपनी बेटी का विधवा जीवन दिखाई ही नहीं पड़ता।''[58]

मनुष्य का संबंध घर परिवार, समाज और अपने स्व से होता है। इन संबंधों के उचित निर्वाह के लिए कर्तव्यों और दायित्वों की पूर्ति भी अत्यावश्यक है। व्यक्ति की पहचान इन संबंधों से ही विकसित होती है और प्राप्त होती है। यदि वह इन सबमें असफल है तो जीवन निरर्थक लगने लगता है। पुरुष घर परिवार और समाज के लिए जो करता है उससे उसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है यही तथ्य स्त्रियों के प्रति विपरीत बैठता है। स्त्री का जो दाय घर परिवर और समाज के लिए होता है। उसके लिए उसकी सार्थकता या तो नकार दी जाती है या संदेह के घेरे में परिभाषित होती है। लेखिका

कहती है कि ''हर प्रगतिशील पुरुष के पीछे एक स्त्री का हाथ होता है - कितना कमजोर वाक्य है उन सब सशक्त बलिदानों और त्याग के प्रति जो उसके जीवन में आई स्त्री ने पति को विकास की राह में इस कारण उत्सर्जित कर दिये थे कि वह प्रगति कर सके, अपना ध्येय पा सके, अपने को प्रसिद्धि और समृद्धि के सिंहासन पर आरूढ़ कर सके। इस त्याग के पीछे उस स्त्री विशेष का क्या हुआ ऐसा नहीं था जो बलिदान नहीं हुआ? उसकी स्वतंत्रता उसका शारीरिक सुख, उसका अपना निज का ध्येय, अपनी कुछ बन पाने की ललक प्रतिफल मिला, घोर अकेलापन, सन्नाटा, चुप रह जाने की सजा।''[59]

स्त्री के पास इतना धैर्य और साहस होता है कि वह सहजता से प्रतिकूल स्थितियों में भी अपने स्वाभिमान और अस्मिता का समझौता नहीं कर सकती। परन्तु अपने आत्म का निगलन, अस्तित्व की पहचान का ह्रास होने पर कुंठित हो जाती है। कुंठा सदैव दुविधा को जन्म देती है। दुविधा और द्वंद्व की स्थिति में ही सार्थकता खोजती है। ''मैं किसी भी प्रकार की विकृति को नहीं स्वीकारूँगी, यह मेरा अपने आपसे किया वायदा है, शायद इसलिए कि मेरे पास एक रचनाकार का मस्तिष्क है। रचनाकार सौंदर्य की रचना करता है और उसकी प्रत्येक रचना परमात्मा के प्रति की गई एक स्तुति होती है। परन्तु ये अवहेलनाएँ, उदासीनताजन्य परिवेश, विचलित करता अकेलापन, मेरी आज की स्थिति का विकल्प क्या होना?''[60] स्त्रियां आज भी अपने अस्तित्व और पहचान के लिए संघर्षरत है लेखिका भी उन्हीं मे से एक है।

उनकी शिक्षा अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के द्वारा संभव हुई। तत्कालीन समय में वहाँ का वातावरण राजनीति और दंगे फसाद मुक्त था। हिन्दू-मुस्लिम का आपसी वैमनस्य और तनाव यूनिवर्सिटी के झगड़े का कारण बना। वह लिखती हैं कि ''एकाएक यूनिवर्सिटी के इलैक्शन के समय विद्यार्थियों का आपसी झगड़ा मार-पीट पर उतर

आया और विद्यार्थी विद्यार्थी न रहकर हिन्दू मुसलमान हो गए और उन्हें लड़वाने लगे बाहर के लोग और जिसके तहत एक खूबसूरत लैंड स्केप खून के धब्बों से गीली होती चली गयी।''[61]

स्वतंत्रता के पश्चात पड़ोसी देश चीन ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के तहत भारत पर आक्रमण किया। स्वतंत्रता आंदोलन, विभाजन के कारण देश आंतरिक समस्याओं से जूझ ही रहा था कि इस घटना ने देश के लिए नयी समस्या खड़ी हो गई। ''दुविधाएँ और भी बढ़ती है जब अपने भीतर का द्वंद्व उबलकर बाहर आप्रवाहित होता है। उन दिनों भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ा हुआ था - सरेशाम ब्लैक आउट होता और पूरी रात अंधेरे में काट देनी होती थी - रेडियो पर बजता था ऐ मेरे वतन के लोगों, लो आँख में भर लो पानी - जो शहीद हुए हैं उनकी जरा याद करो कुर्बानी .....सरहद पर मरने वाला हर वीर था हिन्दोस्तानी .....मुझे हिन्दोस्तानी शब्द बहुत अच्छा लगता, उसमें दोनों ही आ समाते थे, हिन्दू भी और मुसलमान भी एक ही सिक्के के दो रूख। पर मेरी चाहत से कभी कुछ हुआ है क्या धर्मों का विभाजन, देश का विभाजन, फिर हृदयों का विभाजन।''[62]

लेखिका भ्रमण की अवधि में वह अनुभव करती है कि विदेशों में व्यक्ति का जीवन भारत की अपेक्षा अधिक अस्थायी है। संबंधों की अपेक्षा अर्थ की उपादेयता अधिक है। व्यक्तियों का मूल्यांकन उनकी धन संपदा, सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर किया जाता है। घर के वृद्धों लोगों की स्थिति बड़ी सोचनीय है। उन्हें एक बोझ के तहत समझा जाता है। वस्तु और व्यक्ति का महत्व उसकी उपयोगिता पर निर्भर रहता है। वह कहती है कि ''मुझे लगता है, बीसवीं शताब्दी के इस छोर पर खड़े होकर भी यूरोप निवासी मात्र धन या अर्थ हो गए हैं, उनके जीवन का ध्येय बस धन अर्जित करना भर

है। अगर आप धनवान हैं तो आपका अस्तित्व कुछ है अन्यथा बेमानी है। यूरोप में आप साधारण व्यवहार नहीं कर सकते - साधारणता, सहजता, पागलपन समझ ली जाती है - और पागलों को तो पागलखानों में बंद करना ही होता है। यूरोप में वृद्ध हो जाना भी गुनाह है, बूढ़े नागरिकों और वृद्ध गृहों (Old Homes) में भरती कर दिया जाता है - एक कारागार से दूसरे कारागार तक कौन सी गांठ कहाँ खुले कुछ पता नहीं चलता।''[63]

यदि वृद्धों को घर परिवार में स्थान दिया भी जा रहा है तो निजी स्वार्थ के कारण ना कि स्नेहवश। वहाँ की सरकार वृद्धों की देख-रेख तथा दयनीय स्थिति बचाने हेतु भत्ता उपलब्ध कराती है। इस मनोवृत्ति के शिकार केवल विदेशी परिवार ही नहीं बल्कि वह भारतीय परिवार भी हैं जो वहाँ जाकर बस गए हैं और स्थायी नागरिकता प्राप्त कर चुके हैं। इंग्लैंड में एक भारतीय परिवार के घर में बुजुर्ग की स्थिति हुए सामान की भांति देखकर लेखिका उन्हें वापस भेजने की बात करती है जो उत्तर मिलता है वह चौंकाने वाला ''इंग्लैंड ने ब्रिटिश नेशनल के निर्भर माता-पिता को साठ साल की उम्र के बाद एक अच्छा-खासा एलांउस मिलता है। उसने सच उगल दिया- एक फ्री पास भी मिलता है जहाँ चाहे सफर करे.....।''[64]

तत्कालीन समाज में स्त्रियों की वर्तमान दशा भी केाई संतोषजनक नहीं थे। उनके विकास, उत्थान और अधिकारों की जागरूकता के प्रति उदासीनता ही रही। जबकि देश का सर्वोच्च उच्चासीन पद स्त्री द्वारा ही अधिकृत था। फिर भी स्त्रियों के सुधार के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाये गये। लेखिका स्त्रियों की अमानवीय स्थितियों के लिए चिंताग्रस्त है। उसका सामाजिक आत्म उसे उद्वेलित करता है कि ''हमारी प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने भी तो अपने जीवन काल में भारतीय महिलाओं के

कानूनी हकों को मार्जित करने या सुधारने की दिशा में कोई पुख्ता कदम नहीं उठाया, वैसा कुछ जो उनका लैंडमार्क बन सकता था। खालिदा जिया इस्लाम के पुरोहित वर्ग से इतनी भयभीत क्यों हैं कि स्त्रियों के प्रति विशेष रूप से उदासीन हैं?''[65]

व्यक्तिगत स्वार्थ और आधुनिकता ने आदमी को आदमी का दुश्मन बना दिया। देश की सर्वोच्च नेता आतंकवाद और जातिवाद की भेंट चढ़ गई। मनुष्य का मूल्य सिर्फ चंद बंदूक की गोलियों के बराबर हो गया फलस्वरूप पूरे देश में लूटपाट, खून खराबा, दंगे, कर्फ्यू का वातावरण व्याप्त हो गया। लेखिका कहती है कि ''मुझे याद है, जिन दिल्ली में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या हुई थी और नृशंसता का एक नाटक खेला गया। दिल्ली ही नहीं, पूरे भारत को एक पैशाचिक कोलाहल घेरकर बैठ गया था, सिखों की हत्याएं दंगे फसाद और लूटपाट की वारदातों से वातावरण असह्य हो रहा था।''[66]

बूँद-बावड़ी

पद्मा सचदेव की आत्मकथा बूँद-बावड़ी का प्रथम संस्करण सन् 1999 ई. में प्रकाशित हुआ। पद्मा सचदेव डोगरी भाषा की सुप्रसिद्ध कवयित्री मानी जाती हैं। उनका जन्म जम्मू के पुरमंडल गांव में शिक्षक माता-पिता के घर हुआ। पद्मा सचदेव टी.बी. जैसी असाध्य बीमारी से 3 वर्ष तक जीवन और मृत्यु के बीच जूझती रही और अंतत: अपनी अदम्य जिजीविषा के बल पर मृत्यु को पीठ दिखाकर जीवन को गले लगाया। बचपन से संस्कारगत मान्यताएँ धरोहर के रूप में माता और पिता से प्राप्त हई। बचपन की रंगीनियों ने बहुत जल्द ही मुंह मोड़ लिया। लेखिका जब मात्र आठ वर्ष की थी पिता दंगे की बलिवेदी पर चढ़ गए और जीवन की गंभीरता सामने आयी। जवान माँ के रूप में एक स्त्री छोटे-छोटे बच्चे घर गृहस्थी सभी कुछ छोटी सी उम्र में देखा और

अनुभव किया। माँ का दु:ख घर की जिम्मेदारियों ने लेखिका के आत्म को विकसित और उसे बड़ा कर दिया। वह माँ को हर बुरी बात से बचाना तथा समाज की कुदृष्टि से सुरक्षित रखना चाहती है। एक अभिभवक के रूप में। होली के अवसर पर बाहरी व्यक्ति के द्वारा रंग के छींटे माँ पर पड़ जाने पर उसके आक्रोश ने सीमा पार कर दी। ''मैंने माँ के चेहरे परदुख और झुंझलाहट देखी। मैं उसी बुखार में बाहर आई उस आदमी को गालियों से धुन दिया। गोलियों से आदमी मरता है, गालियों से छलनी होता है। मैंने उसे कहा - दोबारा हमारे आंगन की तरफ आये तो तुम्हारी टोंगे तोड़ दूँगी। जिस पर तुम्हारी पिचकारी का रंग पड़ा है उसका आदमी तुम्हारे जैसे घटिया लोगों से बात तक न करता था। निकल जाओ यहाँ से, जाओ।''[67]

समाज का भय और असुरक्षित भविष्य की चिंता ने उसे ऐसे रास्ते पर मोड़ दिया। शराबी व्यक्ति से प्यार और विवाह के साये में स्थिरता तलाशने चल दी। परन्तु बहुत जल्द ही यह भ्रम दूर हो गया। उस व्यक्ति का स्वयं में अस्थिर भविष्य था तो वह लेखिका को सुखी और सुरक्षित जीवन कहाँ से देती? ''एक अनिश्चित भविष्य मेरे सामने मुंह बाये खड़ा था। वो जोर से सांस भी लेता तो मैं उसके भीतर समा सकती थी। पर मेरी सारी हिम्मत अभी तक बरकरार थी, क्योंकि उनकी माँ मुझे अपने साथ कश्मीर ले जा रही थी।''[68] पति के रूप में एक ऐसा व्यक्ति जो स्वयं के पाँव कीचड़ में डाले हुए हो और उससे निकालना असंभव। वह खुद दूसरों को बैसाखियां बनाकर चलने के लिए विवश। क्षणिक भावावेश में लिया गया निर्णय ने सांस लेने से पूर्व ही दम तोड़ दिया और लेखिका को उपहार स्वरूप दु:ख दर्द, द्वंद्व ने असाध्य बीमारी को दिया। वह अपनी मौत के दिन गिनने लगी। पति नामक जीव का कहीं अता पता नहीं। जब उन्हें सूचित किया गया तब ''दीप साहब को पत्र लिखवाया गया कि डॉक्टर को

दिखाने के लिए पैसे नहीं है, पद्मा बीमार है। दीप साहब ने पत्र लिखा होगा, उनके पास पैसे कहां से आयेंगे। सो पैसों के अभाव में मैं चारपाई पर लेटी-लेटी किसी अनहोनी घटना का सपना देखने लगी। इंतजार या भारतीय लड़कियों के लिए रखे गए प्रावधान का।''[69]

जम्मू के अस्पताल में तीन वर्ष तक बिस्तर पर सांसे गिनती है। इतनी लम्बी बीमारी ने लेखिका का जीवन दु:खों और कष्टों से भर दिया। दिन, सप्ताह महीने और वर्ष ने उसमें जीने की उमंग पैदा की। भाग्य, चिकित्सा, और जीने की दृढ़ता ने उसे शनै:-शैन: नव जीवन प्रदान किया। स्त्रियाँ अपने जन्म के साथ ही स्थायित्व, ठहराव, सृजन की क्षमता लेकर ही पैदा होती है। हर हाल में, हर परिस्थिति में अपने दायित्वों का निर्वाह करती है। तीन साल में लेखिका को अस्पताल भी घर की भांति लगने लगता है क्योंकि घर और परिवार के नाम पर तो कोई नहीं। वह कहती है ''अब अस्पताल भी अपना घर ही लगता है। औरतें ये ताकत में ये ताकत होती है। जहां दो ईंट खड़ी करके चूल्हा जलाती हैं उसी को घर समझती है। मैंने तो अपनी देह जलाकर जीने के लिए चूल्हा जलाया था। ये मुझे अपना घर क्यूं न लगता।''[70]

बीमारी से ठीक होने के पश्चात वह फिर नए सिरे से अपना जीवन जीना चाहती है क्योंकि इतनी कठिनाइयों, संघर्ष के बाद भी उसे लगता है वह सब कुछ ठीक कर सकती है। स्त्रियाँ संबंधों को जीना सीखती है ढोना नहीं। थोड़ा सा संबल यदि उसे मिल जाए तो बाकी सब कुछ तो सहज करने की क्षमता उनमें होती ही है। परन्तु परिस्थितियाँ तो बिल्कुल विपरीत वह जितना सहज बनाने का प्रयतन करती उतनी ही वह उलझ जाती है। निकलने का कोई मार्ग नहीं। वह लिखती हैं कि ''दीप साहब एक ऐसा छाता थे जिसमें सिर्फ लोहे की की छड़ियां थी, कपड़ा न था। अब मेरी ये दीमागी

हालत थी कि मैं खुदकुशी कर लूँ। एक-आध गहना रह गया था। बाकी बेचकर मैंने दीप साहब के शराबखानों और ढाबों के पैसे दे दिये। तिनका तिनका जोड़कर बनाया घर छोड़ने की तरकीबें मैं सोचने लगी थी। अपने अस्तित्व को बचाने का यत्न ही मेरी जिंदगी का सबसे बड़ा ध्येय था।''[71]

लेखिका अपने अस्तित्व को बचाने हेतु निर्णय लेती है पति से अलग होने का। अपनी मान मर्यादा, रिश्ते संबंध सभी कुछ दांव पर लगाकर भी वह दाम्पत्य जीवन को सुखमय नहीं बना पा रही थी। क्योंकि बचाने का कोई आधार ही नहीं था। यहाँ तक कि उसकी पहचान और अस्तित्व भी धूमिल पड़ता जा रहा था। अंतत: वह अलग हो ही जाती है। स्वयं के द्वारा बनाए गए उस संबंध का जिसका न कोई वर्तमान था और ना ही भविष्य समाप्त कर देना और उससे मुक्त हो जाना बड़े साहस का कार्य था। एक तरह अपने आत्म अपने स्व को बचाना था। सदियों से स्त्रियों का त्रास देने, शोषण करने, अपना आधिपत्य स्थापित करने और अपने जीवन से निष्कासित करने का कार्य पुरुष ही करता आ रहा है। लेखिका के पति दीप साहब को इस बात का भान तनिक नहीं था कि वह उन्हें ऐसी कोई चोट उन्हें सकती है। वे कहती है कि ''असल में ये काम अगर दीप ने खुद किया होता तो शायद उन्हें उतना बुरा न लगता पर एक औरत, नाचीज औरत अगर आदमी के अहंकार का फन पांव तले यूं मसलकर चली जाए तो वो बहुत आहत होता है। हर चीज के बावजूद दीप जी को ये विश्वास नहीं था कि मैं इस तरह उन्हें का छोड़ा तीर उन्हीं पर लौटा दूँ।''[72]

मुक्ति के अनुभव ने लेखिका को नवजीवन दिया वह सब कुछ विस्मृत कर पुन: जीवन को नए ढंग से देखने लगती है। ऐसे जैसे पहले कुछ हुआ ही न हो। ''बस मैं बस में जा रही थी। एक मुक्ति का अनुभव करती हुई। एक ऐसे जाल से मुक्ति, जिसके

कांटे अब तक मेरी रुह के जिस्म पर चुभे हुए थे। कितना ही कुछ तो याद आता रहा। इस छोटी सी उम्र में कितना ही कुछ मैंने देख लिया था।''[73]

पुरमंडल प्राकृतिक सौंदर्य और देखभाल के लिए प्रसिद्ध माना जाता है। जीवन संघर्षों को परीक्षा समझकर उत्तीर्ण किया और अदम्य जिजीविषा ने उन्हें कभी हार मानने नहीं दी बल्कि जीवन की कठिनाइयों को पार करते हुए अपने उद्देश्य को पाने में समर्थ हुई। प्रकृति और अपनी जमीन से जुड़ी पद्मा सचदेव ने देश में ही नहीं विदेशों में अपनी ख्याति अर्जित की। जम्मू पर उन दिनों राजा हरिसिंह का राज था। अपनी स्थली पुरमंडल के इतिहास बताते हुए वह कहती है कि ''मेरा गाँव पुरमंडल गुप्त गंगा देविका के किनारे बसा महान तीर्थ स्थल है। जम्मू से पूर्वोत्तर दिशा में 39 किलोमीटर दूर शिवालिक की पहाड़ियों के बीच इस रमणीक गांव में जाने के लिए अब बस सेवा उपलब्ध है। कालांतर से ऋषि मुनियों का तपोस्थल व राजा महाराजाओं का धर्म सिद्ध विश्वास तथा आगंतुकों का रोचक स्थान रहा मेरा गाँव।''[74]

पहाड़ी क्षेत्र अपने सौंदर्य और वहाँ के निवासियों की विशेषताओं के कारण अपनी अलग पहचान बनाते हैं। वहाँ के लोग सहृदय, ईमानदार, कर्मठ और सीधे सादे माने जाते हैं। शहरों की कलुषिता और कृत्रिमता से दूर उनके रहने-सहने व्यवहार के अपने मौलिक ढंग हैं। शिक्षित पिता ने रूढ़ि और परंपराओं को ताक पर रखकर जीवन को बौद्धिकता और तार्किकता के साथ जिया। वह लिखती हैं कि ''पिताजी, बाजौक और दृढ़ निश्चय वाले व्यक्ति थे। जब उन्होंने माँ को देखा, उसके बाद भी बी.ए. तक पढ़ी लड़कियों के रिश्ते आये पर पिताजी डट गए और मेरी माँ से शादी की। आज से पचपन बरस पहले उन्होंने मेरे नानाजी को कहा -मैं दहेज नहीं लूँगा। बरात एक दिन ठहरेगी। तब बारात हैसियत के मुताबिक पांच-पांच, छ:-छ: दिन

ठहरती थी।"[75] तत्कालीन समय में अंग्रेजी शासन का बोलबाला और देश का प्रत्येक वर्ग, जाति, समाज अपने अपने स्तर पर अंग्रेज विरूद्ध हो रहे आंदोलनों और क्रांतियों में अपना योगदान दे रहा था। लेखिका के पिता विधानसभा में अनुवादक के पद पर कार्यरत थे। उनकी राजनीतिक गतिविधियों की सूचना अंगेजों को प्राप्त हो गई थी। उन्होंने उनके लिए फांसी की सजा तक सुनी दी। लेकिन बाद में पिता बच गये। भारत और पाकिस्तान के पश्चात देश दो भागों में विभाजित हो गया। अतीत का पृष्ठ वर्तमान संदर्भ में बिल्कुल भिन्न था। बचपन में लेखिका जिस स्कूल पढ़ी थी आज के संदर्भ में वह पाकिस्तान की सरजमी है। वह अब पृथक हो गया अपना नहीं रहा। वह कहती है कि "आज इस पूरे मीरपुर में पाकिस्तान ने बांध बना दिया है। उसमें डूब गयी। अतीत कहानियाँ। मीरपुर से भागते समय जगह-जगह अपने घरों में लोगों द्वारा दबाई गई चीजें लोगों के घर राधाकृष्ण का मंदिर और स्वतंत्र भारत से पहले के सारे ख्वाब। बरसों से घर जाने की मीरपुर वालों की ख्वाहिशें और अनवरत प्रतीक्षा भी इसी बांध में डूब गई है, और डूब गया है अतीत।"[76]

पहाड़ी प्रदेशों में विकास के संसाधनों का अभाव के कारण लोग अधिकतर शारीरिक श्रम और प्रकृति पर निर्भर थे। कुआँ और बावड़ी का पानी पीने के लिए और नदियों तथा तालाबों का पानी न हाने धोने के लिए। परिवहन की सुविधाएँ न के बराबर थी। चिकित्सा के लिए जंगली जड़ी बूटियाँ। इसी तरह समय का आकलन करने के लिए घटना विशेष के समय चाँद और सूरज की रोशनी और स्थिति को देखकर लगाया जाता था। लेखिका के छोटे भाई के जन्म के समय धूप को चिह्नित कर दिया गया। घड़ी आने पर नियत स्थान पर धूप आने पर उसके जन्म का समय पता चल जाता है। वह लिखती हैं कि "अगले दिन मेरे ताया जी कहीं से मांगकर घड़ी लाये थे। और जब उस

ठोंके हुए निशान पर धूप पहुँची तब समय देखकर श्रीकांत की जन्मपत्री बनी।''[77] अंग्रेजों ने जाते-जाते जो घाव भारत को दिया था वह था विभाजन हिन्दुस्तान और पाकिस्तान देश के दो टुकड़े हो गए विभाजन की घटना ने वैमनस्य का जो बीज बोया वह आज तक फल फूल रहा है। दोनों देशों के संबंध आज तक मधुर नहीं बन पाये। तत्कालीन समय में विभाजन के परिणामस्वरूप पूरे देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगे इतने भयावह थे लोगों को आतंकित कर रहे थे और जम्मू कश्मीर तो आतंकवाद का गढ़ बन गया। वह लिखती हैं कि ''इस वक्त मुसलमानों के खिलाफ माहौल गर्म था। कई शूरवीरों ने निहत्थे भोले-भाले गूजरों की मौत के घाट सिर्फ इसलिए उतार दिया, क्योंकि वे मुसलमान थे। मुसलमानों ने ही मेरे पिताजी को भी गोलीमारी थी, इसलिए मेरे मन भी बड़ी नफरत थी, गुस्सा था। फिर उन्हीं दिनों वो तांगे वाली घटना भी हुई; जिस पर शेख साहेब व उनका परिवार खफा रहे। कहते हैं जब श्रीनगर में कबाइलियों का हमला हुआ तब कुछ हिन्दुओं को सुरक्षित जम्मू पहुँच गए तब उन मुसलमान तांगे वालों को लोगों ने मार दिया, जो श्रीनगर से जम्मू तक हिन्दू परिवारों को लाए थे। ये बड़ी घटिया और इंसानियत से गिरी हुई बात थी।''[78]

भय और आतंक ने जम्मू और कश्मीर की आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक शासनिक व्यवस्थाओं को अस्थिर कर दिया था। क्योंकि एक के बाद एक दिल दहला देने वाली घटनाएँ पहले विभाजन की त्रासदी फिर 1965 और 1971 में भारत पाकिस्तान युद्ध जिससे स्थितियाँ सामान्य होने के बजाय तनावपूर्ण होती गई और आज भी जम्मू और कश्मीर इसकी चपेट में हैं। लेखिका की जन्मस्थली बचपन सब इस भूमि से जुड़ा हुआ है। वहाँ की स्थिति देखकर वह दु:खी और व्याकुल है कि क्यों इंसान को नहीं समझ रहा। एक दूसरे का रक्त रंजित कर रहा है। वह लिखती हैं कि

''ये दर्द सिर्फ बंटवारे के लोगों का ही नहीं है, उनका भी है जो 1965 व 1971 की पाकिस्तान-हिन्दुस्तान की लड़ाई में उजड़े, जिनके भरे-पूरे घर आज भी उनका इंतजार करते हैं। हमारे जवानों द्वारा जीता गया इलाका भारत ने जब थाली में परोसकर छोटे भाई पाकिस्तान को दिया, तब के उजड़कर आये लोगों को बसाने का यत्न किसी ने न किया।''[79]

विभाजन की त्रासदी के पश्चात शरणार्थी एक जगह से दूसरी जगह स्थानांतरित हो रहे थे भारत से जो लोग पाकिस्तान गये, उन्हें वहाँ हेय दृष्टि से देखा जा रहा था और पाकिस्तान से जो शरणार्थी यहाँ आ रहे थे। उनकी स्थिति भी सम्मानजनक नहीं थी। विशेषकर स्त्रियों की दशा तो और भी सोचनीय थी। वैसे भी घर परिवार, देश, समाज, राष्ट्र कहीं भी यदि हमले का संकट गहराता तो सबसे अधिक त्रासद, दु:ख अपमान का शिकार स्त्रियाँ ही होती है। वह लिखती हैं कि ''मुझे बड़ा दुख हुआ था। तब मैं दस ग्यारह बरस की मूर्ख-सी लड़की थी और ये न जानती थी कि जब भी बंटवारा होता है वो चाहे मूल्य का हो चाहे घर का हो, चाहे सल्तनतों का, औरत हमेशा अपमानित होती है। सड़क पर गाली-गलौज करने वाले भी आराम से तेरी माँ व तेरी बहन की गाली दे डालते हैं। औरत एक इस्तेमाल की चीज हो जाती है। जैसे कुम्हार के घर बर्तन इस्तेमाल के बाद फेंक दिया जाता है; वही स्थिति है औरत की। पर अब अगर पता भी चल गया है तो क्या कर सकी हूँ। असहाय होने का दुख बेदर्दी से अहसास के साथ चलता रहता है।''[80] अर्थात घर या बाहर सबसे अधिक संताप औरत के खाते में ही आता है। वह दोषी हो या ना हो उसे स्त्री होने की कीमत तो चुकानी पड़ेगी ही।

कुछ कही कुछ अनकही शीला झुनझुनवाला की आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही' का प्रथम संस्करण सन् 2000 ई. में प्रकाशित हुआ। इस आत्मकथा में

लेखिका के बचपन से लेकर 60 वर्षों के अंतरालों, रिक्तयों और पूर्तियों का लेखा जोखा है। लेखिका की बीमार माँ दो छोटे-छोटे भाइयों की देख-रेख, ताई का कठोर अनुशासन घर की जिम्मेदारियाँ उसे असमय ही वयस्क बना देती है। शीला झुनझुनवाला अंत:मन से अति संवेदनशील, बौद्धिक और तार्किक दृष्टि को प्राथमिकता देने वाली जुझारू महिला के रूप में पहचान बनाती है। आत्मकथाकार अपने आत्म को जाने अनजाने जब भी पहचानने में सफल होता है उसका आत्म उसे झकझोरता है घटनाओं को संबंधों को स्थितियों के साथ सामंजस्य बिठाने के लिए। अंतत: रचनाकार के हाथ में कलम आ ही जाती है और अभिव्यक्तियों के रूप में रूपायित होने लगती है। ''मैंने अपने को कभी भी इतना महत्वपूर्ण नहीं समझा कि अपनी कहानी को अक्षरों, शब्दों और वाक्यों के माध्यम से कागज पर उतारूं। इसीलिए मैंने कभी कोई डायरी नहीं लिखी, कोई नोट्स नहीं रखे। तरतीब से कभी कुछ कलमबद्ध भी नहीं किया। यहाँ तक कि अपनी स्वयं की रचनाओं की कॉपी भी नहीं रखी। अपने जीवन को, अंतस को उजागर करने का यह संकोच, कहीं न कहीं आज भी मेरे मन में है। फिर भी पता नहीं कैसे यह बीता हुआ कल संस्मरणों का एक जखीरा बन गया।''[81]

लेखिका व्यक्ति की पूर्णता संबंधों के ताने-बाने में खोजती है। अपने आत्म को वह इनसे पृथक कर सोच ही नहीं पाती बल्कि इसे वह अंत:मन के समीप ले जाने में आवश्यक मानती है अर्थात अपने स्व को किसी ऐसे रिश्ते के साथ तादात्म कर देना कि पूर्णता का अनुभव होने लगे। कोई ऐसा हो जो उसे जाने समझे देखे सुने। वह कहती है कि ''जब हम अपने को पूर्ण से जोड़ ले गेया पूर्ण के अतिरिक्त अपनी कोई सत्ता नहीं मानेंगे, तब हमें न तो कुछ पाना शेष रहेगा और न कुछ भोगना ही शेष रहेगा। क्योंकि तब हमारे लिए भी हमारे माध्यम से यह सब कुछ जो पूर्ण है, वही

करेगा। यह पूर्ण व्यक्ति भी हो सकता है, ईश्वर भी हो सकता है, पति भी हो सकता है गुरु भी हो सकता है। अलग-अलग परिस्थितियों में और उम्र के अनेक चढ़ते-उतरते पड़ावों पर इसी पूर्ण ने जिस में मेरा विश्वास केन्द्रित था, मेरी मानसिक-यात्रा को शंका भय जय-पराजय की चिंता से मुक्त किए रखा, मुझे इस योग्य बनाया कि मैं अपने चेहरे के बाहरी रूप को कम, अंतस के रूप को अधिक देख सकी।''[82]

स्त्री चाहे किसी वर्ग की हो जाति की हो उसे पुरुषों की खुशी उन्नति क्रोध राग द्वेष का ख्याल रखना ही पड़ता है। यह उसके कर्तव्यों में सम्मिलित है। पुरुष की इच्छाओं महत्वाकांक्षाओं को उसे प्राथमिकता देनी ही पड़ेगी, तभी दाम्पत्य जीवन की यात्रा पूर्ण हो सकती है अन्यथा खतरे ही खतरे हैं। लेखिका को भी इन्हीं पगडंडियों पर चलना पड़ता है। ''संसार की सभी पत्नियाँ एक जन्मजात दायित्व निभाती है। पति के आक्रोश को शांत करने का दायित्व। पति कहीं से झगड़कर आया हो, यदि वह आक्रोश में है तो उसे शांत पत्नी ही करेगी। कहीं पढ़ा था कि कुंआरे ज्यादा जिया नहीं करते हैं। लाख समझ में आता है। कुंआरों का आक्रोश कौन शांत करे? पत्नी तो होती नहीं बेचारों की। उस समय में अपने इस जन्मजात दायित्व को निभा रही थी। पति का आक्रोश उबला पड़ रहा था।''[83]

रमणिका गुप्ता कहती हैं कि स्त्रियां अगर पुरुष के अहम को सहलाती रहे तो पुरुष को गुाम बना सकती है। लेखिका अपने वैयक्तिक आत्म को ताक पर रखकर पुरुष (पति) के अहम की ही मार झेल रही थी। जब उनका पड़ोसी गोपाल उन्हें अपने यहां आमंत्रित करता है और वह नहीं जाना चाहते हैं क्योंकि वह उनसे अनैतिक फेवर चाहता है पुत्र के कहने पर कि हम गोपाल अंकल केडर से बाहर जा रहे हैं। इस पर ठाकुर का क्रोध सातवों आसमान पर और दोषारोपण शीला के सिर पर। ''वाह रे

पुरुष! उस समय ठाकुर नहीं बोल रहे थे। पति का दंभ बोल रहा था। पति जो कभी-कभी अकारण कितना कठिन हो जाता है। अपने हिस्से की सारी धूल पत्नी के ऊपर डाल देता है और स्वयं धूल झाड़कर अलग खड़ा हो जाता है। ऐसे समय यदि भी कड़क उठे तो घर में महाभारत हो जाए।''[84]

मानवीय स्वभावगत कमजोरियां कमोबेश प्रत्येक इंसान के भीतर होती है। लेखिका भी स्वीकारती है कि वह भी परिस्थितियोंवश कहीं-कहीं कमजोर हुई परन्तु दृढ़संकल्प और संस्कारगत शिक्षा ने उसे उबारा, जिससे उसका वैयक्तिक आत्म दोष रहित बना। मामा को रोज भांग खाकर मस्त होते देख वह भी खा लेती है। परन्तु अगले ही क्षण वह यथार्थ के धरातल पर अपने को संयमित और सुरक्षित करती है। वह कहती है कि ''इसका कारण मन का भय भी था कि कहीं मैं स्वयं कहीं खो न जाऊँ? एक छटपटाहट हुई। विस्मृति की तलाश उठी और यह भी उस क्षण लगा कि विस्मृति की तलाश ही लक्ष्य है - वही अंतिम यथार्थ है। पर मन के भय ने और स्वयं के खो जाने के अहसास ने त्रस्त मन को शरण दी और मैं बच गयी।''[85]

लेखिका का मानना है कि स्त्रियों का आत्म संबंधों की परिधि में ही रच बसकर निरूपित होता है। किस तरह उसका स्वआत्म समझौता कर पारिवारिक आत्म में परिवर्तित होता है क्योंकि स्त्रियाँ संबंधों को जीती है। उकताती नहीं है। पति के मित्र डॉ. लाल के पूछने पर कि आप में और आपके पति में इतना विरोधाभास होते हुए भी सब कुछ इतना सहज कैसे है? वह उत्तर देती है कि ''लाल भई, हम औरतों को बचपन से यह मालूम कराया जाता है कि हमारे विचारों और कर्मों का कोई महत्व नहीं है। हमें सदैव दूसरों के साथ सामंजस्य बैठाना एक आदत बन जाती है। टकराव भी होते हैं

बौद्धिक स्तर पर, स्वाभाविक है, पर वे क्षणिक होते हैं और हमारे आपसी संबंधों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।''[86]

लेखिका शिक्षित समझदार समाज में अपनी प्रतिष्ठा रखने वाली 'धर्मयुग' और 'कादम्बिनी' जैसी स्तरीय पत्रिकाओं की संपादिका हैं। उसके सामाजिक विकास अर्थात सामाजिक आत्म के निर्माण में पग-पग पर ठेस लगाने वालों की कमी नहीं है। वह उनका डटकर सामना ही नहीं करती बल्कि अपने सामाजिक आत्म को सशक्त भी बनाती है। ''शीघ्र ही मैंने दृढ़ता से, पर स्पष्ट रूप से बता दिया कि मैं उनमें से नहीं हूँ जिन्हें रास्ते के पड़े पत्थर की तरह ठोकर मारकर किनारे लगाया जा सकता हो। वस्तुत: हम महिलाओं को सभी क्षेत्रों में ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। उन्हें पग-पग पर अपनी पहचान बनानी पड़ती है।''[87]

लेखिका के बचपन में शहर का वातावरण हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों, लड़ाई झगड़ा से विषाक्त हो चला था। वह लिखती हैं कि ''हमारा घर सड़क के किनारे था। अक्सर कालीरातों के भयावहट अंधेरे में 'हर हर महादेव' और 'अल्ला हो अकबर' की गूँजे उठती थी फिर एक भयानक सन्नाटा। छतों पर इकट्ठे किये गए ईंट पत्थरों के ढेर। कभी-कभी एक ओर से बढ़ता हुआ हुजुम, दूसरी तरफ हल्ला बोलती हुई भीड़ और कभी ताजे गरम-गरम रक्त से किसी की हिंस्र प्यास को बुझाती हुई कोई इक्का दुक्का लाक्ष चौराहे पर पड़ी हुई।''[88]

आधुनिकता अपने पैर अभी नहीं पसारे थे। लोगों में दिखावा न होकर सरलता और सहजता की भवना अधिक थी। महंगाई ने अपना मुँह नहीं बाया था, वस्तुएँ आसानी से सबको प्राप्त हो जाती थी। इस सबके बावजूद विदेशी शासन शोषण दमन, आंदोलन, क्रांतियों से देश में उथल-पुथल मची हुई थी। देश की आजादी प्रत्येक व्यक्ति

के लिए आवश्यक होने के साथ महत्वपूर्ण हो गई थी। राजनीतिक आंदोलन और सामाजिक गतिविधियों में नेता, राजनेता समाज सेवी देशभक्त अपनी भागीदारी निभा रहे थे। स्वतंत्रता के लिए किये प्रयासों ने लेखिका के मन पर भी अमिट छाप छोड़ी। वह तत्कालीन परिस्थितियों को अभिव्यक्त करती हैं। ''गांधी और सुभाष में, अहिंसा और क्रांति-सशस्त्र क्रांति में गांधी की बात मेरा युवा-मन स्वीकार करने को तैयार नहीं था। भला, कोई इतने वर्षों से छीनी हुई आजादी ऐसे ही लौटा देगा। एक ओर गांधी जी का असहयोग आंदोलन दूसरी ओर सुभाष चद्र बोस का नारा - तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा।'' दिमाग बहुत कुछ सोचने लगा। बिना युद्ध किये आजादी नहीं मिलेगी, यह विश्वास एक स्फूर्ति भरता गया।'' लेखिका भी स्वतंत्रता आंदोलनों और राजनीतिक गतिविधियों में अपनी भागीदारी निभाती है। क्योंकि देश की युवा शक्ति पूरे जोर-शोर से इन आंदोलनों में अपना योगदान दे रही थी। वह भी योगदान देना अपना दायित्व समझती है। वह कहती है कि ''पचास साठ लड़कियों का जत्था जो बाहर आने में सफल हो सकता - 'भारत माँ की जय', 'अंग्रेजी हुकूमत मुर्दाबाद' के नारे लगाता हुआ नहरिया की ओर बढ़ चला। मैं भी इस जत्थे में थी। तभी पुलिस ने जत्थे को घेर लिया।''[89]

देशवासियों के बलिदान और त्याग ने स्वर्णिम आजादी की मंजिल प्रदान की। अंग्रेजों का शासन समाप्त हो गया था। प्रत्येक भारतीय उन्मुक्त हवा में सांस ले सकता था। ''8 अगस्त, 47 का दिन था। एक सप्ताह बाद ही भारत को गुलामी की जंजीरों से छुटकारा मिलने वाला था। मुझे आज भी वह पंद्रह अगस्त याद है। सारे शहर में शोरगुल, रोशनी भीड़-भाड़ और उत्साह का वातावरण था।''[90]

देश की आजादी तो प्राप्त हुई दूसरी तरफ रागद्वेष, वैमनस्यता, अमीरी-गरीबी, धार्मिकता, साम्प्रदायिकता की पकड़ ढीली नहीं हुई। लेखिका शहर कानपुर भी इसे अछूता नहीं रहा। ''कानपुर जैसा समृद्ध शहर उन दिनों भी दो वर्गों में बंटा हुआ था। धर्म की संकरी दीवारें समाज को खोखला कर रही थी। गाहे-बगाहे दंगे होना मामूली बात थी और अगर कभी कुछ नहीं होता तो लगता, शहर में जान ही नहीं है। छल प्रपंच कपट आपसी द्वेष हिन्दू मुसलमानों के बीच ही नहीं था, बल्कि मुसलमान-मुसलमान भी एक दूसरे के दुश्मन थे।''[91]

स्वतंत्रता पश्चात देश के छोटे-छोटे राज्य रजवाड़े की आधिपत्य समाप्त कर केन्द्र व राज्य का शासन लागू किया गया। राजा महाराजों सेठों ने अपनी अथाह संपत्ति को गुप्त रूप से छिपा दिया। सरकार के आदेश पर छापे मारे गए जिनमें अकूत संपत्ति प्राप्त हुई। रामगढ़, जयपुर गायत्री देवी आदि की अघोषित संपत्ति सरकार ने अपने अधिकार ली। सरकार अपनी नीतियाँ योजनाएँ नए सिरे से निर्धारित कर रही थी। शासन व्यवस्था के तहत ही देश को एकजुट होना आवश्यक है जिसके लिए सर्वप्रथम एक ऐसी भाषा चाहिए थी जो जन-जन की भाषा हो। हिन्दी की लोकप्रियता सरलता सहजता को देखकर उसे राष्ट्रभाषा के लिए उपयुक्त समझा गया परन्तु देश का दक्षिणी क्षेत्र इसके विरोध में असहमति व्यक्त कर रहा था। ''दक्षिण में उन दिनों हिन्दी के विरूद्ध आंदोलन चल रहा था। अकेले जाने में दक्षिण भारतीय भाषाओं की जानकारी के बगैर समस्याएँ खड़ी हो सकती थी।''[92]

देश में विभिन्न राजनीतिक पार्टियां अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु वर्चस्व बनाए रखना चाहती थी। कांग्रेस पार्टी के आंतरिक विघटन, दिशा निर्देशन के अभाव ने पार्टी के अस्तित्व को कटघरे में खड़ा कर दिया। देश की शासन व्यवस्था नियंत्रित न होने तथा

अनेक समस्याओं की उपस्थिति ने देश पर आपातकाल की स्थितियाँ उत्पन्न कर दी। आखिरकार 1975 में आपातकाल की घोषणा हो गई। आपातकाल की अवधि में जनता में आक्रोश, असंतोष की भावना ने भर गई। शासन की नीतियों और तानाशाही ने जनता का जीना दूभर कर दिया। हालांकि समाज की भलाई और जनता के हित के लिए अनेक योजनाएँ और कार्यक्रम चलाए गए। इंदिरा गांधी के 20सूत्री और संजय गांधी के 5सूत्री कार्यक्रम आरंभ किये गये। फिर भी आपातकालीन स्थितियों की आड़ में बहुत कुछ अनैतिक हुआ जिससे आम जनता भयभीत और आतंकित हुई। ''इमरजेंसी के नाम से लोगों में आतंक फैलाने में सबसे बड़ी भूमिका अदा की यूथ कांग्रेस के सदस्यों ने, अपने को खुदा समझने लगे थे। लोगों को धमकाना संजय गांधी के नाम पर आतंक पैदा करना, विज्ञापन एकत्रित करना और जबरन चंदा वसूलना यूथ कांग्रेस का ही काम था। और भी ज्यादतियां हुई; नसबंदी कार्यक्रम के तहत, जहाँ सरकारी अफसरों को अपना कोटा पूरा करना था, वहाँ सबसे ज्यादा ज्यादतियाँ हुई।''[93]

जनता के असंतोष और विद्रोह ने आखिर आपातकाल को नकार दिया। कब तक शासक वर्ग जनता पर मनमानी करता रहेगा और शोषित जनता चुपचाप सब सह लेगी। ''मार्च 1977 को नयी आजादी मिली। खुली हवा में सांस लेने का मौका मिला सबको। यह नयी आजादी, क्रांति की बदौलत ही आयी थी। यह क्रांति जनता के किसी एक वर्ग ने नहीं की थी, देश के सभी वर्गों के लोगों ने मिलकर की थी। उन्होंने आपातकाल को नकार दिया था। स्कूल कॉलेज में पढ़ने वाले छात्र छात्राएँ, छोटे व्यवसायी या उद्योगपति या फिर गांव के अनपढ़ लोग सब इसमें शामिल थे।''[94] आपातकाल की ज्यादतियाँ ने असंतोष के ज्वालामुखी को जन्म दिया परिणामस्वरूप

इंदिरा गांधी की हत्या कर दी गई। पूरे देश में लूटमार दंगा फसाद का वातावरण फैल गया राजीव गांधी प्रधानमंत्री बने।

कस्तूरी कुण्डल बसै

'कस्तूरी कुण्डल बसै' आत्मकथा मैत्रेयी पुष्पा द्वारा लिखी गई जिसका प्रथम संस्करण सन् 2002 ई. में प्रकाशित हुआ। इस आत्मकथा में मैत्रेयी पुष्पा के जीवन के पूर्वार्द्ध की गाथा के साथ-साथ उनकी माँ के जीवन का संघर्ष अंकित है। मैत्रेयी पुष्पा और कस्तूरी एक ऐसी समानांतर रेखाएँ हैं जो साथ तो चलती हैं पर कभी मिलती नहीं। जहाँ कस्तूरी को आत्मनिर्भरता और स्वतंत्रता की चाह है वहीं मैत्रेयी जीवन की उपलब्धि विवाह के बंधन में बंधकर खोजना चाहती है। दोनों के बीच में भेदक रेखाएँ हैं - पीढ़ी का अंदर, परंपरागत मान्यताएँ और समाज से मिलने वाली प्रवंचनाएँ। युवा कस्तूरी ने स्त्री का अस्तित्व शिक्षा और आत्मनिर्भरता में प्रापत किया। प्रतिकूलताओं में भी अपने स्व को सुरक्षित रखा। जब वह अधेड़ व्यक्ति से विवाह की अस्वीकृति देती है तब उसे पारिवारिक, सामाजिक विवशताओं का दिलासा दिया जाता है। लेकिन कोई भी यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि वह क्यों ऐसा करना चाहती है? उसकी अपनी इच्छा है उसके अस्तित्व की अवहेलना क्यों की जा रही है? वह लिखती हैं कि ''मामूली सूरत की सांवली और दुबली-पतली लड़की की माँ और भाइयों के गुस्से का कारण समझ में नहीं आ रहा था, जिन्होंने यह नहीं पूछा कि ब्याह आखिर वह क्यों नहीं करना चाहती ? उसे इस बात का भी अचंभा होता था कि घर में बरसों से दो वक्त चूल्हा नहीं जला, पर ये लोग ब्याह की दावत करने के लिए तैयार हैं।''[95]

समाज की दृष्टि में बेटा और बेटी में अंतर परंपरागत ढांचे की देन है। यदि लड़की का होना इतना दु:खदायी और कष्टकारक है तो लड़कियों का जन्म होता ही

क्यों है? महज स्वार्थ सिद्ध करने के लिए या माध्यम की पूर्ति मात्र जैसे वह कोई जीव न होकर क्रय-विक्रय की वस्तु उसकी उपस्थिति प्रयोग में उपयोग में लाने के लिए निर्धारित की गई है। कस्तूरी प्रयोग नहीं होना चाहती है। क्या कोई स्त्री अपनी स्वेच्छा से बेटी का जन्म और नियति को निर्धारित करती है "माँ ने क्या बेटी पैदा करने की इच्छा की होगी? नहीं की थी, तभी तो दिन-रात उसके जन्म को कोसती रहती थी। किसी के भी न चाहने पर क्यों हो जाती है बेटी? उसने कभी माँ से पूछा था तो बोली थी भगवान चाहता है, सो जनम दे देता है - ऐसे भगवान और भगवान के चेले देवताओं को क्यों पूजे कस्तूरी, जिसने इंसान का जन्म देकर पीतल की कलशियों की तरह बिकने को छोड़ दिया। हाँ, माँ बेटी को जरूर आशीष दे रही होगी क्योंकि वह बेटों का शुभ चाहती है। कस्तूरी के जन्म को आज सार्थक मान रही होगी, क्योंकि जब खेती ने दगा दी, बेटा काम आ गई।"[96]

घर-परिवार खुशहाल और सुरक्षित रखने हेतु बेटी काम आ ही गई। कस्तूरी के बदले 800 रुपये। उन 800 रुपये से भाभी हंसी खुशी घर आ गई, लगान चुकता हो गया और बेटी का बोझ भी उतर गया। बदले में कस्तूरी को मिला विवाह के चंद वर्ष, बीमार पति, एक बच्ची और उम्र भर का विधवापन। दृढ़ संकल्पी कस्तूरी ने फिर भी अपने साहस को कम नहीं होने दिया आत्मविश्वास डगमगाने नहीं दिया। अपनी आत्मा को स्व को खंडित होने से बचाया, भले ही वह समाज की दृष्टि में कठोर स्त्री या हृदयहीन की संज्ञा से विभूषित की जा रही थी। "कस्तूरी ने अपनी पोशाक बदल डाली, इसलिए नहीं कि विधवा को रंगीन कपड़ नहीं पहनने चाहिए श्रृंगार नहीं करना चाहिए, इसलिए कि उसे रेशमी रंगीन कपड़े पहने हुए, गहनों से सजी, ईगुर आल्ता लगाए पति का सिर गोद में रखकर चिता पर जिंदा बैठी हुई रेशम कुंवर की छवि नजरों के सामने

दिखाई देती, सपनों में भी वही आती। क्या उसी छवि के हौल की मारी वह रोई नहीं थी और गाँव मोहल्ला था कि कस्तूरी इस गाँव की पहली औरत है जिसने पति की मौत पर रुदन नहीं किया।''[97] माँ और बेटी के व्यक्तित्व का विकास भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में होती है। जहाँ कस्तूरी ने पिता के घर की विवशता, पति के घर के दायित्व और समाज की उपेक्षा सहकर अपने को स्थापित कर लिया वहीं मैत्रेयी माता-पिता के प्यार से वंचित और समाज की गिद्ध दृष्टि ने असुरक्षा और भयभीत कर दिया है और वह अपने को सुरक्षित रखने के लिए एक ऐसा आवरण चाहती है जो जहाँ वह इन वाह्य खतरों से अपने आपको बचा सके और वह सब कुछ प्राप्त कर सके जो उसके लिए अप्राप्त रहा है। वह कहती है कि ''खेत मेरे बावूजी की छाया थे और शादी मेरे बाबा का सपना। सपनों की छाया मेरे प्राणों से बंधी है कि उन दोनों के विछोह में किसी पुरुष को खोजती फिरती हूँ। माँ तुम खफा क्यों होती हो? मेरी स्वाभाविक इच्छाओं को कठोर उपवास में मत बदलो। मैं अपनी इंद्रियों को कसते-कसते दूसरों की हवस का शिकार हुई जाती हूँ।''[98]

कस्तूरी की दृष्टि में विवाह, बच्चे घर-परिवार स्त्रियों के सामाजिक आत्म के विकास के लिए बाधक है। यदि वह अपने आपको चारदीवारी और पारिवारिक संबंधों में उलझा देगी तो उसकी अपनी पहचान, अस्तित्व को खो देगी। कस्तूरी महिला मंडल की स्त्रियों को अस्मिता, स्वतंत्रता, समानता की सीख देती है, अधिकारों से अवगत कराती है और उसकी बेटी अपनी स्त्री शक्ति को पहचानने का प्रयत्न नहीं करती। ''स्त्री होती है तो स्त्रीत्व होता है, मगर उसका मादा रूप ही मुख्य रहे, यह जरूरी तो नहीं माताजी ने जोर-जोर देकर कहा, स्त्रीत्व माने स्त्री शक्ति। तू उस स्त्री शक्ति को गंवाने पर तुली है मुसीबत तो यही है।''[99]

कस्तूरी बेटी मैत्रेयी के लिए वर खोजने का बीड़ा उठाती है। पर अपनी शर्तों पर बिना दान-दहेज के शिक्षित और कुलीन परिवार का दामाद जो उसकी बेटी से समानता रखता हो। इस अभियान में भाँति-भाँति के अनुभव उसे प्राप्त होते हैं, क्योंकि वह परंपरागत ढाँचे को तोड़ने की कोशिश कर रही थी। जिसका पुरुषों ने अपनी सुविधानुसार निर्मित किया था। सर्वप्रथम तो उसके स्त्रीत्व को अपमानित किया जाता है। पुरुषवादी समाज उसे अपनी दृष्टि से तौलता और आँकती है। क्योंकि उनके ढांचे में सेंध लगाना उन्हें रास नहीं आता है। दृढ़ निश्चयी कस्तूरी प्रहार ही नहीं करती बल्कि मुंहतोड़ जवाब भी देती है। वह कहती है कि ''कहते हुए उनकी आँखों में चुनौती नहीं, चुनौती की आँधी सी उठी। वे खुद को साध रही थी, मगर बादल थे कि फटे, पाठक मेरी बेटी ब्याह रहा है या हमारे लिए शर्तों कोई चक्रव्यूह रच रहा है? अगर बहन के घर भाई कुत्ते की दर पर था तो जँवाई भी कुत्ते की दर पर होता है। यह मानकर कि शादी ब्याह एक सामाजिक संस्कार है और समय पर हो जाना चाहिए; मेरी चेतना इसकी गवाही नहीं देती कि वह जरूरी संसार भी है। बस इसीलिए कहती हूँ कि पाठक की शर्त मुझे मंजूर नहीं। ब्याह करना भी पड़ेगा तो मैं कर्ज नहीं लूंगी, भले ही खेत बेच दूँ।''[100]

माँ की विवशता और पुरुष समाज कामों के प्रति व्यवहार मैत्रेयी को द्रवित करने लगता है। अचानक उसे माँ से हमदर्दी हो जाती है क्योंकि वह तो अपनी सुरक्षा, सुख भविष्य उसी पुरुषवादी समाज संस्था में ढूंढ रही थी। और वही माँ का निरादार करते हैं यह बात उसे कचोटती है वह अपने आपको माँ का दोषी मानती है कि मेरे कारण ही माँ का अपमान किया जा रहा है। उसकी अवहेलना की जा रही है। वह कहती है कि ''मैं माताजी की बेटी। क्या क्या सपने थे मुझे लेकर। जालिम क्लर्क और

बदमाश अफसरों से माता जी का पाला पड़ता है तो वे इसमें क्या करे? अपनी निरूपायता की माफी माँगे? बेरंग कपड़े, उजड़ा सूना चेहरा, नंगे कूचे हाथ, बेरौनक खुरदरे पाँव - यह वेश आखिर क्यों है? व्यभिचारियों के खिलाफ एक मुहिम ही तो है अनाकर्षक रहना और अपने आपको किसी तरह बचाना। अब यह दीगर बात है कि नर की शिकार मादा होती है, वेशभूषा नहीं, माताजी इस बात को मानेंगी भी या नहीं?''[101]

किशोरावस्था मैत्रेयी ने जो भविष्य के सपने विवाह नामक सामाजिक संस्था को लेकर देखे थे उनका यथार्थ में सामना होने पर सारे भ्रम दूर हो जाते हैं। माँ की सीख स्मृति हो आती है हृदय कचोटता है कि क्या सही अर्थों में मैं अपने अस्तित्व को जान पायी, अपना व्यक्तित्व विकसित कर पायी। वह कहती है कि ''हर उठती पीर पर माँ याद आई। दर्द की लहर बैठते ही पति के लिए गाली निकलती। ईश्वर से एक ही फरियाद - क्यों बनाया तूने स्त्री को? क्या इसलिए कि इतना दर्द कोई दूसरा सह नहीं सकता। वह भी दूसरे की भागीदारी के बदले की दर्द। आधा आधा दर्द बाँट देता मेरे मौला, तो क्या हो जाता? तेरा बनाया मर्द भी जान लेता कि उसकी मर्दानगी किस टीस का नाम है।''[102] कस्तूरी अर्थात मैत्रेयी की माँ। कस्तूरी का विद्रोही स्वभाव परंपरागत सामाजिक मान्यताओं को चुनौती रूपेण स्वीकारता है। दुस्साहसी कस्तूरी युवावस्था में ही घोषणा करती है कि ''मैं ब्याह नहीं करूँगी। जो समाज लड़कियों को बोलने की छूट नहीं दे सकता वो समाज उसे स्वतंत्र निर्णय कैसे लेने दे सकता है। उसका विवाह उससे दुगनी उम्र के व्यक्ति से मात्र आठ सौ रुपये लेकर निश्चित किया जाता है। कस्तूरी जानती है कि बीमार और उम्रदराज पति कितने दिन तक जीवित रहेगा? या तो उसे उम्र भर विधवा बनकर जीना पड़ेगा या पति के साथ सती होना पड़ेगा। लेखिका लिखती हैं

कि उसकी माँ कहती है कि "मुझ में सती होने की हिम्मत नहीं है। मुझे मरने से डर लगता है - कस्तूरी की आवाज उस बछिया की सी हो गई, जो रम्भाते हुए माँ को पुकारती है।

हाय बेटा! तू कैसा असगुन सोच रही है। तू सती क्यों? सौ सौ बरस जिए तेरा सुहाग। तू काए को मरेगी, मेरे तेरे बैरी। चाची, पति मरेगा तो सुहाग जिंदा नहीं रहेगा और सुहाग मरेगा तो मुझे ही मरना पड़ेगा। तेरी असीत में इतना दम कहाँ कि मुझे बचा ले।

पर तेरा पति करेगा ही काए को?

वह बूढ़ा है, बीमार है, कब तक जिएगा?"[103]

तत्कालीन समाज में स्त्रियों के अधिकार और कर्तव्यों का निर्धारण वही करता है। शिक्षा स्त्रियों के लिए अमान्य थी क्योंकि यदि वह पढ़ लिख लेगी तो अधिकारों के प्रति जागरूक होगी, बराबरी का दावा करने लगेगी। शोषण और उत्पीड़न क्यों सहेगी? पुरुषों के दबाव में क्यों रहेगी? कस्तूरी रेशम कुंवर सती की किताब पढ़कर ही विवाह न करने का निर्णय लेती है। कस्तूरी की माँ पुरुषवादी संस्था का ही एक हिस्सा है जो अपने बेटों को बचाने के लिए उसे 800 रुपये में बेचने को तैयार हो जाती है। जब सिमोनद बुआ कहती है कि स्त्री होती नहीं बनाई जाती है। "तो कस्तूरी की माँ को सामाजिक परंपराओं और पुरुषवादी संस्था ने निर्मित किया। यदि मूल रूप में स्त्री होती तो वह कस्तूरी की मन:स्थिति समझती। उसकी माँ कहती है "तो तू पोथी पत्तरा पढ़कर बरबाद हुई है? हाय कुभागी तू होते ही न मर गई। मैं तो सोच रही थी रामश्री की अम्मा मेरी छोरी के दूत कर हरी है-कि कस्तूरी की चाची अपनी लड़िकिनी के लच्छिन सुधारो। मैं तो खुद ही भोगे बैठी हूँ, तीसरे दिन रामश्री की चिट्ठी आ जाती है।

डाकिया देखते ही मुझे जूड़ी का जुर चढ़ आता है कि चिट्ठी नहीं आई, बेटी का दुख-दर्द चलकर आ गया।''[104]

तत्कालीन समाज अंग्रेजों के शोषण और अत्याचार से आतंकित था। उनका आक्रोश आम जनता पर ही बरसता था। गांव और देहात के लोगों के लिए लगान एक समस्या थी जिसके भुगतान के लिए उन्हें अन्य समस्याओं का सामना करना पड़ता था। कस्तूरी के मायके का परिवार भी उन्हीं में से एक था। ''सबसे बड़ा और कड़ियल खर्चा-सरकारी लगान है, कस्तूरी क्या जानती नहीं, इसी के कारण बाप भागे, इसी के कारण भाई भाग जाने की हालत में है। चाची कहती है - सुरसा मुख लगान! जितनी जमीन नहीं उतनी रकम। गोरे अंधेर करे तो सूरज भी डर के मारे छिपा रहे। इस धरती पर राज उनका है, आसमान के देवताओं को भी पीट-पीटकर मार डालने की कूवत रखते हैं गोरे लोग।''[105]

जनता के पास दो वक्त की रोटी और भरपेट खाना का आसरा नहीं। कपड़ा और मकान तो दूर की बात है। उस पर ये सरकारी लगान की तलवार सिर पर हमेशा लटकती रहती है। खेती कभी बाढ़, सूखा, आग और कभी चोरी की भेंट चढ़ जाती। लगान देने के लिए कुछ बचता ही नहीं। भयभीत और आतंकित जनता के पास ऋण, कपड़े, जानवर, जेवर, बर्तन भाड़े जो होता, लगान के रूप में सरकारी करिंदे ले जाते। इस पर भी यदि बात नहीं बनती तो घर की औरतों की इज्जत नीलाम हो जाती थी। लेखिका कहती हैं ''गाँवों में हाहाकार मच गया। माना कि हाहाकार नया नहीं, मगर चोटें नए सिरे से पड़ती है। यातना देने के नए-नए ढंग गोरों ने खोज निकाले हैं, जैसे वे लगान लेने के बहाने आदमी को सजा देने में आनंद पाते हों कि उनके आतंक का साम्राज्य जमा रहे तो अंग्रेजी सत्ता को कौन उखाड़ सकता है? बस हुकुमत ने दंड देने

के लिए गली-गली पिटाई खाने खोल दिए और ढोर-डंगर, कपड़ों के साथ गृहस्थी के बर्तन भाँड़े डाकुओं की तरह लूट लिए। आदमी की तह-परतें उधेड़ डाली मगर सोने-चांदी की कील काँटा नहीं मिला।''[106]

देश के राजनेता क्रांतिकारी, देशभक्त सभी एकजुट होकर स्वतंत्रता आंदोलनों को दिशा निर्देश दे रहे थे। लोगों को गुलामी विवशता और आजादी का मूल्य पता चल गया था। सामंतवादी प्रथा जमींदारी प्रथा का वर्चस्व शनै:-शनै: कम होने लगा था। स्वतंत्रता आंदोलनों, क्रांतियों ने अंगेजी शासन की नींव हिला दी थी। साधारण जनता देश में हो रहे परिवर्तनों से अनजान थी इनके गर्त में क्या है? क्यों है? इन तथ्यों को स्वीकार नहीं कर पा रही थीं। कस्तूरी की विलक्षणता ने हो रहे परिवर्तनों की गंध सूंघ ली थी। ''बीमार आदमी से क्या कहती कस्तूरी ? नहीं कह पाई कि अमन चैन क्यों आता-जाता है ? फसलें क्यों अच्छी हुई ? जानवर क्यों दूध देने लगी? इसलिए कि अब कहीं आजादी की आहट सुनाई पड़ रही है। गोरा का कोड़ा ढीला हो आया है। हुकुमत के ग्रह पलटने लगे हैं। गाँधीजी का आंदोलन रंग ला रहा है। वह पति से कैसे कहे कि नई बातें जमींदार के बेटे चन्द्रपाल से सुना करती है कि हवेली वाली तो यहाँ तक कह रही थी -जमींदारी टूटेगी।''[107]

स्वतंत्रता की प्राप्ति ने जहाँ देश को हवा में सांस लेना सिखाया, वही देश की आंतरिक परिस्थितियाँ अनेक समस्याओं से ग्रसित थी। परंपरा और मान्यताओं के अलाव की शासन व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन की आवश्यकता थी। देश के विकास में सबसे बड़ी बाधा, आधी आबादी का अशिक्षित होना अर्थात स्त्रियों की शिक्षा नगण्य थी। ''देश में गूँजती नेताओं की वाणी से सूत्रवाक्य निकलते, उनमें से एक वाक्य था - स्त्री शिक्षा। औरत के मन में बंद गाँठे खुलने लगी। पढ़-लिखकर आदमी

ज्ञान की उस दुनिया में पहुँच सकता है, जहाँ वह अपने आपको देख सके कि माहौल में उसे की तस्वीर क्या है? बिना पढ़े मनुष्य का गधे जैसा जीवन.....।"[108]

देश की सत्ता तो बदल गई पर शासनकर्ता वही रहे उनकी मानसिकता वही रही; उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। निज स्वार्थ कभी पार्टी के रूप में, कभी नेता के रूप में, कभी सत्ता के रूप में मुखरित होने लगा। जमींदारी चली गई राज रजवाड़े समाप्त हो गये। देश में लोकतंत्र आ गया, परंतु जिन आशाओं और सपनों के भविष्य की कल्पना की गई थी वह धराशायी हो गया। "नए जमाने में नई तरह की साहूकारी होगी क्योंकि किसान खेतों का मालिक हो जाएगा। ब्याज की दर एक रुपये से डेढ़ रुपया सैकड़ा चलेगी। नम्बरदार ने अपनी खेती का अनाज बेचा और लोगों को उधार पैसा दिया। यह दीगर बात है कि जलने वाले कहने लगे - अंगरेजों के पिट्ठू जमींदार ही सबसे पहले गाँधी टोपी पहनकर कांग्रेसी हो गये। डबल फायदा, अंगरेजों की चाकरी और चापलूसी की खता माफ, दूसरे कांग्रेस माने सत्ता सरकार।"[109]

परिवर्तन की सुगबुगाहट सब जगह थी। नीतियाँ योजनाएँ और शासन व्यवस्था को देश हित हेतु स्थापित किया जा रहा था, परन्तु एक प्रश्न जहाँ का तहाँ वैसा ही खड़ा था, वह था स्त्रियों की स्वतंत्रता का समानता का अस्मिता का। स्त्रियों ने देश स्वतंत्र कराने में पुरुषों के समकक्ष अपना स्थान रखा था। सत्ता पुरुषों के हाथ में या कहें कि पुरुषवादी मानसिकता के हाथ में। औरतों की स्थिति जस की तस। महिला मंडल की कार्यकर्ता कस्तूरी को स्त्रियों की स्थिति का भान भी था और अनुभव भी था उसका आत्म उसे कचोटता है। प्रश्न करता है कि कहाँ स्त्रियों के अधिकार स्वतंत्रता "देश आजाद किसने मान लिया? औरतों की आजादी तो गुलाम पड़ी है। बस मर्दों का आजाद होना देश का आजाद होना है? स्वतंत्रता संग्राम में औरतों ने लाठियाँ खाई,

अस्मत लुटाई उनकी स्वतंत्रता कब आएगी? वे तो तुमने भी गायों की तरह लठियों से हाँक दी और खूँटों से बाँध दीं। अब उनका रस्सा कौन खोले?"[110]

सतरें और सतरें

'सतरें और सतरें' सन् 2002 ई. में प्रकाशित अनीता राकेश की आत्मकथा मधुर स्मृतियों का गुम्फन है। जिसे अनीता ने अपने स्नेह और संवेदनशीलता से सींचा है। यह आत्मकथा पहले 'चन्द सतरें और' के नाम से 30 वर्ष पश्चात सतरें और सतरें के रूप में प्रकाश में आयी। सारिका में इसे 2 वर्षों तक लेख माला के रूप में छापा गया। समाज में घटित घटनाओं से प्रत्येक व्यक्ति थोड़ा-बहुत, कम या ज्यादा प्रभावित तो होता ही है। यदि घटित घटनाओं से प्रत्यक्ष संबंध है तो उसकी सहभागिता अधिक होगी और अप्रत्यक्ष है तो जुड़ाव कम होगा। चूँकि लेखिका परिवार एक शरणार्थी परिवार था इसलिए वह त्रास, संताप, उद्वेलन उसकी जिंदगी में भी समाहित हुआ। गैर जिम्मेदार पिता, जो घर से बाहर जाकर रहता है और मेहमानों की भाँति कभी-कभी आता है। असहज माँ जो हमेशा तनावपूर्ण स्थिति में रहती है और उसका क्रोध बच्चों पर या कहें कि घर की बड़ी होने से अनीता के ऊपर बरसता। पिता से अलगाव की स्थिति में आर्थिक समस्याओं ने जकड़ा और माँ ने आत्मनिर्भर होना आवश्यक समझा। या कह सकते हैं कि अर्थाभाव ने माँ को आत्मनिर्भरता की सीख दी। "वूमेंस इकानामिक इंडिपेंडेंस। उन्हें यह लगने लगा था कि स्वतंत्र होने में पहला कदम आर्थिक स्वतंत्रता का ही होना चाहिए। इसी से औरत को पति द्वारा और समाज द्वारा सम्मान और स्थान हो सकता है। ममी ने डी.सी.एम. में नौकरी कर ली और दौराला चिल्ड्रेंस लीग की 'आंटी-स्वीटी' के नाम से नई शोहरत पाई।"[111]

संबंधों की अनिवार्यता का पाठ अनीता ने बचपन में पढ़ और सीख लिया था। छोटी सी उम्रमें घर की स्थितियों को समझा और समझौता किया। "माँ जो कमा के लाती थी, बस उसी में से मैं दोनों टाइम की रोटी बना देती थी। अव्यवस्थित घर में हम बच्चों के भविष्य को लेकर चिंतित रहती थी। वह चाहकर भी सब कुछ ठीक नहीं कर पार ही थी। माँ काम पर चली जाती तो हमें देखने भालने वाला कोई नहीं रहता है। जब लौटती तो हमें इधर-उधर देखकर परेशान हो जाती थी "माँ हम दोनों भाई-बहन की दिनचर्या को लेकर काफी चिंतित रहती थी। न कोई स्कूल था, न कोई पढ़ाई। स्कूल के लिए वह इसलिए घबराती थी, क्योंकि शायद वह अपने वेतन से अपना, घर का और हमारे स्कूल का खर्चा नहीं उठा सकती थी।"[112] स्त्री का साहस और आत्मबल उसे समस्याओं से प्रतिकूलताओं के विरूद्ध संघर्ष करना सिखाता है। लेकिन अगर आत्मबल कमजोर पड़ जाए तो वह परिस्थितियों के आगे घुटने टेक देती है। माँ भी पुरुष सत्तात्मक समाज में अपने आपको निस्सहाय महसूस करती है। "धीरे-धीरे घर की हालत और बुरी होती गयी। माँ कई-कई दिन बिस्तर पर पड़ी रहतीं। सिर दर्द या और कुछ लेकर कई-कई दिन हम उनसे नहीं मिल सकते थे। अजीब वातावरण था। हम दोनों भाई-बहन कुछ न कुछ पकाकर खा लिया करते और सो जाते। माँ न कुछ खाती, न पीती, सिर्फ अपने कमरे मं बंद पलंग पर लेटी रहती।"[113]

घर का वातावरण समस्याएँ दु:ख दर्द, तनाव उसे (लेखिका) इतना विचलित कर देते हैं कि कुछ करना कहना, सुनना सब बेइमानी लगने लगता है। अपनी अनुभूतियों को जब वह अभिव्यक्ति देना चाहती है एक अजीब सी घुटन और तड़प अनुभव करती है। वह लिखती हैं कि "क्या लिखूँ, क्या न लिखूँ यह सोच-सोचकर ही दिमाग पत्थर हो जाता है। कहाँ से लिखना शुरू करूँ और कहाँ उसका अंत करूँ,

सिर्फ इसी सोच में कई-कई घंटे निकल जाते हैं। कई-कई बार सोचते-सोचते दिमाग एक ऐसे बिंदु पर आकर रुक जाता है जैसे डैमेज्ड रेकार्ड पर एक जगह आकर सुई फँस जाती है और जान लेवा शब्द पैदा करने लगती है।"[114]

पारिवारिक क्लेश, माता-पिता की उपेक्षा संतान को विद्रोही बनाने में अहम् भूमिका निभाते हैं। अनीता पर भी इसका प्रभाव पड़ा और उसका आत्म विपरीत परिस्थितियों में विकसित होने लगता है और वह स्वभाव से विद्रोही बन जाती है। "घर की तनातनी ने कहीं अन्दर ने कहीं अंदर से मुझमें जीवन के प्रति आक्रोश उत्पन्न कर दिया था। मैंने कभी-भी बच्चों की तरह हँस के उन्मुक्त होकर भोला रहकर नहीं देखा। उस उमर में भी मेरे दिमाग में जरूरत से ज्यादा और अपनी उमर से आगे सोचना शुरू कर दिया था।"[115]

लेखिका के व्यवहार से विद्रोह की चिंगारी ने माँ के अहं को भी चोट पहुँचाना शुरू कर दिया। उसके पारिवारिक आत्म का विकास सहज रूप से होने के बजाय असहज रूप में होने लगता है जिसके कारण माँ औ बेटी दोनों प्रतिद्वंद्वी के रूप में आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। "कान्वेंट में पढ़ाने के बावजूद उन्हें मुझसे शिकायत की थी कि मैं ऐगलीसाइज्ड क्यों हूँ? हमें अपनी हिन्दू संस्कृति के बारे में कुछ क्यों नहीं पता? हमें अंग्रेजी नॉवेल्स अर्थात डर्टी लिटरेचर छोड़कर हिन्दी साहित्य अर्थात फाइन लिटरेचर पढ़ना चाहिए। लोगों के बच्चे हमारे लिए आदर्श थे। खासतौर से बताया जाता था कि देखों फलाँ के बच्चे कितने अच्छे हैं जिसके जवाब में में एक बार जब मेरे मुँह से यह निकल गया कि फलाँ के माँ बाप देखों कितने अच्छे हैं तो मुझे माँने छोड़ा नहीं था।"[116]

विपरीत परिस्थितियों और अहनीय तनाव सहते-सहते लेखिका के आत्म ने विद्रोह सीमा पार कर दी। वह उन सबसे उबकर घर छोड़ने का फैसला ले लेती है। "मैं तब तक इतनी दुखी हो गई थी कि मुझे उस घर में रहना, जीना, खाना पीना अब बहुत मुश्किल लगने लगा था। मैंने मन ही मन तय कर लिया था कि मुझे अब उस घर में बिल्कुल नहीं रहना है। सो एक दिन मैंने माँ की दराज खोली और उसमें से 500 रुपये निकालकर एक छोटा सा बक्सा बनाकर दोपहर में घर से सीधा स्टेशन को रवाना हो गई।"[117]

अनीता को यह अनुभव होने लगता है कि वह स्वयं ही माँ के दु:ख का एक कारण है वह बड़ी हो रही है और माँ को उसकी मान-मर्यादा विवाह आदि की चिंता सताने लगती है। उससे माँ की वेदना देखी नहीं जाती है। "इसके साथ-साथ माँ का मुझ पर सिर्फ इसलिए भी निकलने लगा था कि मैं उन्हें अब बहुत बड़ी मुसीबत भी लगने लगी थी, क्योंकि उन्हें मेरा विवाह के लिए के धन बहुत बड़ा पहाड़ लगने लगा था। अर्थात् मैं ही उनके जीवन में शुरू से अंत तक किसी-न-किसी प्रकार की सिरदर्दी बनी रही हूँ, पहले इसलिए तब उसलिए - अब इसलिए।"[118]

घर का परिवेश नितांत अधूरा छिन्न-भिन्न पूर्णता की खोज वह वाह्य परिवेश करनी लगती है। क्योंकि घर के लिए उसकी अपनी कोई पहचान है ही नहीं। राकेश के घर आने पर उनका असफल दाम्पत्य जीवन, अस्थिरता संघर्ष पता चलता है राकेश के साथ अनजाना सा रिश्ता बनाने लगती है। उसे लगता है कि मेरा और राकेश का जीवन दु:खमय और असफल रहा है। दोनों की स्थिति एक है और एक ही धरातल। "कितनी-कितनी बार मन में आया कि नीचे भागकर जाऊँ और राकेश जी से कहूँ कि देखो मैंने सुना और पढ़ा है कि तुम बहुत बहुत दु:खी आदमी हो, लेकिन क्या तुम

अपना दु:ख मेरे साथ बाँट सकते हो - फिर यहाँ भी उन्हें बताऊँगी कि मैं भी भी एक बहुत ही दु:खी लड़की हूँ इसी से मैं तुम्हारा दु:ख ज्यादा अच्छी तरह समझ सकूँगी। यह बात अलग कि तुम्हारे दु:ख को सब जान गए हैं क्योंकि तुम एक जाने-माने लेखक हो -लेकिन मेरा दु:ख कोई नहीं जान सकता क्योंकि मैं हिन्दुस्तान की इतनी बड़ी आबादी में खोई हुई एक बहुत मामूली सी लड़की हूँ।"[119] स्त्री संबंधों की मान मर्यादा गहराई को समझती ही नहीं है बल्कि उन्हें निभाने में अपना दायित्व भी समझती है और भरसक प्रयत्नशील रहती है कि उन पर खरी उतरे चाहे रास्ते आसान हो या दुश्वार। "राकेश जी की बात सुनकर कहीं यह विश्वास मेरे मन में बैठ रहा था कि सब कुछ बिल्कुल वैसे ही हो सकेगा जैसा वो चाह रहे हैं - एक ऐसा ही घर हम लोग बना सकेंगे .....जैसा कि हम लोग सोच रहे हैं .....लेकिन फिर भी पता नहीं क्यों मुझे यह एक बहुत बड़ा चैलेंज लग रहा था अपने में -एक बहुत बड़ा चैलेंज।"[120]

एक घर बसने ही पाया था कि उजड़ने की प्रक्रिया शुरू हो गई। बचपन से जिस प्यार अपनेपन से वंचित रही वह प्राप्त भी हुआ तो क्षणिक रहा। जो रिश्ता उसके जीवन की पूंजी था उसका अस्तित्व ही मिट गया। घटनाएँ घट जाती है और अपने निशान छोड़ जाती है। लेखिका उस रिश्ते की गरिमा का हनन नहीं होने देती बल्कि उसे पालती और पोसती है। "कभी-कभी गहरे रिश्ते अजनबी रिश्तों में बदल जाते हैं। कल तक वो शख्स कितना अपना था आज कितना बेगाना। सब लोग एकजुट होकर फिर से उससे एक अजब सा रिश्ता कायम करने में लगे हुए थे। एक प्यारा सा लेकिन तन्हा-सा रिश्ता लगता था लोगों को फिर से समझाना होगा कि मेरा और राकेश का क्या रिश्ता था, क्या है और क्या रहेगा - उसके दो प्यारे बच्चों की माँ मैं - कितना बड़ा रुतबा, लेकिन कितनी बड़ी जिम्मेदारी लिए हुए।"[121]

संबंधों का निर्वाह कभी-कभी कितना कठिन हो जाता है कि उन्हें संभालना बोझ लगने लगता है और ऐसा बोझ जिससे मुक्त होना असंभव होता है। इतनी पीड़ा और कसक इन रिश्तों की होती है जिन्हें शब्दों में व्यक्त कर पाना आसान नहीं होता। "अपने भी कभी-कभी कैसे नोच-नोचकर खाते चलते हैं अपनों को ही। उसका उस दिन भी मात्र माँगने आना मेरे लिए जहाँ अब एक चुनौती बन गया वहाँ रिश्तों को सड़ते देख बहुत हिला भी गया। लगा एक बेवा बहन का भाई उससे भी कहीं ज्यादा बेवा हो सकता है। क्या मैं अपने भाई में भी सहारा ढूँढ़ सकूँगी।"[122]

लेखिका इन संबंधों का निर्वाह करने में अपने आपको नितांत अकेली समझती है। ऐसा नहीं है कि संबंधों के दूसरे छोर पर से जुड़े जो लोग हैं वो संबंधों के प्रति उदासीन हैं लेकिन उसका व्यक्तिगत आत्म अपने सामाजिक आत्म के स्वाभिमान की रक्षा और मान मर्यादा की दुहाई भी देता है और वास्तविकता भी स्पष्ट करता है। दुनिया कितनी बड़ी क्यों न हो व्यक्तिगत रूप में तो वह अकेली है। "अच्छा हुआ जो वीरेन चला गया। आखिर लाग-लिहाज में वो कब तक हमारी लूली लँगड़ी जिंदगी का बायस बना रहता। एक भूखा कभी किसी की भूख नहीं मिटा सकता, तो फिर लिहाज या फिर छलावा क्यों .....कभी तो छितरेगा ही। कितना अंधेरा कितनी खामोशी, कितनी तन्हाई जिसकी फुसफुसाहट से दम घुटता हो। इतनी बड़ी दुनिया में कितने अकेले, कितने खाली, एक लगातार जंग छेड़ने का ऐलान करती हर बार एक पर्त और गहरी -एक दर्दनाक खामोशी।"[123]

स्त्री उठती है गिरती है संभलती है परिस्थितियों या समस्याओं की तरफ दीवार बनकर खड़ी होती है। जीवन को अग्रसर करने की प्रक्रिया में विरोधी तत्व उसे परास्त करते हैं। उसे दोषी ठहराते हैं। वह इन सामाजिक मान्यताओं को अस्वीकृत कर मूक्त

हो जाना चाहती है पर क्या मुक्ति संभव है? "सही-गलत, न्याय-अन्याय में भेद करते-करते अब तक मैं हाँफ चुकी थी। गोते खा-खाकर थक और टूट चुकी थी। लगा किसी भी वक्त अपनी थकास से मर जाऊँगी, लेकिन जिंदगी, रिश्ते, प्यार मुहब्बत और रुसवाई इतनी आसानी से मरने नहीं देते। वह गिन-गिनकर इम्तिहान लेते चलते हैं। लोगों को मुक्त कर देने से कोई स्वयं तो मुक्ति नहीं पा लेता-सिवाय हिस्से में आये अतिरिक्त रीतेपन का बोझ उठाए इधर से उधर, एक कोल्हू के बैल की तरह, आँखों पर खपच पहन, अपनी ही धुरी के इर्द-गिर्द घूमना मात्र अपना उपजा चक्रव्यूह।"[124]

बाद में आत्मकथा की आधारशिला विभाजन की विभीषिका पर रखी गयी। ''ताजा-ताजा पार्टीशन हुआा था सिर्फ इतना ही नहीं, माँ ने उसके बाद ताजी-ताजी अंग्रेजी और हिन्दी भी सीखी थी। इनके साथ-साथ कुछ छोटी-छोटी बातें और भी हुई थीं जैसे कि महिलाएँ पार्टीशन के बाहर आ गई थी और पार्टीशन (पर्दे) के अंदर पुरुष घुस गए थे। सोए जाग उठे थे और जागे सुला दिए गए थे, आदि-आदि। कुछ ऐसे ही में एक हमारा परिवार भी था। हमारा परिवार भी कुछ-कुछ अन्य परिवारों की तरह एक परिवार था जिसमें एक मम्मी, एक डैडी थे और उनके आगे एक बेटा, एक बेटी। उसी परिवार में तीसरा बच्चा अर्थात मेरी छोटी बहन उसी पार्टीशन (पर्दे) के पुन: अदला बदली का एक उदाहरण थी।''[125]

भारत और पाकिस्तान के विभाजन ने दोनों देशों के बहुत परिवारों को शरणार्थी बना दिया था। मध्यम वर्गीय शिक्षित परिवार अंग्रेजी चाल चलन रहन-सहन और खान-पान के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। पाश्चात्य परंपरा जीवन में रच बस गई या कह सकते हैं कि अंधानुकरण किया जा रहा था। "हमारा परिवार रिफ्यूजी अवश्य था, लेकिन ऐसा रिफ्यूजी जो कि पार्टीशन से बना था अर्थात् 'आजादी' से। इसलिए आजादी

का असर ममी-डैडी' दोनों में ही देखने को मिलता था। जैसे कि डैडी घर से सिर्फ एक बार ही बाहर जाया करते थे। जबकि ममी कम से कम तीन चक्कर जरूर घर से बाहर लगा आया करती थी। कोट-शूज, पेंसिल पाइंट हील्स, साड़ी का लम्बा पल्लू, लम्बे तराशे नाखून तथा तीखी लिपस्टिक - कुछ-कुछ ऐसी ही हुआ करती थीं वह। खिड़कियों पर लेसदार पर्दे, अंग्रेजों का सेकेंड-हैंड फर्नीचर, गलीचे और बीच मेज पर मेरीगोल्ड का गुलदस्ता।"[126]

विभाजन की त्रासदी ने सामाजिक जन-जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया था। पाकिस्तान से लोग अपना व्यवसाय, नौकरी, धन, संपदा, जमीन जायदाद सब कुछ छोड़कर रिफ्यूजी बनकर कैम्प और होटलों में शरण लिए हुए थे। लेखिका का परिवार भी उन्हीं में से एक था। "उन दिनों हम ग्रैंड होटल, सिविल लाइंस, दिल्ली में रहते थे। उस होटल में भी पार्टीशन हुआ था। होटल के सामने वाले कमरों में हिन्दुस्तान के टूरिस्ट रहा करते थे और पीछे के कमरों में हिन्दुस्तान के रिफ्यूजी।"[127]

देश को स्वतंत्रता तो प्राप्त हो गई थी परंतु अंग्रेजी शासन इतना गहरे तक व्याप्त था कि उसके प्रभाव से छुटकारा नहीं मिला था। अंग्रेजी ईसाई मिशनरियों ने प्रत्येक क्षेत्र में अपने पाँव जमाए हुए थे चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र हो या व्यवसाय का, चाहे चिकित्सा का हो सब जगह उनकी उपस्थिति रहती थी। "लम्बा चौड़ा स्कूल। कोरीडोर्स, पार्लर चैपेल और विजिटिंग रूम्स ने कहीं हमें बहुत प्रभावित भी किया। लम्बे-लम्बे गाउन पहने मदर्स और फादर्स एक पूरा प्लेइंग ग्राउंड, कितने खुले-खुले क्लास रूम। एक नई दुनिया ही थी। एक ऐसी दुनिया जो सिर्फ बच्चों की ही थी। जो सिर्फ बच्चों के लिए ही बनी थी। वहाँ सुबह से शाम मदर्स-फादर्स सिर्फ बच्चों को ही संभालने में

निकाल देते थे। सुबह होती थी तो गुड मार्निंग चिल्ड्रेन, दोपहर होती थी तो गुड आफ्टर नुन चिल्ड्रेन,……..रात होती थी तो गुड नाइट चिल्ड्रेन।"[128]

घर-परिवार, स्कूल-कॉलेज, कार्यालय सब युद्ध के वातावरण से त्रसित थे। स्कूल और कॉलेज सांस्कृतिक कार्यक्रम या चंदा एकत्रित कर युद्ध के सहायतार्थ रुपये भेज रहे थे। लेखिका समसामयिक घटनाओं और गतिविधियों से अनभिज्ञ नहीं बल्कि उनका अंग थी। वह लिखती हैं कि "मुझे इंडो-चाइना वार के दिन अच्छी तरह याद हैं। उन दिनों प्रत्येक संस्था कोई-न-कोई कल्चरल प्रोग्राम करके वार-फंड धड़ाधड़ इकट्ठा करके भेजती जा रही थी। हमारा कॉलेज भी किसी तरह से पीछे नहीं था। वह अपने-आपको इंजीनियरिंग और मेडिकल कॉलेज से किसी भी तरह कम नहीं समझता था। कल्चरल प्रोग्राम्स में तो यों ही उनका मुकाबला करता था और वार-फंड के सिलसिले में भी वह पहला नम्बर लेना चाहता था।"[129] तत्कालीन समाज जिन विद्रूप अवस्थाओं से गुजर रहा था लेखिका और उसके परिवार ने भी उन विषम परिस्थितियों का सामना किया था।

हादसे

हादसे रमणिका गुप्ता की सन् 2005 ई. में प्रकाशित आत्मकथा है। इसमें एक राजनीतिक कार्यकर्ता, जुझारू समाज सेवा, निडर और निर्भीक स्त्री के जीवन संघर्ष को व्यक्त किया गया है। जिसने कभी प्रतिकूलताओं के समक्ष समझौता नहीं किया बल्कि मुँहतोड़ जवाब दिया। अपने जीवन को अपनी शर्तों पर दूसरों के हित के लिए चुनी।

रमणिका गुप्ता के पिता भारतीय सेना में डॉक्टर थे। पंजाबी परिवार से संबंध रखने वाली लेखिका का पालन पोषण शिक्षित परिवार में हुआ। बचपन से अन्याय के

विरूद्ध लड़ना, निर्भीकता, बेबाकीपन, हाजिर जवाबी, अदम्य साहस आदि गुण कुछ जन्मजात कुछ अर्जित कर अपने स्वभाव को सबमें विशेष बनाया। स्त्रियोचित स्वभाव उनके व्यवहार में कहीं न कहीं स्पष्ट होता है। जबकि घर का वातावरण आधुनिक होते हुए भी रूढ़िग्रस्त था। स्त्रियों के लिए जो मानदंड समाज द्वारा निर्धारित किए गए थे उन्हें लेखिका ने हमेशा चुनौती दी। ''छोटी होने पर भी मैं पिताजी की साइकिल उछल-उछलकर चलाने लगी थी। साइकिल लेकर सड़क पर निकल जाने पर घर में हंगामा मच जाता था। एक दिन घूमने जाते वक्त माँ ने मुझे सिर ढककर साथ चलने को कहा। मैं नहीं मानी तो उन्होंने अल्टीमेटम दे दिया- सर नहीं ढकना तो हमसे या तो बीस कदम आगे चलो या बीस कदम पीछे ताकि लोग न जानें कि तुम हमारे साथ हो। मैंने बीस कदम आगे चलना शुरू कर दिया। उस दिन से मुझे घर में एक विद्रोही का सा रूतबा मिल गया। और हर समय मुझे टोका जाने लगा। पर मैं जिद पर अड़ी रही।''[130]

अपने व्यक्तित्व का आकलन लेखिका स्वयं करती है कि अगर मुझे विद्रोही या दबंग कहा जा रहा है तो मुझे कोई गुरेज नहीं है कि कोई क्या कह रहा है? यदि मैं तेज हूँ तो मैं हूँ मुझे इसका कोई दु:ख नहीं है। वह कहती है कि ''बचपन से ही मैं खुदसर थी, पंजाबी भाषा में कहूँ तो 'आप हुदरी' थी। इसका मुझे कभी कोई मलाल नहीं रहा। यह प्रवृत्ति यह जिद अगर मुझमें न होती तो संभवत: मैं कहीं गृहिणी बनी रोटियाँ पका पकाकर, आठ-दस बच्चों को खिलाने में ही संतुष्ट रही होती। यदि राजनीति में आई भी होती तो या तो कही लता बन सहारे खोजते हुई भटक गई होती या फिर मेरे इर्द-गिर्द का पुरुष समाज मुझे लील गया तो। जिस मुकाम पर मैं आज हूँ वहाँ नहीं होती। इसलिए मेरी मान्यता है कि औरतों को खासकर राजनीति में आने वाली औरतों को

खुद सहारा या सहयोगी बनना चाहिए, सहारा खोजना नहीं चाहिए। ट्रेड यूनियन या राजनीति में आने वाली महिलाओं को देहाती शब्दावली के अनुसार थेथर बनना जरूरी है। 'छुई मुई' बनने से समाज में काम चलने वाला नहीं है। आग पर चलने की हिम्मत जुटाना जरूरी है। हवा के विपरीत चलने का इरादा आवश्यक है। हवा के साथ तो हजारों तिनके उड़ते रहते हैं, जो उन्हें झेलकर, जड़ से न उखड़े या झेलने के क्रम में टूट भले जाएँ पर उड़े नहीं, चर्चा में वे ही रहते हैं।"[131]

व्यक्तिगत पहचान को लेखिका सर्वोपरि रखती है कि यदि मेरा कोई अस्तित्व नहीं तो मैं कुछ भी नहीं हूँ। उसे स्वयं जो उचित लगता वही वह करती है। बशर्ते उसमें किसी का अहित न छुपा हो। "अपनी अलग पहचान बनाने की धुन मुझमें इतनी तीव्र हो गई थी कि अगर किसी समारोह का निमंत्रण पत्र मेरे नाम पर न आए तो मैं प्रकाश के साथ श्रीमती बी.पी. गुप्ता बनकर जाने से इनकार कर देती थी। मुझे लोग मेरे कारण पहचानें, प्रकाश की पत्नी होने के कारण नहीं।"[132]

लेखिका के व्यक्तिगत आत्म पर सामाजिक आत्म हमेशा सशक्त रहा है। वह चाहती है कि इसे पहचान मिले वाह्य व्यक्तित्व की शर्त पर। अपने को खुश करना अपनी उपलब्धियों से ज्यादा उसे दूसरों का हित खुशी और उपलब्धि मायने रखती है जो उसके द्वारा अन्य को प्राप्त होती है। वह कहती है कि "मेरा बहिर्मुख मेरे अंतर्मुख पर हावी होता रहा। इस परस्पर विरोधी व्यक्तित्व के कारण व्यक्तिगत मामलों में मैं बार-बार पछाड़ खाई और हारी भी लेकिन इन सबके बावजूद मेरा बहिर्मुख बार-बार मुझ पर हावी होकर, मुझे उबारता रहा।"[133]

अपने आत्म को इतना विकसित कर लिया कि उसका निज का आत्म 'हम' में परिवर्तित होने लगा। वैयक्तिक आत्म की दृढ़ता ने सामाजिक आत्म को सशक्त बना

दिया था। दूसरों के दु:ख समस्याएँ अत्याचार लेखिका को अपने अंतर्मन में सालते थे और उसके संघर्ष के लिए आवाज उठाने से कभी चूकती नहीं थे। अर्थात अपना कर्तव्य समझती थी। विभाजन की त्रासदी में सबसे ज्यादा कहर बरपा स्त्रियों के ऊपर उनकी इज्जत घर परिवार मान-सम्मान सभी पर संकट छाया। शरणार्थी लड़कियाँ देश के बड़े-बड़े नेताओं के यहाँ गुप्त रूप से थी और वही नेता उन लड़कियों का पता लगाने की बात मंच करते देख लेखिका खून खौल जाता है और वह माइक हाथ में लेकर कहती है कि "ये जो यहाँ भाषण दे रहे हैं और लड़कियों को खोजने का आश्वासन दे रहे हैं, सबके सब झूठ बोलते हैं। इनके घरों में ही तो लड़कियाँ हैं। इन्हीं लोगों के घरों में जाइए, एक-एक के यहाँ पाँच-पाँच, दस-दस लड़कियाँ मिल जाएँगी।"[134] जहाँ रक्षक ही भक्षक बन जाए, वहाँ पर कौन सा नियम और कानून लागू हो सकता है।

स्त्रियों के आत्म का विकास अधिकतर सामाजिक सांस्कृतिक, धार्मिक मान्यताओं के तहत होता है। बचपन से एक हीनता बोध जन्म ले लेता है कि वह स्वतंत्र नहीं है। परंपराएँ ढोने के लिए बाध्य है। ये चीजें इतने गहरे तक जुड़ जाती है यदि इनके विपरीत कुछ भी हो जाए या कर दे तो उस अपराध बोध से जीवन भर मुक्त नहीं हो पाती है। लेखिका अन्य स्त्रियों की दु:ख वेदना मान्यताएँ जो उसे परंपरागत प्रदत्त हुई है उन्हें विश्लेषित करती है कि "औरतें आम तौर से, विशेषतया भारतीय समाज में अपराध-बोध और आत्मदया की ग्रंथि से ग्रसित रहती है। दरअसल प्राय: सभी स्त्रियाँ अपने समाज या परंपराओं अथवा रूढ़ियों के विरूद्ध या पुरुष और परिवार की इच्छा के विपरीत कुछ भी करती या सोचती है, तो वे तत्काल अपराध बोध की ग्रंथि से ग्रसित हो जाती है। वे अपने आचरण को गलत मानकर खुद को दोषी

मानती रहती है। इसी गलत का अहसास ही उन्हें असुरक्षित और भयभीत करता है। कभी-कभी तो वे दूसरे अंत तक चली जाती है और स्वच्छंद विचरण को यौन-स्वच्छंता का लाइसेंस मानकर अब तक सहे बंधनों को काटती रहती हैं, पर मुक्त नहीं हो पाती।"[135]

स्त्री यदि कुछ करने का संकल्प लेती है तो फिर उसका कर्तव्य बोध ही उसे पहले दिखता तत्पश्चात शेष। रमणिका गुप्ता ने अपना पूरा जीवन दूसरों के हित लिए समर्पित कर दिया फिर उन्होंने घर-बार पति बच्चे से पहले उनका संकल्प। क्योंकि अपना जीवन वह दूसरों की धरोहर मानकर चलती है। अपने स्व को वह समष्टि में खोजती है जिनकी जिम्मेदारी उन्होंने ली है। जब कोयला खदानों में काम कर रहे मजदूरों की यूनियन का गठन स्वतंत्र रूप से हो जाता है वह सोचती है कि मैंने उन लोगों के लिए कुछ किया है अर्थात् अपना गंतव्य प्राप्त करने के पश्चात ही आत्म संतुष्टि का भाव आता है वह कहती है कि ''यहीं से जीवन की उस लम्बी लड़ाई की शुरूआत हुई जो व्यक्ति की नहीं, निजत्व की नहीं बल्कि समूह, समष्टि और व्यवस्था के परिवर्तन से जुड़ी थी। उसमें अकेली मैं नहीं थी बल्कि समष्टि थी – समष्टि की प्रतीक 'मैं'- एक व्यापक दृष्टि का रूप मैं। मैं समाहित हो गई थी उस समूह में और समूह व्याप्त हो गया था मुझमें।"[136]

स्त्री यदि अपने मनोबल को कमजोर न पड़ने दे तो वह कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना कर सकती है। उसका आत्मविश्वास और दृढ़संकल्प उसे उद्देश्य तक पहुँचने में सम्बल का कार्य करता है। अपने आत्मविश्वास और संकल्प की ऊर्जा से ओत-प्रोत लेखिका ने कभी हार नहीं मानी। प्रतिकूलता उसके विजय अभियान कभी बाधा नहीं बनी। देर सबेर उन्होंने वह कर दिखाया जो करना चाहा। वह

कहती है कि "मैंने कभी किसी लड़ाई को हल्के ढंग से नहीं लिया और न ही कभी अधूरा छोड़ा। उसको लॉजिकल कन्क्लूजन (तार्किक निष्कर्ष) तक पहुँचाया चाहे जीत हो या हार। बीच में हताश होकर भागी नहीं क्योंकि मैं हार भी सहने की क्षमता रखती थी। वैसे हर औरत हार सहने और स्वीकारने की आदी होती है और हथियार डाल देती है किन्तु मैंने 'हथियार डालना' तो सीखा ही नहीं था, ना ही मेरा इसमें विश्वास था।"[137]

अदम्य साहस और अपनी कार्य क्षमता पर अटूट विश्वास की स्वामिनी रमणिका गुप्ता की इस आत्मकथा को प्रसिद्ध आलोचक राजेन्द्र यादव कहते हैं कि दुर्दम्य और दुर्घर्ष। रमणिका गुप्ता की इस आत्मकथा को पढ़ते हुए दो ही शब्द बार-बार दिमाग में आते हैं। अगर इसे कोई दूसरा नाम दिया जा सकता है तो वह है अपराजेय संघर्ष कथा।

यह एक ऐसी स्त्री के जीवन का झरोखा है जिसने विभाजन की त्रासदी को देखा, जिया और भोगा है। इसमें केवल व्यक्तिगत पक्ष को ही नहीं बल्कि अपने सामाजिक पक्ष को अधिक विश्लेषण किया गया है। जहाँ हादसे अंक जीवन के पक्षों को स्पष्ट करता है वहीं कोयला खदानों में संघर्ष, 1973 में खदानों का राष्ट्रीयकरण और बिहार विधान परिषद, विधानसभा में उठे विवाद! राजनीतिक संस्मरण एवं निष्कर्ष जैसे पक्षों के द्वारा लेखिका के सामाजिक आत्म को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। तत्कालीन समाज स्वतंत्रता आंदोलन और क्रांतियों से आप्त था देश की एक ही पुकार परतंत्र भारत को स्वतंत्र कराना। "आजाद हिंद फौज के नेताओं पर मुकदमा चला तो मैंने बाकी देश के कार्यक्रम के अनुरूप लड़कियों के विक्टोरिया कॉलेज में हड़ताल करवा दी थी जो आंशिक रूप से कामयाब रही। मेरी और सईदा की पूरी क्लास हड़ताल पर चली गई

थी। लड़की के एकमात्र कॉलेज के छात्र मेरे साथ वायदा करके भी निभा न पाए थे। चोरी-चोरी हड़ताल को संगठित करना, घरवालों और महाराजा पटियाला के प्रशासन दोनों के लिए एक चुनौती थी। प्रिंसिपल ने मुझे केनिंग की सदा ही, घरवालों ने पिटाई की। रियासत की नजर मुझ पर टिक गई। मेरे पिता जो पटियाला रियासत की फौज में उस समय ले. कर्नल और डॉक्टर भी थे, को मेरी वजह से नोटिस आने शुरू हो गए थे। सब दबावों के बावजूद मैंने राजनीति नहीं छोड़ी। राष्ट्र की आजादी के लिए लड़ाई और गांधी जी के प्रभाव से मैंने 15-16 वर्ष की उम्र से ही खादी पहननी शुरू कर दी थी।"[138]

गाँवों, देहातों और जंगलों में रहने वाले भोले भाले अनपढ़ लोगों को अंग्रेजी शासन आर्थिक लाभ और साम्राज्यवादी नीतियों के विस्तार हेतु शोषण का शिकार बना रहा था। देश के विकास और उन्नति का प्रलोभन दिखाकर भाँति-भाँति की चालें चल रहा था। "सन् 1926 में अंग्रेज सरकार ने रेल लाइन बिछाने के लिए इन्हीं गाँवों में से केदला से लइयो तक की जमीन अर्जित की थी। उन दिनों रेलवे के तहत ही खनन हेतु कोलियरियाँ चलती थी, अलग से कोई सरकारी कंपनी नहीं थी। कोयले की खोज के लिए ड्रिलिंग हो चुकी थी और कोयले के भंडार का पता ब्रिटिश सरकार भी लगा चुकी थी। लेकिन बाद में रेल बनाने की योजना ठप्प पड़ गई और कोलियरियाँ भी नहीं चलाई गई। अर्जित जमीन नियमत: किसानों को वापस हो जानी चाहिए थी पर उसे अंग्रेज कलक्टर ने एक एग्रीमेंट के तहत साल दो साल पर उन्हीं गाँव के रैयतों को, जिनकी वह जमीन थी, ब्लॉक द्वारा काश्त करने के लिए लीज पर देने का प्रावधान करवा दिया।"[139]

स्वतंत्रता के पश्चात देश पर लोकतंत्र का शासन हो गया। केन्द्र और राज्य सरकारें छोटे-छोटे राज्य और रजवाड़ों रियासतों को समाप्त कर केन्द्र में लाने की नीतियाँ लागू की। परन्तु कुछ राजाओं ने इन नीतियों का परोक्ष या अपरोघ रूप से विरोध किया। वह अपनी स्वतंत्रत रियासत रखना चाहते थे। ''जब भारत में राजाओं के सत्ता हस्तांतरण का दौर चला गया था तो फरीदकोट के राजा सत्ता हस्तांतरण में आनाकानी कर रहे थे। खबर बड़े जारों पर थी कि महाराजा फरीदकोट जवाहरलाल नेहरू को अपने किले में दाखिल होने रोकना चाहते थे। बड़े कटुतापूर्ण वातावरण में महाराजा फरीदकोट ने भारत सरकार को सत्ता सौंपी थी।''[140]

तत्कालीन समाज देश पर हो रहे युद्ध के हमले विभाजन दंगों से त्रस्त था। लेखिका इन परिस्थितियों से अनभिज्ञ नही थी। समय के इतिहास को खुलकर अभिव्यक्त किया। कि देश में हो रहे दंगे फसाद, लूटमार, हत्या का लोगों पर क्या प्रभाव पड़ रहा था। "देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगे शुरू होने के साथ ही आबादी की अदला-बदली शुरू हो गई थी। धर्म के नाम पर कत्लेआम हो रहा था। सन् 1946 ई. में जो लोग पाकिस्तान से शरणार्थी बनकर आए थे ज्यादातर वे ही इस नृशंस कत्लेआम में शामिल थे लेकिन स्थानीय लोग नाममात्र ही थे।"[141]

भारत और पाकिस्तान का विभाजन हिन्दू-मुस्लिम झगड़े, दहशत और वीभत्सता की हद पार कर रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने को असुरक्षित अनुभव कर रहा था। लेखिका इन घटनाओं से पूर्णत: भिज्ञ और सक्रिय रूपेण योगदान भी दिया। जब चीन ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के तहत कच्छ की मांग रखी तब उन्होंने विद्रोह रूप से कच्छ बचाओ आंदोलन को शुरू किया। "चीन और पाकिस्तान की लड़ाई में मेरे योगदान की चर्चा धनबाद शहर के अलावा साहित्यिक, सामाजिक, प्रशासनिक और

राजनीतिक स्तर पर पूरे बिहार में फैल गई थी, विशेषकर सिविल डिफेंस की ट्रेनिंग लेना, उसमें डिस्टिंक्शन प्राप्त करना रायफल तथा गाड़ी चलाना एवं चैरिटी शो, कविता पाठ, टैबल्यू तथा नृत्य के कार्यक्रम देकर सैनिकों के लिए चंदा जमा करना।"[142]

देश में विभिन्न राजनीतिक पार्टियों का गठन हुआ। लेखिका ने अपना संपूर्ण समाज के हेतु समर्पित कर दिया। विशेषत: आदिवासी मजदूर, किसान, निस्सहाय स्त्रियों की भलाई और उत्थान उनका प्रमुख उद्देश्य रहा। उनके अधिकार, समस्याएँ और संघर्ष को जाना ही नहीं बल्कि उसके निवारण हेतु वांक्षित कदम भी उठाये। बगैर अपनी जान की परवाह किये। जिसके लिए कच्छ यात्रा आंदोलन, घाटो हाई स्कूल का निर्माण, पानी की लड़ाई, यूनियन का गठन, केदला कोलियरी में पहली मीटिंग लोकसभा में याचिका संतोषजनक उत्तर न मिलने पर आमरण अनशन रैलीगढ़ा आंदोलन, सूद की माफी, मजदूरों की हड़तालें, जेल, जमानत परिणामत: 1973 में खदानों का राष्ट्रीयकरण, स्क्रीनिंग (छानबीन), आर्बीट्रेशन विस्थापितों का संघर्ष। राष्ट्रीयकरण के बाद भी समस्याएँ सुलझी नहीं बल्कि समस्याओं के रूप बदल गए क्योंकि नियम बदल गए पर लोग तो वही थे। उनका सोच भी वही थी। अवैध खनन और खदानों के सरकारी होने पर संजय गांधी का कहना था कि सारी दुनिया में प्राइवेट खदानें चलती है, भारत में सरकारी क्यों? इस पर लेखिका टिप्पणी करती है कि "भारत अमरीका नहीं है। यहाँ आबादी ज्यादा और संसाधन कम है। अमरीका में आबादी कम और संसाधन ज्यादा है। बड़ा क्षेत्र भी तो है अमरीका के पास। वे ओपन कास्ट माइनिंग करना अफोर्ड कर सकते हैं क्योंकि इफरात जमीन है उनके पास।"[143]

राष्ट्रीय कोलियरी मजदूर संघ का विवाद चल ही रहा था कि इंदिरा गांधी के शासनकाल में आपातकाल घोषित किया। जिससे देश की आंतरिक स्थितियाँ काफी

प्रभावित हुई। आम जनता का जीना दूभर हो गया था। "इमरेजेंसी के (तब मैं इंटक में थी) यूनियन की भीतरी लड़ाइयों में भी मैंने इंटक के महाजनों और सूदखोरों को गिरफ्तार करवाना शुरू कर दिया था। 1974-75 में कांग्रेस पार्टी की हजारीबाग जिला की अध्यक्ष बनी। तब मैंने दो काम किये। पहले प्रभावकारी दलित-आदिवासी और महिलाओं को जिला कमेटी का सदस्य नहीं बनाया जाता था। यदि एकाध सदस्य बनाया भी जाता था तो पैसे देकर एक न एक गुट उसे अपने पक्ष के फैसलों पर मोहर लगाने के लिए इस्तेमाल करता था। समस्याओं पर उनकी कभी कोई राय नहीं ली जाती थी। मैंने यह लीक तोड़कर ऐसे लोगों को जिला की कांग्रेस कार्यकारिणी का सदस्य बनाया जो बिके नहीं और मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी, सूदखोरी बंद करने, सीलिंग से अतिरिक्त जमीनों का बँटवारा करने तथा जमीनों की वापसी आदि के सवालों को मीटिंग में रखे।"[144]

रमणिका गुप्ता ने अपना संपूर्ण जीवन असहाय और हाशिए पर रखे गए लोगों को समर्पित कर दिया। आदिवासी मजदूर किसान और स्त्रियों की सहायता करने हेतु हमेशा तत्पर रहने वाले इस लेखिका के लिए इतना सब कुछ करना सहज नहीं था क्योंकि देश तो स्वतंत्र हो गया था पर सामंतवाद और बुर्जवावाद की जड़ें अभी तक गहरे थी। पुरुष वर्चस्व और तानाशाही की मानसिकता अभी तक मस्तिष्क में घर किये थे। एकाधिकार की भावना पूर्ण समाज में लेखिका का योगदान अविस्मरणीय है।

दिल्ली में उनींदे

दिल्ली में उनींदे गगन गिल के द्वारा लिखी गई आत्मकथा का प्रथम संस्मरण सन् 2006 ई. में प्रकाशित हुआ। गगन गिल सुप्रसिद्ध कवयित्री और लेखिका है। गद्य और पद्य मिश्रित यह आत्म कथा उनकी संवेदनशीलता और काव्यात्मक अभिव्यंजना

को दर्शाती है। पंजाबी परिवार में जन्मी गगन गिल बचपन से ही व्यक्ति और संसार के बीच कार्य कारण संबंधों की गूढ़ता को जानने के लिए प्रयत्नशील रही। उनकी संवेदनशीलता संसार में उनकी उपस्थिति को लेकर बार-बार प्रश्न करती है उन्हें स्थिर नहीं रहने देती है। धर्म आध्यात्म संस्कृति सभ्यताएँ व्यक्ति-व्यक्तित्व जो कुछ भी दृष्टिमान है या नहीं है उसकी सार्थकता, निरर्थकता को लेकर सूक्ष्म दृष्टि रखती है। लेखिका नींद में भी उनींदी है अर्थात आधी सोयी आधी जागी क्योंकि उसका अवचेतन मस्तिष्क उसे सोने नहीं देता है। भौतिकता और अभौतिकता जगत और जीवन के मध्य जो कड़ी है उसे वह पकड़ना चाहती है। वह कहती है कि "इस पृथ्वी के एक जीव के नाते मेरे पास ठोस की जकड़ और वायवीय की माया। नींद और जाग है। सोए हुए लोग जागते हैं। जागते हुए लोग सोने जाते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो न इधर हैं, न उधर.....।"[145]

सामाजिक अव्यवस्था, असंगत परिस्थितियाँ उसे विचलित करती है। वह मानती है कि जीवन की सार्थकता तभी है जब हम सही मायनों में अपने दायित्वों का निर्वाह करें। अमीर अधिक अमीर गरीब और गरीब इन स्थितियों के लिए हम सभी को दोषी मानती है। उनकी इस स्थिति के जिम्मेदार सब हैं। उसे अपना अस्तित्व अपनी पहचान अर्थहीन लगते हैं। क्योंकि वह चाहकर भी इन स्थितियों के निवारण हेतु कुछ कर नहीं पा रही है। उसका आत्म उसे कचोटता है कि "उसके चौदह वर्षों का उनींदा, उस उनींदे में फैली दिल्ली की सड़कें हम सब के चौदह वर्षों की आराम भरी रातें – जैसे किसी खुली गुदड़ी की तरह बिखर जाती हैं। जैसे उसकी उनींद के पाप में हम सब के आराम का हाथ हो।"[146]

उसका सामाजिक आत्म दूसरों के दु:ख दर्द से भिज्ञ ही नहीं करता है बल्कि एकात्म भी करता है। वह उनकी विषमताओं को समझती है परन्तु कुछ भी करने में अपने को असहाय पाती है। व्यक्ति को अपनी जीविका चलाने के लिए कैसे-कैसे समझौते करने पड़ते हैं क्या सिर्फ अनुभव करने से उनकी समस्याएँ समाप्त हो जाएंगी। वैचारिक मंथन कहाँ तक उपयोगी होगा क्योंकि वास्तविकता के लिए ठोस कदम आवश्यक है। आये ड्राइवर के पूछने पर कि आप क्या कर सकती है? के जवाब में वह निरुत्तर थी। "मुझे नहीं मालूम, बोझा ढोते हुए यह संसार कैसा दीखता है, सड़क पर सोते हुए कैसा, ऑटो में रहते कैसा कैसा। मेरे पास उसके प्रश्न का कोई उत्तर नहीं।"[147]

व्यक्ति के जीवन से बढ़कर कुछ नहीं। सर्वप्रथम स्त्री हो या पुरुष उसकी अपनी जिंदगी है। तत्पश्चात सांसारिकता। जिस व्यक्ति को दो वक्त का खाना, कपड़ा और छत नसीब न हो वह प्यार, घर-परिवार-बच्चे के लिए क्या आशा रखेगा। इस जद्दोजहद में वह संबंधों का महत्व और अर्थ ही भूलता जा रहा है। आजीविका का प्रश्न सर्वोपरि है। जीविकाविहीन निराश्रित व्यक्ति के लिए स्त्री का महत्व और उसका अस्तित्व क्या अर्थ रखता है। वह लिखती है "भूखे आदमी के लिए, बेघर आदमी के लिए- एक औरत किस काम की है? क्या कोई इसका उत्तर दे सकता है?"[148]

लेखिका अपनी यात्राओं को जीवन के पक्षों से जोड़ती है कि जिंदगी के दु:ख दर्द, द्वंद्व, आशा-निराशा, उचित-अनुचित, निरीक्षण-परीक्षण के मानदंडों में कभी तो ऐसी स्थिति आएगी जब व्यक्ति इन संदेहात्मक प्रवृत्ति से मुक्त हो पायेगा। वह लिखती हैं कि "इस मात्रा में कहीं तो वह पड़ाव आएगा, जब इस शरीर में थकान पूरी तरह से

बस जाएगी। कभी तो यह हताश सिर निष्प्रश्न होकर ईश्वर के चरणों में झुक जाएगा। कहीं तो इसके संशय का कंकट पीछे छूटेगा।"[149]

स्त्रियाँ संबंधों का निर्वाह घर या बाहर जितनी सहजता से कर लेती है। पुत्री से पिता का संबंध बहन से भाई का, पत्नी से पति का, माँ से संतान का संबंध और घर से बाहर सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार नेता वकील, डॉक्टर व्यवसायी श्रमिक अधिकारी जो भी कार्य क्षेत्र उसने चुना है उसके लिए पूर्णत: समर्पित रहती है अपने गुणों से (करुणा, दया ममता, धर्म) परिपूर्ण करती है। लेकिन क्या पुरुष भी सही अर्थों में इन संबंधों के प्रति न्यायिक दृष्टि अपनाता है। पुरुषों की दृष्टि में वह स्त्री का महत्व पृथक और अन्य का है। लेखिका बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों से मिलती है तो वह भिक्षु जो दुनियादारी भौतिकता से परे होना चाहिए, वह भी स्त्रियों के लिए वहीं परंपरागत सोच ही रखता है। "लेकिन एक भिक्षु क्या देखता है ऐसी स्त्री के मुख पर? निश्चय ही, वह उसका पिघला हुआ चेहरा देखता है। लेकिन वह कुछ और भी देखता है।

उसकी वर्जित देह।

उसका जाल।

उसका जंजाल।"[150]

पुरुषों भाँति स्त्रियाँ दुराव छिपाव और भेदक रेखाएँ नहीं खींचती है। बल्कि संबंधों की गरिमा और स्थायित्व के लिए ईमानदारी, निष्पक्षता और स्नेह से उन्हें प्रतिष्ठित करती है। लेखिका जब जगन्नाथपुरी के मंदिर के दर्शन करने जाती है तब बिना किसी भेदभाव और पूर्वग्रसित मानसिकता परिवार में सभी व्यक्तियों के नाम वहाँ के पत्रावली में अंकित करती है। "अच्छा तो लिखिए। मैं चुन-चुनकर वंशावली दर्ज करवाती हूँ।

मायके-ससुराल की। इस बार कोई नहीं छूटनी चाहिए। हे जगन्नाथ जी, हम सबको अपने दरबार में हाजिर समझना.....।"[151]

संबंधों की अस्थिरता पश्चिमी समाज की सबसे बड़ी विकट समस्या है। जिसका कारण वहाँ का धर्म शिक्षा, संस्कृति, रहन-सहन आदि ने व्यक्ति की मानसिकता को अस्थिरता प्रदान की है। स्त्रियों की स्थिति विश्व फलक पर एक जैसी है। जब लेखिका जर्मनी के रोला बियर से भेंट करती है तो वह बताते हैं कि उनका अहंकारी वैज्ञानिक मित्र और उनकी में आपसी मतभेद उत्पन्न होते हैं तब उसका भी। यह टूटन की परंपरा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती है। कयोंकि पुरुष अपनी अहम तुष्टि को सर्वोपरि रखता है। परिणामत: संबंधों में अस्थिरता। "पश्चिमी समाज का अकेलापन असुरक्षा। एक बार ठेस लगी, कि सब बिखरने लगता है – फिर आदमी कहीं बीच में नहीं रूक पाता। जब तक कि पूरी तरह बिखर न जाए, थक न जाए.....।"[152]

पुरुष जहाँ अपने दंभ को पालता पोसता है वहीं स्त्रियाँ संबंधों के रीतेपन के भराव में लगी रहती हैं और कभी-कभी तो पूरी जिंदगी इसी पशोपेश में की अभी भी शेष है। जिसे जोड़ा जा सकता। पूरा किया जा सकता है। वह लिखती हैं कि "एक अकेली स्त्री, जिसे समाज की कोई चीज अब लुभा नहीं रही। शायद वह झिझकती होगी? एकबार रूककर वापिस देखती होगी, क्या पता अभी भी वहाँ कुछ हो, जिसकी ओर लौटा जा सकता हो? शायद कुछ देर, कुछ महीने वह वैसे ही खड़ी रहती होगी? कान लगाकर कोई आहट सुनती हुई? कहीं कुछ सुनाई नहीं पड़ता होगा। केवल अपने अराजक हृदय की धक धक धक।"[153]

स्त्रियाँ विषम परिस्थितियों में धैर्य, साहस और संकल्प डिगने नहीं देती है। जहाँ पुरुष परिस्थितियों के समक्ष हथियार डाल देते हैं। वहीं स्त्रियाँ अंत तक परिवार से,

समाज से जुड़े अपने संबंध को जीवित रखती है। क्योंकि वह अपनी उपस्थिति पहचान को इन्हीं संबंधों में प्राप्त करती है। उसका स्व उससे जुड़े अन्यों में निहित है। लेखिका कहती है कि किस तरह दादी दादा के संत बन जाने पर साहस से अपनी धन संपत्ति को परिवार को सुरक्षित रखा था। लेखिका लिखती हैं कि "तुम्हारे पिता की नामौजूदगी में। बाकायदा मुकदमा लड़ी थी वह। बीस गज का घाघरा पहनकर कचहरी जाती थी, अपनी रैयत के साथ। यूँ ही नहीं बच गई थी खानदानी जागीरदारी। पिता तो पता नहीं, किन संतों के साथ बैठकर शास्त्र चर्चा करते होते। उनके अपने दुखड़े थे, जिनसे वह मान रहे थे। माँ लेकिन भागने वालों में नहीं थी। दु:ख उसे मारने आया, तो उसने आगे बढ़कर उसके सींग पकड़ लिए .....माझे के सब गाँवों में चर्चा थी उसकी। बड़ी विलक्षण और थी।"[154] हिम्मत और साहस का नाम स्त्री है। जिसमें उनके देश-विदेश की यात्राओं की रोचक और अविस्मरणीय अनुभूतियों को अंकन किया गया है। 'दिल्ली में उनींदे' दिल्ली की सड़कों से शुरू होकर तिब्बत, उड़ीसा, पंजाब आदि स्थानों का चित्रण उनकी विशेषताओं के साथ सजीवता से हुआ है। तत्कालीन समय में दिल्ली की सड़कों पर आम आदमी की जीवन शैली उसके दु:ख दर्द भूख और गरीबी कैसे उस पर हावी है। एक ओर जहाँ ऊँची इमारतें, बाजार उद्योग अपनी विलासिता का परचम लहरा रहे हैं वही दूसरी ओर आम आदमी इतनी नारकीय अवस्था में न उसके पास दो वक्त की रोटी है न पहनने को कपड़ा है न सर पर छत फिर भी वह जीवित है। लेखिका के ऑटो ड्राइवर से संवाद करती है तो "वह बताता है कि जिस सीट पर पर मैं बैठी हूँ, उसके नीचे उसका बक्सा है, जिसमें एक कंबल है, एक जोड़ी कपड़े हैं और एक कटोरा है। कटोरा पानी पीने के काम भी आता है और खाना रखने के भी।"[155]

लेखिका हृदय द्रवित होता है। वह सोचने पर विवश है कि ऐसा क्यों है? के अंतर्द्वंद्व से निकलकर तिब्बत के बौद्धों के तीर्थ स्थान गोप्पा देखने केलौंग पहुँचती है। वहाँ के गोप्पा अपने भीतर अतीत को छिपाए आज भी गौरव गाथा गा रहे हैं। "बाहर केलौंग की पहाड़ियां है और ठीक सामने एक तिकोना, छोटा सा पार्क। बाद के दिनों में गौर करने पर देखती हूँ, वहाँ एक मूर्ति लगी है – रास बिहारी बोस की। इस सदी की शुरूआत में, शायद बीस के दशक में, वह यहाँ रहे थे। यहीं से उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ भूमिगत विद्रोह की तैयारी की थी। दिन-भर इस गाँव की, (इसे गाँव कहें, कस्बा कहें या लाहौल की राजधानी?) बच्चियाँ संगमरमर के बने इस पार्क में खेलती हैं। यह कोई खेल है – अनंत बातों से बना जिसे हम नहीं जानती। मूर्ति के गिर्द चक्कर काटतीं बातें करती इन बच्चियों को न अपनी खबर है, न हमारी, जो जाने कब से इन्हें खिड़की से घूर रही हैं। कोई अचंभा नहीं कि केलौंग में अखबार नहीं मिलता!"[156]

इस यात्रा में लेखिका के साथ उसकी मित्र लारा भी है। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों की धर्म के प्रति आस्था उनका गोत्मा से जुड़ाव और कटु और मृदु, अनुभव प्राप्त कर वह दुनिया के सबसे ऊँचे दर्रे को देखने जाती है। "दुनिया का सबसे ऊँचा दर्रा-तांगलांग ला 18,000 फीट ऊँचाई। उसके मुकाबले लेह सिर्फ 13,300 फीट ऊँचा है। उतना ही केलौंग है।"[157]

तिब्बत की संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान और वेश-भूषा आदि की झलक उनके वार्षिकोत्सव से स्पष्ट होती है और उनकी भिन्नता को दर्शित करती है। "तिब्बती संगीत की अपनी ही गति है। नृत्य की पोशाकों के नीचे से गेरुए वस्त्र झाँकते दीखने से मालूम होता है, कि ये सब नर्तक नहीं भिक्षु हैं जो समूह-नृत्य प्रस्तुत कर रहे हैं। रौद्र

मुद्राओं के मुकुट, जिनमें तिब्बती तांत्रिक मिथकों को पहचाना जा सकता है। नृत्य में वीर गाथाएँ हैं –ज्ञान प्राप्ति की, बुराई पर अच्छाई की, मृत्यु पर जय की, जैसे ज्ञान-प्राप्ति स्वयं में ही एक वीर गाथा हो।"[158]

लेह मनाली होते हुए लेखिका सिंधु नदी पहुँचती है वह बताती कि इसी नदी से हमारी सभ्यता का नाम हिन्दू हुआ। (क्योंकि सिंध नदी के आसपास के लोगों को सिंधु कहा गया, चूंकि फारसी में 'स' को 'ह' उच्चारण करते हैं इसलिए हिन्दु हो गया) एक विदेशी महिला जो बीस वर्षों से लद्दाख में रह रही है और लद्दाख में हो रहे परिवर्तनों और प्रदूषण के बचाव के लिए काम कर रही हैं। लद्दाख के इकोलाजिकल सेंटर में प्रत्येक बृहस्पतिवार को एंश्येट फ्यूचर्स पर वक्तव्य देती है। लेखिका वहाँ जाकर निराशा ही मिलती है। 1993 में लेखिका उड़ीसा में पुरी पहुँचती है। पुरी के समूह को देखते हुए उसकी स्मृति में इंग्लिश चैनल, अटलांटिक, मेक्सिको की खाड़ी, प्रशांत, एशियाटिक कैरीबियन और अरब सागर की याद ताजा हो जाती है। वह लिखती हैं कि ''शाम को जगन्नाथ जी के मंदिर गई थी सैकड़ों बरस पहले यहाँ गुरु नानक आए थे – कहते हैं, वे पंडों से मतभेद के कारण भीतर नहीं गए थे।"[159]

लेखिका जब हावर्ड विश्वविद्यालय में कार्यरत थी तब वह मेक्सिको के माया खंडहर देखने जाती है। जो अपने आपमें अनूठी सभ्यता है। विश्व में कैसी-कैसी सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ हैं जिनका लोगों को भान तक नहीं। "मुख्य पिरामिड के गिर्द कई सारे चबूतरे थे। अलग-अलग प्रकार के मूर्ति-शिल्पों के कारण उनके प्रयोजन स्पष्ट होते थे। एक प्रमुख चबूतरा राज पुरोहित का था, जहाँ नर-बलि दी जाती थी – एक आदमकद मूर्ति, घुटनों को मोड़े तश्तरी लिए बैठी है। मुख मंदिर की ओर है, जैसे देवता से कह रही हो, तुम्हारा प्रसाद लेकर आ रही हूँ.....।"[160]

इस आत्मकथा में मद्रास के चिंतक, विचारक कृष्णामूर्ति तथा थियोसोफिकल सोसायटी, बैंकॉक में बौद्ध प्रतिमाओं के दर्शन, कोचीन कन्याकुमारी, त्रिवेंद्रम की साहित्यिक की संगोष्ठि की समयावधि में अनेक साहित्यकारों के साथ-साथ अनंतमूर्ति से भेंट, जो पेरियार के बहुत बड़े समाज सुधारक और जननायक हैं। "मलयालियों ने कैसे कए कन्नड़ भाषी को अपना बना लिया है। कुछ साल पहले तक अनंता यहाँ महात्मा गाँधी युनिवर्सिटी के कुलपति थे। उन्हीं की प्रेरणा से यहाँ साक्षरता अभियान शुरू हुआ। छात्राएँ गृहणियों को पढ़ाने पहुँचती, तो वे बहाना करतीं, घर का काम पड़ा है – फिर छात्राएँ ग्रुप में जाने लगीं। एक उस गृहिणी को पढ़ाती, दूसरी उसके घर का बचा काम-बर्तन, सफाई आदि करती। अब सारा प्रदेश साक्षर है। अनंता हीरो क्यों न हो।"[161]

मद्रास यात्रा के दौरान सिने गाँग ने यहूदियों के धार्मिक ग्रंथ टोराह को देखकर लेखिका कहती है कि "यहूदी यहाँ ईसा के होने से एक सदी पहले आए थे। भारत की मिट्टी ने भी कहाँ-कहाँ के लोगों को खींचा, यहूदी पारसी, यूनानी, चंगेज। कोई लुटेरा, कोई शरणार्थी। अभी तक सब चले आ रहे हैं। खालें कोई सड़क के किनारे उसका मजार बनाकर बैठ जाता है – किसी को किसी कोई खतरा नहीं। सिवाय भितरघात के!"[162]

लेखिका जर्मनी में पुस्तकों के विक्रेता और हिन्दी भाषा प्रेमी और सेवी से भेंट करती है। जो विदेश में रहकर भी हिन्दी के प्रचार और प्रसार में लगे हुए हैं। वह कहती है कि "यह जर्मनी के एकीकरण से पहले की बात है। रोलाँ बियर तब पूर्वी बर्लिन में थे। अन्य पूर्वी यूरोपियन देशों की तरह यहाँ भी छात्रों को हिन्दी सीखने के लिए बहुत प्रोत्साहित किया जाता था।"[163]

अन्या से अनन्या

प्रभा खेतान कृत आत्मकथा अन्या से अनन्या का प्रथम संस्करण सन् 2007 ई. में प्रकाशित हुआ। इनका जन्म कलकत्ता के धनाढ्य परिवार में 1942 में हुआ। बुद्धिजीवी व्यक्तित्व, बहुमुखी प्रतिभा सफल साहित्यकार, सबमें विशेष अर्थात दूसरों से (अनन्या) अलग, ये सभी संज्ञाएँ एक साथ प्रभा खेतान के गरिमामय व्यक्तित्व के लिए सटीक बैठती हैं। मारवाड़ी परिवार में जन्मी प्रभा खेतान के बचपन में पिता का देहांत और माँ के प्यार से वंचित होने का दु:ख उठाया। प्रभा खेतान बुद्धिजीवी, विचारक, चिंतक व्यवसायी प्रसिद्ध लेखिका जिन्होंने अस्तित्ववाद के प्रवेश जो पाल सात्र से प्रभाविक होकर स्त्रियों के अस्तित्व को लेकर लेखन और विमर्श की धारा को अग्रसर किया। उन्होंने अपने जीवन और लेखन दोनों में ही परंपरागत मान्यताओं को तोड़ा ही नहीं बल्कि स्थापित भी किया। लेखिका के आत्म का विकास उपेक्षित वातावरण में हुआ। गांधीवादी पिता और परंपरा का लबादा ओढ़े माँ के रूप एक स्त्री और दुविधाओं हीनता के बीच पलता पोसता बचपन। स्नेह और अपनेपन के अभाव ने उसे दब्बू या संकोची बना दिया था। अंदर ही अंदर तो वह घुटती रहती परंतु आत्मविश्वास की कमी उसे अपनी भावनाओं और इच्छाओं को व्यक्त करने में बाधक लगती। वह कहती है कि ''मैं उपेक्षिता थी, आत्मसम्मान की कमी ने मेरा जिंदगी भर पीछा किया। भला नीची हैसियत के लोगों के प्यार भरी तारीफ का, उनकी कमजोर राय का मेरी जिंदगी में क्या मायने था। माँ ने प्यार नहीं किया, यह तो समझ रही थी, क्योंकि मैं ठहरी काली। माँ की तरह गोरी नहीं। मैं बहुत शांत गीता की तरह स्मार्ट नहीं मुँह पर फटाफट जवाब नहीं दे पाती, लेकिन मैं पढ़ने में तो अच्छी थी, क्या यह काफी नहीं था?''[164]

उपेक्षित व्यक्तित्व कभी तो अस्तित्वहीन हो जाता है अर्थात भीड़ में खो जाता हूँ और कभी तो प्रतिकूलताओं के बीच जीना सिखा देता है। अन्यों के लिए मिसाल बन जाता है कि देखों इतने विरोधों और अंतर्द्वंद्वों के बीच भी मैं खड़ी हूँ अपनी पहचान और उद्देश्य के साथ। अब यदि साहस है तो मेरा निष्कासन करो मुझे और मेरे व्यक्तित्व को नकार दो तब कहती है कि "मेरे साथ मेरा अकेलापन हमेशा रहा है, पर यह अकेलापन मुझे जीवन का अर्थ भी समझाता रहा है। मैंने अपने आपको बचाया है, अपने मूल्यों को जीवन में संजोया हाँ, टूटी हूँ, बार-बार टूटी हूँ - पर कहीं तो चोट के निशान नहीं दुनिया के पैरों तले रौंदी गई, पर मैं मिट्टी के लोंदे में परिवर्तित नहीं हो पाई। इस उम्र में भी एक पूरी की पूरी साबुत औरत हूँ, जो जिंदगी को झेल नहीं रही बल्कि हँसते हुए जी रही है, जिसे अपनी उपलब्धि पर नाज है। दोस्ती का हाथ बढ़ाकर जिकी गर्म हथेलियाँ हर किसी को अपने करीब खींच लेती है।"[165]

लेखिका का आत्म विश्व की आधी आबादी की दीन दशा और अस्तित्वहीन व्यक्तित्व को देखकर व्यथित है। चूँकि सात्र उसके प्रेरक हैं जिन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व की पहचान को आवश्यक माना है। सात्र के अनुसार अस्तित्वहीन मनुष्य मृत प्राय: है। फिर स्त्रियाँ अपने स्व का विगलन करके भी अधिकार मान-सम्मान, सुख से वंचित क्यों है? वह कहती है मुझे भीड़ में खोना नहीं और रूढ़िगत परंपराओं को ढोना नहीं मुझे तो वर्जनाओं को तोड़ना है। "मुझे अम्मा की तरह नहीं होना, कभी नहीं, भाभी की घुटन भरी जिंदगी की नियति में कदापि स्वीकार नहीं कर सकती। मैं अपने जीवन को आँसुओं में नहीं बहा सकती। क्या एक बूँद आँसू में स्त्री का सारा ब्रह्मांड समा जाए? क्यों? किसलिए? रोना और केवल रोना, आँसुओं का समंदर, आँसुओं का दरिया और तैरते रहो तुम। अम्मा, जीजी, भाभी जी, ताई, चाचियाँ क्या सभी रोने के

लिए पैदा हुई। यहाँ तक कि स्कूल की मेरी शिक्षिकाएँ, जिनकी ओर कभी मैंने बड़ी ललक से देखा था, जो मेरे जीवन में प्रेरणास्रोत रही थीं, वे भी तो आँसुओं से इसी समंदर को भरे चले जा रही थी।"[166]

समाज डॉ. सर्राफ और प्रभा खेतान के अनाम संबंध को हेय दृष्टि से देखता है। जैसे उसने कुछ अनैतिक कर दिया हो। नैतिकता और अनैतिकता का मापदंड मनुष्य द्वारा ही निर्धारित किए जाते हैं। डॉ. सर्राफ के साथ अपने प्रेम संबंध को लेकर लेखिका को कोई दोष या हनन या पाप नहीं सालता है। क्योंकि वह इस संबंध में भौतिकता का आदान-प्रदान नहीं है। वह कुछ लेने की आशा/अपेक्षा नहीं रखती बल्कि दाय भावना ही मुख्य है। परन्तु समाज की दृष्टि में एक विवाहित पुरुष से संबंध रखना अनैतिकता है। जिसके लिए सिर्फ उसे दोषी माना जाता है। घर-परिवार, समाज यहाँ तक कि जिससे संबंध जोड़ा उससे भी उपेक्षा और दंड मिला उसे। वह सोचने पर विवश हो जाती है कि समाज उसे केवल क्यों हिकारत दृष्टि से देख रहा है। क्या वही गलत है और यदि गलत है तो क्यों? "मैं क्या लगती थी डॉक्टर साहब की? मैं क्यों ऐसे उनके साथ चली आई? प्रियतम, मिस्ट्रेस, शायद आधी पत्नी, पूरी पत्नी तो मैं कभी नहीं बन सकती क्योंकि एक पत्नी पहले से मौजूद थी। वे बाल बच्चों वाले व्यक्ति थे। पिछले बीस सालों से मैं उनके साथ थी। मगर किस रूप में ....इस रिश्ते को नाम नहीं दे पाऊँगी। भला प्रेमिका की भूमिका भी कोई भूमिका हुई? प्रेम तो सभी करते हैं प्रेम करने वाली स्त्री, माँ, बहन, पत्नी, वह कुछ भी हो सकती या फिर सीधे साधे उसे रखैल कहो ना। रखैल का क्या अर्थ हुआ? वही जिसे रखा जाता है, जिसका भरण पोषण पुरुष करती हो। लेकिन डॉक्टर साहब तो मेरा भरण पोषण नहीं करते, उनसे

मैंने कभी कोई आर्थिक सहायता नहीं ली। मैं तो खुद कमाती थी, स्वावलंबी थी, एक आत्मनिर्भर संघर्षशील महिला थी।''[167]

उसके और डॉ. सर्राफ के रिश्ते को किसी ने भी स्वीकृति नहीं दी और ना ही उचित ठहराया। लेखिका जिस संबंध को जीवन भर निभाना चाहती है वह सभी की दृष्टि में अवैध था। उसका अपना स्वयं का परिवार, डॉ. सर्राफ का परिवार और समाज जहाँ भी उपस्थित होती उसे एक कोना ही प्राप्त होती है। यहाँ तक कि आधुनिकता का दम भरने वाले पाश्चात्य देश में भी उसे आने और डॉ. सर्राफ के संबंध को गुप्त रखना पड़ता है। किसी भी वस्तु को अगर सब दोषपूर्ण मान ले तो धीरे-धीरे उसके दोषयुक्त होने का आभास होने या भ्रम पलने ही लगता है। यही संताप कि उसने गलत किया उसे सदैव सालता है। उसकी आत्मा उसे धिक्कारती है और मस्तिष्क उसे पीड़ित करता है। वह कहती है कि ''क्रूर समाज या क्रूर परिवेश उनकी क्रूरता जितनी त्रासद थी उतनी ही बेतुकी भी और ऐसे परिवेश में अपना ही कटा हुआ सर अपनी हथेलियों पर लिए मैं घूम रही थी। मुझे शारीरिक सजा नहीं मिली, किसी दैहिक पीड़ा का अहसास कभी नहीं हुआ लेकिन एक चश्म मानसिक यंत्रणा को भोगते रहने को, एक स्थायी आतंक को झेलने रहने को बाध्य थी।''[168]

स्त्रियाँ प्रतिकूलता को भी अनुकूलता में परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। यदि वह अपने पर उतर आए। प्रभा खेतान उस मारवाड़ी समाज की मान्यताओं पर प्रहार करती हैं जहाँ स्त्रियों की पहुँच सिर्फ घर की चारदीवारी तक सीमित थी। कॉलेज के समय से ही राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेना। विदेश जाकर व्यवसायी प्रशिक्षण लेना। भारत आकर एक सफल व्यवसायी बनकर अपनी सार्थकता सिद्ध कर घर-परिवार तथा समाज में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी। अपने अस्तित्व, अपनी पहचान

अपने स्त्री होने के मायने सिद्ध किये। "वह कहती है कि बाहरी दुनिया में कदम रखते ही मेरी कार्य क्षमता दुगुनी हो गई। एक असह्य यथार्थ से पलायन कर रही थी; मैं केवल डॉक्टर साहब की होकर नहीं रह गई थी। लोगों से मैं कहना चाहती, डॉक्टर साहब से अलग मेरी कोई हैसियत है। मैं भी कुछ हूँ। दुनिया देखने का, पारंपरिक दायरों के अतिक्रमण का यह दौर था। मैं भी कुछ व्यापारी महिला बन चुकी थी।"[169]

प्रथम तो प्रभा खेतान अपने अस्तित्व को सार्थकता दिलाती है कि दुनिया में अपनी पहचान अपनी इच्छा शक्ति के बल पर बनाती है। द्वितीय अन्य स्त्रियों के दुख, वेदना, शोषण और संघर्ष का व्यापक स्तर चिंतन मनन तथा विश्लेषण किया और पाया कि स्त्री पहले स्त्री है और बाद में कोई और। पुरुषवादी इस समाज में अपनी व्यक्तिगत पहचान बनाना, उनके समकक्ष खड़े होना सहज क्रिया नहीं है। प्रथम तो उसे मान्यताओं को ताक पर रखना होगा तत्पश्चात अपनी विलक्षणता से बौद्धिक क्षमता से, कार्यकुशलता से अपना मार्ग प्रशस्त कर पायेगी। वह कहती है कि "मैं एक औरत थी -औरत के आर्थिक अवदान को नकारने की परंपरा रही है। पहले गृहस्थी में उसके श्रम को नकारा जाता है फिर मुख्य धारा में यदि उसे स्थान दिया जाता है तब उस स्त्री को या तो अपवाद मानकर पुरुष वर्ग अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है या फिर उसे परे ढकेल दिया जाता है। पर अपने वाले वक्त में औरत की सबसे बड़ी लड़ाई इस मुख्य धारा में बने रहने की होगी।"[170]

तत्कालीन समय अंग्रेजों का शासन, स्वतंत्रता आंदोलन, गाँधी का अहिंसावाद जोर पकड़ रहा था। विभाजन के काले बादल संकट के रूप में उभर रहे थे। देश की आंतरिक और वाह्य दोनों स्थितियाँ नाजुक और भयभुक्त थी। लेखिका जब होली थी तब "हिन्दू–मुसलमान का दंगा भड़कता जा रहा था, रातों रात सैय्यद अली लेन वाला

मकान मामाजी लोगों को खाली करना पड़ा, जकरिया स्ट्रीट से मारवाड़ी भाग रहे थे। देश स्वतंत्र होने के बाद, मिलिट्री बैरक, पूर्वी पाकिस्तान से आए शरणार्थियों से भरे गए। चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था – 'घर से बाहर मत निकलो कुछ हो जाएगा' राशन की तंगी, कालाबाजारी, घर में भरा हुआ खाने-पीने का सामान, तेल से भरी हुई टंकियाँ।"[171] पूरे देश पर भय और आतंक का वातावरण बना हुआ था।

देश का युवा वर्ग पूरे जोश के साथ आंदोलनों को हवा देने में लगा हुआ था। बुर्जवा आंदोलन, कलकत्ता में कम्युनिस्ट विचारधारा, मार्क्सवाद, रूसी क्रांति, समाजवाद की स्थापना के सपने आदि क्रांतियां मान्यताएँ परिवर्तन का दरवाजा खटखटा। दस्तक दे रही थी। दूसरी तरफ पड़ोसी देश चीन ने अपनी गिद्ध दृष्टि अपनायी और भारत पर आक्रमण किया। लेखिका का समसामयिक बोध देश और समाज में हो रही घटनाओं की तरफ आकर्षित करता है। वह कहती है कि "यह 1962 का साल था। भारत पर चीन का आक्रमण हुआ। मेरा राष्ट्रवादी मानस पूरी तरह सत्ता के साथ था। मैं अपने सोने के तमाम गहने दान कर आई थी – देश को धन की जरूरत है। अम्मा ठंडी, खाली आँखों से मुझे देर तक घूरती रही थी। लेकिन उन्होंने कुछ कहा नहीं। बेटी की देश भक्ति पर उन्हें भी नाज हुआ"[172]

कलकत्ता ही नहीं पूरे देश में आक्रोश और असंतोष का वातावरण छाया हुआ था। बम, गोली, नारेबाजी, रैलियाँ, आंदोलन आदि विरोध स्वरूप अपनाए जा रहे थे। देश की युवा शक्ति भटक गई थी। प्रत्येक घटना अधिक उग्र और हिंसक होती जा रही थी। वह लिखती हैं कि "हाँ, तो बंगाल में आग लग चुकी थी। जगह-जगह मिलिट्री को बुलाना पड़ रहा था। बसें और ट्रामें जल रही थी। टीयर गैस, 144 धारा, स्कूल-कॉलेज

फिर बंद। विवेकानंद रोड, कॉलेज स्ट्रीट, महात्मा गाँधी रोड पर दंगा भड़क उठा। पुलिस ने गोलियाँ चलाई, करीब अस्सी छात्रों को तत्काल गिरफ्तार कर लिया गया"[173]

स्वतंत्रता के पश्चात देश आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के कटघरे में खड़ा था। निदान हेतु ठोस कदम भी नहीं उठाए जा रहे थे। नेता राजनेता अपने निज स्वार्थ देख रहे थे। वाह्य शक्तियाँ इन नाजुक स्थितियों के लाभ के लिए तत्पर हो रही थी। वह कहती हैं कि "इधर जनजागृति के आंदोलन ने जोर पकड़ा और उधर भारत-पाकिस्तान की लड़ाई की रणभेरी बन उठी। छात्र परिषद का कहना था, राजनैतिक, आर्थिक संकटों से मुक्ति के लिए दोनों देशों के नेताओं ने लड़ाई छेड़ी है। दोनों ही देश में पैसेवाले व्यापारियों एवं सामंतों के हाथ में है सत्ता। अपने होने और जीने के लिए वे लड़ाई छेड़ेंगे। लेकिन सायरन की तेज आवाज में सारे आंदोलन खामोश कर दिये गये। जीवन में पहली बार ब्लैक आउट देखती हूँ।"[174]

भारत में ही नहीं विश्व के अन्य देशों में जाति वर्ग मत -मनांतर,वाद-विवादों के विरूद्ध क्रांतियां हुई क्योंकि आधुनिकता औद्योगिक क्रांति, औपनिवेशिकता और विश्व युद्ध की विभीषिका ने संपूर्ण विश्व को अपनी चपेट में लिया। विश्व आर्थिक संकट सिद्धांतों और वादोंका सतहीपन स्पष्ट हो रहा था। जिन उद्देश्यों और सपनों को लेकर वह आगे बढ़े थे सबका खोखला जनता के समक्ष था। वह कहती है कि "साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में सारी दुनिया में मंदी का दौर था। उदारवादियों की दुर्दशा चरम पर थी। ट्रेड रसल, ज्यो पाल सात्र साम्राज्यवाद का घिनौना चेहरा देख चुके थे। अब और कुछ बाकीनहीं था युवावर्ग सबसे अधिक विद्रोही इसलिए हुआ क्योंकि प्रचलित बुर्जवा रीति-रिवाजों का अंतर्विरोध सबके सामने था।"[175]

बंगाल तो राजनीतिक गतिविधियों का गढ़ तत्कालीन समय में था ही साथ ही नेता राजनेता, राजनीतिक पार्टियां और विभिन्न मतों के समर्थक आपसी मतभेदों के शिकार होकर एक दूसरे का विरोध और संघर्ष करने लगे। क्योंकि मजदूरों की समस्याएँ, किसानों की समस्याएँ, जातिवाद, ऊँच-नीच, अव्यवस्थित शासन व्यवस्था, निजता का बोध आदि ऐसे घटक थे जिनमें परिवर्तन अवश्यम्भावी हो गया था उसके लिए लोग शांति,शस्त्र, वार्ता आदि का कोई रास्ता अपनाने के तत्पर थे। वह लिखती हैं कि ''परिस्थिति और विस्फोटक हो गई। मार्क्सवादी और नक्सलपंथी आपस में भिड़ गए। एक ओर कलकत्ते के अधिकतर छात्रों में को-आर्डिनेशन के माध्यम से सुधार एवं ठोस परियोजना की चर्चा थी, उनकाथा परिवर्तन लाना है मगर योजनाबद्ध तरीके से। दूसरी ओर प्रतिक्रिया तीखी थी-सशस्त्र लड़ाई को जल्द से जल्द शुरू किया जाना चाहिए।''[176]

बंगाल में रोज हो रहे आंदोलन, विद्रोह और संघर्ष की परिस्थितियों ने वहाँ का वातावरण विषाक्त और असामान्य बना दिया था। सुधारकी कोई आशा नही दिख रही थी तो बंगाल पर केन्द्र का शासन लागू कर दिया गया। ''1968-72 तक बंगाल में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। उस समय तक इंदिरा गांधी ने इमरजेंसी नहीं लगाई थी पर मार्क्सवादी सरकार इंदिरा गांधी को कभी माफ नहीं कर पाई। सिद्धार्थ शंकर राय की सरकार (1972-77) को दमन उत्पीड़न और जेल भरो की खुली छूट भी इंदिरा गांधी से ही मिली। इसी बीच चारु मजूमदार की पुलिस हिफाजत में 28 जुलाई 1972 में मृत्यु हो जाती है।''[177]

देश की अर्थव्यवस्था और शासन व्यवस्था को सुदृढ़ करने हेतु सत्ताधारी नेताओं ने आपातकाल की घोषणा आवश्यक समझी, जबकि विपक्ष के नेताओं ने इसे

अनावश्यक दबाव और तानाशाही की संज्ञा दी जिसके फलस्वरूप बड़े-बड़े नेताओं की गिरफ्तारी का आदेश हुआ। वह लिखती हैं कि "1975 में इंदिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा की। सारा देश स्तब्ध और आश्चर्यचकित। अरे यह क्या हुआ? एक ओर तो जयप्रकाश नारायण द्वारा संपूर्ण क्रांति का नारा, दूसरी ओर प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी का यह कहना कि राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं से निपटने के लिए आपातकाल की घोषणा जरूरी है। तब क्या हमारा जनतंत्र महज एक पश्चिमी उदारवादी भ्रम था? क्या आज तक के चुनावों में जनता का सही प्रतिनिधित्व कभी नहीं हुआ? कहाँ गए आजादी के वे सारे सपने?"[178] लेखिका कहती है कि देश की सर्वोच्च नेता इंदिरा गांधी ने एक स्त्री होकर भी देश के उत्थान, उद्धार के बजाय संघर्ष और दमन का आश्रय लिया। सिमोन द बुआ अपने एक साक्षात्कार में कहा "इंदिरा गांधी, भंडारनायके और मार्ग्रेट थैचर तीनों ही राजनेता स्त्री होकर भी पुरुषोंकी भांति सत्ता भ्रष्ट हैं। वे स्त्री हैं और पुरुषों से भिन्न है और इस तथ्य को ये राजनेता बिल्कुल भूल गई।"[179] क्योंकि इनके आत्म का विकास पुरुषवादी संस्था के द्वारा निर्मित हुआ और ये उनकी जमात आकर स्त्री और पुरष का भेद भूलकर शासनकर्ता बन गई।

देश के इतिहास और समय के बोध के साथ साथ प्रभा खेतान मारवाड़ी समाज के विकास की गति को भी देखती हैं और समझती है। वह कि मारवाड़ी समाज से संबंध रखती है और उसी रूढ़िवादी मावाड़ी की सीमाओं को तोड़कर कलकत्ता चेम्बर ऑफ कॉमर्स की सदस्या बनकर पुरुषवादी अहम के समक्ष मिसाल बनकर उभरती है। उनके बचपन से लेकर अब तक के सफर में मारवाड़ी समाज दो वर्गों में बँट गया था। एक रूढ़िवादी सामंती वर्ग दूसरा आधुनिकता अपनाए धनाढ्य वर्ग। वह लिखती हैं कि "1966 से 1990 तक इन चौबीस-पच्चीस सालों के दरम्यान हमारा मारवाड़ी समाज

कई-कई लहरों पर सवार था। एक ओर जहाँ सामंती परिवारों की पुरानी ऐतिहासिक भूमिका और मूल्यबोध और जीवन शैली पर सवालिया निशान थे तो दूसरी ओर धनाढ्य व्यापारियों का ऐसा वर्ग उभर रहा था जिसमें छोटे-छोटे कस्बों के लोग भी शामिल थे। वे बड़े दबे-ढँके मासूम लोग थे, महानगरों की सामंती परिवारों की ऊपर कलई की चमक से इनकी आँखें चौंधियाई हुई थी।''[180]

एक कहानी यह भी

मन्नू भंडारी कृत आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' का प्रथम संस्करण सन् 2008 ई. में प्रकाशित हुआ। सुप्रसिद्ध कथाकार मन्नू भंडारी का जन्म 1931 में मध्य प्रदेश के जैन परिवार में हुआ। आर्य समाजी, राजनीतिक और समाज सुधारक पिता का घर पर एकमात्र राज्य और दबदबा था। माँ के रूप में एक ऐसी अशिक्षित और अस्तित्वहीन स्त्री जिसे घर-परिवार और पति की सेवा सुश्रुषा का दायित्व ही सर्वोपरि। मन्नू भंडारी ने अपने बचपन में पिता की सामंतवादी प्रवृत्ति और मौका एक साधारण स्त्री की भाँति उनकी आज्ञा का पालन करते देखा। प्रतिष्ठित पिता के ठीक विपरीत धैर्यता और सहनशीलता की मूर्ति माँ। लेखिका का अपने पिता से अंतर्विरोधों के बावजूद अपने आपको उनकी छवि के रूप में देखा। उनको भव्य व्रूक्तित्व और वर्चस्व के वह अपने आपको क्षुद्र समझती है। उसका आत्महीनता बोध की ग्रंथि से उबर नहीं पाया। वह कहती है कि ''मैं काली हूँ बचपन में दुबली और मरियल भी थी। गोरा रंग पिताजी की कमजोरी थी सो बचपन में मुझसे दो साल बड़ी, खुब गोरी, स्वस्थ और हंसमुख बहिन सुशीला से हर बात में तुलना और फिर उसकी प्रशंसा ने ही क्या मेरे भीतर ऐसे गहरे हीनभाव की ग्रंथि पैदा नहीं कर दी कि नाम, सम्मान और प्रतिष्ठा पाने के बावजूद आज तक मैं उससे उबर नहीं पाई।''[181]

प्रसिद्ध लेखक संपादक राजेन्द्र यादव से विवाह पिता की अनुमति के बिना किया या कहें विरूद्ध जाकर किया। जिसकी सफलता जीवन भर संदेहगत रही। अनेकों उतार-चढ़ाव, मान-अपमान, यश-अपयश, विवाहित जीवन को अग्रसर करते रहे। कालांतर में वह उस विवाह को किसी भी कीमत पर निभाना चाहती थी। राजेन्द्र से विवाह की जिद और सहूलियत दोनों ही ताउम्र पीड़ा देती रही। एक अनुचित निर्णय या कहें अंधा निर्णय लेने पर उसका परिणाम आपको जीवन भर असंतुष्टि का अनुभव कराता है। असंतुष्टि आपके व्यक्तित्व को खंडित करती है जिससे मुक्ति इतनी सहज नहीं होती है। वह कहती है कि ''लगन जब किसी उन्मादी लगाव में बदल जाए और निष्ठा और समर्पण अंधे मोह में, तो कैसे आपका पूरा व्यक्तित्व या तो बेहद कुंठित और दयनीय बन जाता है या फिर हास्यास्पद। दोनों ही स्थितियाँ आपके व्यक्तित्व को जर्रा-जर्रा बिखरने के लिए काफी है।''[182] ''इसलिए जैसे भी हो इनसे मुक्त हो जाना चाहिए, फिर वह मोह चाहे किसी संस्था से ही, काम से हो, व्यक्ति से हो या संबंध से।''[183]

स्व को विगलित कर संबंधों और दायित्वों का निर्वाह निरर्थक है बेइमानी है। स्व की प्राप्ति या उसका बोध ही अपने आपको जानना और पहचाना है। स्व के द्वारा ही सामाजिक आत्म की प्रतिष्ठा की जा सकती है। समाज आपकी अपनी पहचान से अवगत होता है। ''मुझे लगने लगा जैसे मेरी कहानी ही नहीं मैं स्वीकृत हुई हूँ; मेरा अपना वजूद स्वीकृत हुआ है - अपनी एक अलग और विशिष्ट पहचान बनाता हुआ वजूद।''[184]

संवेदनशीलता का गुण है कि वह अपने दूसरे के दु:ख, दर्द, पीड़ा, विवशता, संघर्ष और विद्रोह के साथ तादात्म स्थापित कर लेती है। लेखिका की संवेदना उसे

दूसरों से जोड़ती है। उसे अपने स्व में अन्य स्व रूपायित होते दिखते हैं। अपने लेखन के माध्यम से वह अनेक मैं को व्यकत कर पाती है। वह लिखती हैं कि ''यह भीतरी मैं न जाने कितने बाहरी मैं के साथ जुड़ता चलता है। ये सारे बाहरी 'मैं' उस भीतरी मैं में निरंतर कुछ न कुछ जोड़ते-घटाते रहते हैं। बाहर भीतर की यह यात्रा- एक दूसरे में तब्दील होने की प्रक्रिया कब और कैसे घटित होती है, इसका कोई स्पष्ट बोध तो मुझे भी नहीं रहता। बोध तो उस समय होता है जब बाहरी भीतरी अनेक मैं का यह बोध मेरी रचनात्मकता को बुरी तरह कुरेद-उकसाकर एक रचना को जन्म देता है।''[185]

स्त्रियाँ अपने संबंधों का निर्वाह प्रत्येक स्थिति में करती है। क्योंकि संबंधों की टकराहट विघटन और त्रासदी पूरे परिवार समाज के साथ-साथ उसे भी प्रभावित करती है। अपनी इच्छा से किये गए विवाह को लेखिका हर स्थिति में जीवित रखना चाहती है। जबकि उसक दांपत्य जीवन की आधारशिला ही संदेह और दुविधा की स्थिति में रखी गयी। वह कहती है कि ''पर अपने प्रति हजार हजार धिक्कार उठने के बावजूद मैं ऐसा कोई निर्णय नहीं ले पाई। क्या मेरी जिन रगोंमें एक समय खून की जगह लावा बहा करता था, अब पानी बहने लगा? या कि दो वर्ष की मित्रता में मैं राजेन्द्र से इतने गहरे तक जुड़ गई थी कि उनको नकार देना मुझे अपने आपको नकार देने जैसा लगने लगा था -या कि पिताजी की इच्छा के विरूद्ध अपनी इच्छा से की हुई इस शादी को मैं किसी भी कीमत पर असफल नहीं होने देना चाहती थी - चुनौती ही थी यह मेरे लिए एक तरह से, वरना मेरा उदाहरण दे-देकर शुरू की गई एक सही स्वस्थ परंपरा को गलत सिद्ध करने की कोशिश तो की ही जाती।''[186]

वर्तमान संदर्भ में स्त्रियों को शिक्षा और आधुनिकता के बोध ने आत्मनिर्भर बनने की प्रक्रिया आरंभ की है। जिसके कारण उन्हें आर्थिक सुदृढ़ता, व्यक्तिगत

पहचान तथा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्य है। इसके विपरीत यदि पूर्व की स्थितियों का अवलोकन करें तो पायेंगे कि स्त्रियाँ अपने संबंधों में अपनी पहचान और पिता पति और बेटे पर निर्भरता। लेखिका कहती है कि ''हमसे पहले वाली पीढ़ी की स्त्री का न तो कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व होता था - न ही कोई स्वतंत्र पहचान, वह तो मात्र रिश्तों से ही पहचानी जाती थी। वह किसी की बेटी, पत्नी, माँ, बहिन, चाची-ताई, बुआ-भाभी ही होती थी। इन रिश्तों से परे भी उसका अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व -उसका अपना कोई नाम (अस्मिता) भी है, इस बात का उसे कोई बोध तक नहीं था।''[187]

सम्मानित और प्रतिष्ठित व्यक्ति पर समाज की प्रतिष्ठा का दायित्व अधिक रहता है यदि वही इस कर्तव्य बोध से अनभिज्ञ रहे या मुक्त हो जाए या अपने निज स्वार्थ के हेतु समाज की प्रतिष्ठा दाँव पर लगा दे तो साधारण जन की तो अपनी विवशताएँ हैं ही। विदेश यात्रा साउथ ईस्ट एशिया के सम्मेलन के लिए जब लेखिका आमंत्रण पर जाती है तो यह जानकर दु:खी होती है कि वहाँ की दृष्टि में भारत, गरीब, भिखारी, पिछड़ा हुआ देश है। उसके आत्मसम्मान को ठेस लगती है क्योंकि वह इसकी प्रतिनिधि यहाँ का अंग बनकर वहाँ उपस्थित थी। उसका सामाजिक आत्म उसे उद्वेलित करता है कि ''क्या यही छवि बनी हुई है हमारे देश की दूसरे देशों के बीच? ऐसा नहीं कि मैं अपने देश की कमियां और खामियों से परिचित नहीं हूँ (बीस सालों में तो उनमें भयंकर रूप से इजाफा ही हुआ है) इसके बावजूद कुछ अच्छा पक्ष भी तो है हमारा - उसे क्यों नहीं उजागर किया जाता वहाँ? क्या करते हैं हमारे राजदूत और दूतावास? क्यों? बाहर के देश हमारे यहाँ के नकारात्मक पक्ष से परिचित होते हैं और उसे बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं?''[188]

पति की इतनी उपेक्षा के बावजूद वह उनके सुख-दु:ख की सहभागी बनती है गृहस्थ की गाड़ी ठीक से चले इसके लिए वह उनकी उचित-अनुचित सभी कार्यों को सहती है। पति को आर्थिक रूप से निर्भरता मिलने पर वह कहती है कि "मनचाहा काम करके, उससे मिलने वाला संतोष और उससे भी ज्यादा उससे मिलने वाले यश से इनके व्यक्तित्व की बहुत गाँठें खुलने लगेंगी - चाहे धीरे-धीरे ही सही और ये एक अधिक सहज जिंदगी जीने लगेंगे। ये संतुष्ट सहज होंगे तो बहुत संभव है कि हमारे आपसी संबंधों के बहुत सारे खम-पेंच भी ठीक होंगे वरना मेरी सहन शक्ति भी अब अपनी अंतिम सीमा तक पहुँच चुकी थी।"[189]

पुरुष अगर विपरीत परिस्थितियों में भी संबंधों का निर्वाह करता है तो या अपने निज स्वार्थ हेतु या किसी विवशतावश; किसी स्नेह, परोपकार या भलाई के लिए नहीं। लेखिका का पति एक तरफ तो संबंधों को नकारता उसमें विभेदक रेखा खींचता और दूसरी तरफ उससे अलगाव भी नही चाहता है वह कहती है कि "सारी जिंदगी दमघोंटू कह-कहकर ये जिस घर की भर्त्सना करते रहे - जिन्हें यह संबंध बेहद नकली, उबाऊ और अपनी प्रतिभा का हनन करने वाला लगता रहा अब क्यों उसी घर और संबंध से ये चिपककर रहना चाहते हैं?"[190]

लेखिका वर्षों दांपत्य संबंधोंको ढोती रही उसे वह मान सम्मान, स्नेह, खुशी, अपनापन नहीं मिलता है जो सिर्फ एक पतनी अपने पति से चाहती है। अंतत: स्थितियाँ जब असहनीय हो जाती है तो वह इनसे मुक्त होना चाहती है क्योंकि सामाजिक संबंधों में गुंजाइश हो सकती है परंतु आपसी संबंधों की गुंजाइश एक सीमा के पश्चात दर्द बन जाती है और एक ऐसा दर्द जो नासूर की भाँति कभी खत्म तो नहीं होगा बल्कि गाहे बगाहे और टीस अवश्य देगा। वह कहती है कि "लेकिन जैसे-जैसे मेरा लोक निर्जीव

और निष्क्रिय होता गया, मेरे भीतर की स्त्री सजीव होती चली गयी, अपना पूरा वजूद पाते ही उस स्त्री के लिए न साथ रहना संभव रह गया था, न उस संबंध को निभा पाना -सा वह साथ छूटा संबंध टूटा। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि अगर मैं राजेन्द्र के साथ रही तो उनके प्रति अपने गहरे लगाव के कारण और यदि अलग हुई तो अपनी मक्ति के लिए।''[191]

तत्कालीन समाज की सामाजिक रूढ़ियों वाह्य आडम्बर रीति-रिवाज, पूजा-पाठ आदि के चलन के विपरीत घर पर आर्य समाजी प्रभाव अधिक था। जब लेखिका की बहन का विवाह आज से 70-75 वर्ष पहले किया गया तब किसी परंपरागत सामाजिक मान्यताओं का निर्वाह नगण्य रहा। वह कहती हैं कि ''आज से करीब अड़सठ साल पहले बिना घूँघट पर्दे की गई बहिन की शादी काफी क्रांतिकारी कदम था। लड़कियों को लड़कों की तरह पढ़ाना - बाल विवाह और अन्य सामाजिक कुरीतियों का विरोध - आडम्बरों और ढकोसलों की छुट्टी, बचपन से यही सब देखा हमने। याद नहीं घर में कोई धार्मिक अनुष्ठान देखा हो कभी।''[192]

कांग्रेसी पिताकी राजनीतिक गतिविधियों में सक्रियताके कारण घर पर वरिष्ठ नेता, कार्यकर्ता क्रांतिकारी सभी बैठकर चर्चा किया करतेथे। देश परतंत्रता की जंजीर में जकड़ा हुआ उसकेउत्थान और उद्धार के लिए देश भर में स्वतंत्रता आंदोलन व क्रांतियाँ की जा रही थी। ''सन् 46-47 के वे दिन - वे स्थितियाँ, उनमें वैसे भी घर में बैठे रहना संभव था भला? प्रभात फेरियाँ, हड़तालें, जुलूस,भाषण हर शहर का चरित्र था और पूरे दमखम और जोश-खरोश के साथ इन सबसे जुड़ना हर युवा का उन्माद था। मैं भी युवा थी और शीला अग्रवाल की जोशीली बातों ने रगों में बहते खून को

लावे में बदल दिया था। स्थिति यह हुई कि एक बवंडर शहर में मचा हुआ था और एक घर में।''[193]

घर का राजनीतिक वातावरण का प्रभाव लेखिका पर भी पड़ा। शहर, स्कूल, कॉलेज आदि की सहभागिता इन आंदोलनों के लिए आवश्यक मानी गई। क्योंकि देश का एक बड़ा जनसमूह युवाओं के रूप में यहाँ पर था। अंग्रेजी शासन के विरोधस्वरूप कॉलेजों में हड़तालें, रैलियाँ, भाषण आदि का वातावरण रहा। लेखिका भी इनमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने लगी। ''एक घटना और। आजाद हिंद फौज के मुकदमे का सिलसिला था। सभी कॉलेजों, स्कूलों, दुकानों के लिए हड़ताल का आह्वान था। जो-जो नहीं कर रहे थे, छात्रों का एक बहुत बड़ा समूह, जिसमें हम लोग भी थे वहाँ जा-जाकर करवा रहे थे। शाम को अजमेर का पूरा विद्यार्थी वर्ग चौपड़ (मुख्य बाज़ार का चौराहा) पर इकट्ठा हुआ और भाषणबाजी।''[194]

देशवासियों के अथक प्रयास, त्याग और बलिदान के फलस्वरूप देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। लगभग डेढ़ सौ वर्षों की गुलामी के पश्चात. अंग्रेजी शासन का समापन और देश की मुक्ति। पूरे देश में खुशियों की लहर और हर्षोल्लास का वातावरण था। सभी आजादी की खुली हवा में सांस ले रहे थे। लेखिका कहती है कि ''कितना मन था कि दिल्ली जाकर, किसी तरह सत्ता का हस्तांतरण देखने को मिले क्योंकि लगता था कि जैसे इस उपलब्धि में हमारा भी योगदान है। पर, यह संभव नहीं था सो अजमेर की सड़कों पर ही जश्न देखा। अजमेर शहर में वैसी दीवाली न पहले कभी मनी होगी न बाद में। आजादी के साथ जुड़ा विभाजन और उसकी भयंकर त्रासदी- सूचना के स्तर पर तो हमें यह सब मालूम हुआ पर संवेदना के स्तर पर उस समय हमने उसकी आँच महसूस ही नहीं की थी। टी.वी. तो उन दिनों थे नहीं जो

शरणार्थियों के उन काफिलों को देखते जो केवल लुट-पिटकर ही नहीं - अपना सारा अतीत भी अपनी सरहदों की मिट्टी में दफनाकर खाली हाथ, खाली जेब लिए आतंक से थरथराते हुए अनिश्चित भविष्य और अनजान सरहदों में प्रवेश करने के लिए अभिशप्त थे।''[195]

देश अपनी आंतरिक समस्याओं से जूझ रहा था। स्वतंत्रता देश को नए सिरे से योजनाएँ, नीतियों, उत्थान, विकास व्यवस्था आदि पुनर्निर्माण किया जा रहा था। विभाजन की त्रासदी के घाव अभी पूरी तरह भरे भी नहीं थे कि मित्रता का दम भरने वाले पड़ोसी देश चीन ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के तहत देश पर आक्रमण किया और युद्ध की विभीषिका तैयार हो गई। देश और समाज में हो रही घटनाओं से लेखिका का तारतम्य बना हुआ था। वह कहती है कि ''छुट्टियाँ समाप्त कर हम कलकत्ता लौटे और तभी हुआ चीनी आक्रमण। आजादी के बाद देश पर आया पहला संकट। आक्रमण भी उनकी ओर से जिनके साथ भाईचारे के नारे कुछ समय पहले ही तो कलकत्ता की सड़कों पर गूंजते रहते थे। कुछ ही साल पहले चाऊ एन लाई भारत आये थे - कैसा भव्य स्वागत हुआ था उनका कलकत्ता में वे सारे दृश्य मुझे आज भी याद हैं और फिर हिन्दी-चीनी भाई-भाई की घोषणाएँ हुई थीं - सो आघात दुहरा था। जो भी हो, संकट के इस समय में सारा देश एकजुट हो गया था।''[196]

वाह्य संकट के अलावा देश की आंतरिक शासन व्यवस्था में भी काफी उथल-पुथल की स्थिति स्पष्ट हो रही थी। विभिन्न राजनीतिक पार्टियाँ अपना वर्चस्व साबित कर सत्तासीन होना चाहती थी। देश की सबसे बड़ी पार्टी की नेता इंदिरा गांधी से सत्ता छोड़ने की माँग रखी गई क्योंकि लोग कांग्रेस की नीतियों से असंतुष्ट और सहमत नहीं थे। इस पर इंदिरा गांधी ने वह कदम उठाया जिसने सबके रोएं खड़े कर दिये थे। ''यह

माँग और जोर पकड़ेगी इसका अनुमान लगाकर संजय के सुझाव पर इंदिरागांधी ने 25 और 26 जून के बीच की रात को जयप्रकाश नारायण, मोरारजी देसाई, चन्द्रशेखर, अटल बिहारी वाजपेयी जैसे दिग्गज नेताओं के साथ-साथ विरोधी दल के न जाने कितने नेताओं और सदस्यों को गिरफ्तार कर लियाऔर 26 जून को सवेरे ही आपातकाल की घोषणा कर दी।''[197]

आपातकाल के फलस्वरूप देश में विद्रोह, संघर्ष, आंदोलन उग्र और व्यापक स्तर पर होनेलगे जिससे सत्तासीन इंदिरागांधी को खतरे का आभास होने लगा। तो उन्होंने आंदोलनों को कुचलने के लिए विपक्ष के नेताओंकी गिरफ्तारी, जनता की अभिव्यक्ति पर नियंत्रण तथा दमन का रास्ता अपनाया। सार्वजनिक रैली, गोष्ठियाँ, पार्टीबाजी के विरोध में सरकार द्वारा ठोस कदम उठाए गए। लेखिका कहती है कि ''पटना में जे.पी. ने एक रैली का आयोजन किया तो देश की जनता सारेसरकारी प्रतिबंधों को तोड़कर जैसे-तैसे बड़ी संख्या में जा उपस्थित हुई। यह उपस्थिति प्रायोजित कतई नहींशुद्ध स्वैच्छिक थी। जे.पी. उन दिनों इंदिरा गांधी और संजय के लिए वैसे ही आतंक बने हुए थे सो जरूरी था कि उनको और उनकेहर आयोजन को, जैसे भी हो जहाँभी पूरी तरह कुचल दिया जाए, सो इस रैली पर पुलिस का ऐसा बर्बर लाठी चार्ज हुआ कि हजारों लोग लहुलूहान हो गए।''[198]

देश की परिस्थितियों ने फिर करवट ली और जनता पार्टी का सत्ता से निष्कासन और कांग्रेस पुन: सत्तासीन हुई। परंतु असंतुष्ट नेता कार्यकर्ता, जनता ने एक जघन्य घटना को अंजाम दिया। कांग्रेस नेता इंदिरा गांधी की हत्या उन्हीं के सुरक्षाकर्मी द्वारा कर दी गई। लेखिका लिखती हैं कि ''साहित्य अकादमी का कोई कार्यक्रम चल रहा था और हमें यह सूचना मिली कि इंदिरा गांधी के अंगरक्षकों में से ही किसी ने उन पर

गोलियाँ चलाई और उन्हें तुरत मेडिकल इंस्टीच्यूट ले जाया गया। मृत्यु की सूचना तो शाम को मिली थी पर उस बीच दुख और आक्रोश में लिपटी तरह-तरह की अफवाहें - कितनी बार आगाह किया गया था कि ऑपरेशन ब्लू-स्टार के बाद माहौल अच्छा नहीं है- कम से कम पर्सनल सिक्यूरिटी में से तो सरदारों को हटा दीजिए पर उनका एक ही जवाब रहता था कि नहीं, न तो मैं किसी पर अविश्वास करूँगी, न ही इस तरह का कोई भेदभाव करूँगी, मिल गया विश्वास का फल? राजनीति का खेल, जो न कराए सो थोड़ा-अपनी राजनीति का मोहरा बनाकर जिस भिंडरावाला को इंदिरा गांधी ने खड़ा किया, उसी के लोगों ने उन्हें हमेशा के लिए लिटा दिया।''[199]

गुड़िया भीतर गुड़िया

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा का द्वितीय भाग 'गुड़िया भीतर गुड़िया' का प्रथम संस्करण सन् 2008 ई. में प्रकाशित हुआ। यह मैत्रेयी पुष्पा के जीवन के उत्तरार्ध की गाथा है। समाज एक स्त्री को कभी अनुमति नहीं देता कि वह अपनी इच्छाओं को, भावनाओं को और विचारों को स्वतंत्र रूप से रखे या व्यक्त कर सकते। यदि वर्जनाओं को तोड़कर वह रखती भी है तो उसे असभ्य करार दिया जाता है। उसे कमजोर साबित कर दिया जाता है उसके आत्मविश्वास को तोड़ दिया जाता है बल्कि नीति तो यह रहती है कि वह किसी तरह दबाव में आ जाए। लेखिका का पति तथाकथित शिक्षित, संभ्रांत परिवार और आधुनिक समाज से सम्बद्ध है फिर भी एक स्त्री के लिए उसमें भी पत्नी के लिए इनकी मनाही है। पर क्यों? क्या स्त्री जीव नहीं मनुष्य नहीं है उसकी अपनी व्यक्तिगत इच्छा नहीं हो सकती है। वह कहती हैं कि ''चलिए, मैं नहीं जाहिर करती अपनी भावना को। मगर मिटा भी नहीं सकती इस भावना की मौजूदगी को। और मिटानी भी नहीं चाहिए। नाचकर में उ स गँवार शब्द के शहरी हथियार का साहस

के साथ सामना कर रही थी, जिसने अभी तक मुझे नीचा दिखाने के लिए अपना इस्तेमाल कराया है। क्या मुझे उस मुकाम पर मान लिया गया है जिसे जब चाहे पटक दिया जाए?''[200]

स्त्री और पुरुष का भेद तो सदियों से समाज में व्याप्त है। परंपरागत मान्यताएँ लड़के को वंश वृद्धि तथा समाज में वर्चस्व स्थापित करने का प्रतीक मानते हैं। और लड़की को हेय दृष्टि से देखते हैं कि कहीं वह कुल और परंपरा में दाग लगा दे। सदियों से चली आ रही इस परंपरा को तोड़ना आसान नहीं है। मैत्रेयी के जब तीन लड़कियाँ हो जाती है तो उसी के गाँव के लोग अर्थात समाज के ठेकेदार उसके पति का दूसरा विवाह रचाने का प्रयत्न करते हैं। मैत्रेयी का आत्म इसे सोचने पर विवश करता है कि जिसके लिए वह दोषी नहीं है। फिर भी उसे दोषी माना जा रहा है। मैत्रेयी की बेटी उससे जब पूछती है कि आप तो लड़का चाहती थी पर 'मैं' अर्थात लड़की पैदा हो गई तब वह ऐसे अंतर्द्वंद्व में फसती किस तरह बेटी को अपनी दुविधा व्यक्त करे? ''आज सुजाता युवा है, मेरी बात समझेगी क्या मैं अपने जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण कहानी उससे कहूँ? निश्चित ही मैं अपने बचाव के लिए कोई रियायत नहीं माँग रही। यह तथ्य हैरतअंगेज भले ही हो कि लड़के की चाह में गर्भवती होती मैं ही थी मगर है तो सच ही न। इसमें जिन शुभचिंतकों की भूमिका रही, वे बेटी के लिए बेरहम नहीं थे बस, इतना मानते थे कि हमारे घर की नैया का खेवनहार कोई बेटा पैदा नहीं हुआ।''[201] संबंधों की जड़ें इतने गहरे पैठी होती है कि उनके निर्वाह में स्त्रियाँ अपना सर्वस्य समर्पित कर देती है। उन्हें संबंधो का महत्व सर्वोपरि सिखाया जाता है। बेटी, बहन, पत्नी, माँ के दायित्वों का निर्वाह करते-करते वह क्या वास्तव में उन्हें भान ही नहीं रहता। जब कोई अन्य उन्हें यह अनुभव कराता है तो भी वह प्रथम तो उत्तरदायित्व ही रखती है यदि नहीं

रखेंगी तो परिवार और संबंधों की टूटन का कारण बनेगी। तो घर-परिवार और समाज के हित हेतु अपने स्व अपनी निजता का ह्रास कर देती है। वह कहती है कि ''हमारी जैसी औरतें भूल जाती हैं अपना नाम कुल गोत्र और जाति। यही नहीं अपनी नस्ल भी भूलने लगते हैं हम - मैं मिसेज शर्मा के सिवा क्या हूँ बेटा? तेरे पिता की पत्नी - न औरत हूँ न मनुष्य, केवल पत्नी। इसी रूप में तेरे पिता के परिवार में शामिल हूँ। शांत सम्मानित जीवन भी खुद को भूल जाने के कारण मिला हो।''[202]

घर-परिवार और समाज उसकेदाय को तो ग्रहण करना चाहता है पर उसे उसका अधिकार नहीं देना चाहता है। स्व आत्म और पारिवारिक आत्म के साथ-साथ उसका सामाजिक आत्म भी उपेक्षित होता ही रहता है। अर्थात् घर के अंदर भी उत्पीड़न और बाहर भी। स्त्री जिस क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती; पुरुषों के अहम को चोट लगती है कि यह यहाँ कैसे पहुँच गई? लेखिका की कहानी अस्वीकृत केवल इसलिए होती है क्योंकि वह स्त्री है। ''मैं नई-नई लेखिका अपनी रचना की तौहीन से उफन पड़ी। आव देखा न ताव तुरंत आटो-रिक्शा पकड़ा और पत्रिका के कार्यालय जाने की ठान ली। गुस्सा उस पर भी आ रहा था जिस सह या उप संपादक ने अपने दफ्तर का रास्ता बताते हुए भद्दी से ठिठोली की थी। आने का ऐसा आग्रह किया था जैसे अपनी माशूका को मना रहा हो। जरूर ये लोग औरतों को पास बुलाने के लिए रचनाएँ लौटा देते हैं। उफ् जगह-जगह शिकारी बैठे हैं।''[203]

सामाजिक, सांस्कृतिक मान्यताओं की पकड़ इतनी मजबूत है कि उससे निकलने के लिए बड़े दुस्साहस और दृढ़ संकल्प चाहिए। क्योंकि इसकी जड़ें घर-परिवार, समाज में गहरे हैं ही साथ ही स्त्रियों के अंत:मन में गहरे रोप दी गई हैं। जिन्हें उखाड़ फेंकना सर्वप्रथम तो अपने स्वयं में बड़ी बात है। तत्पश्चात समाज का आक्रोश

और विरोध सहने की क्षमता होना नितांत आवश्यक है। लेखिका रूढ़िगत परंपराओं को अस्वीकृत करते ही उसे अपने शिक्षित और आधुनिकता का दावा करने वाले पति का विरोध झेलना पड़ता है।वह कहती है कि ''मैं यह खाका तैयार ही कर रही थी कि घर के मालिक जो रात के चन्द्रमा से थे, मई-जून के सूरज की तरह तपने लगे। ताप और संताप - मैं और दो विवाहित बेटियाँ बहुत मासूम तो नहीं थे, बाकायदा दो अपराधों के गुनहगार - क्रमश: एक तो करवा चौथ व्रत छोड़ चुके थे, दूसरे मैंने कुछ दिन पहले ही बिछिया उतार दिये थे। सुहाग चिह्न काँच की चूड़ियाँ भी रास नहीं आई मुझे।

लेखिका स्त्री का परंपरागत छवि को तोड़ना चाहती है कि वह अबला, छुई-मुई, कमजोर नहीं बल्कि साहस और संकल्प की स्वामिनी है परंतु की सार्थकता तभी है जब वह स्वीकृत हो जाए और उसका यह परिवर्तन अस्वीकृत हुआ। वही कहती है कि यदि मैंने अपने भीतर सुकुमारता को तोड़ न दिया तो सचमुच मं आज मनमोहनी गुड़िया का अनुपम रूप होती -लेकिन मैं सोचकर आश्वस्त होती हूँ कि गुड़िया की छवि तोड़ डालने से ज्यादा मुझे कहीं मुक्ति नहीं। हाँ इस टूटन का रूप अगनपाखी के राख हो जाने जैसा है.....।''[205]

परंपरागत छवि को तोड़ना अर्थात परिवार और समाज से बहिष्कृत हो जाना। बेटी, बहन, पत्नी के दायित्वों का निर्वाह करने के परिणामस्वरूप यह सिला प्राप्त होता है। ऐसा नहीं है कि पुरुष बेटा, भाई, पति और पिता बनकर अपने संबंधों का निर्वाह नहीं करते हैं परंतु न तो वह अपने स्व का विगलन करते हैं और ना ही अपनी पहचान खोते हें। बल्कि उससे उन्हें आत्मसंतुष्टि प्राप्त होती है। वह जो करता है उसका श्रेय उसे दिया जाता है वह अपनी इच्छा का मालिक होता है। स्त्री के साथ ऐसा क्यों नहीं है?

उसके किये को हाशिए पर क्यों रखा जाता है? वह लिखती हैं कि ''तस्वीरों को ढाँप-मूँदकर काम में मन लगा रही थी। रसोई संभाल रही थी कि विचार आता गया - क्या इस घर में मेरा हिस्सा नहीं? क्या किसी हिस्से में मेरा कोना नहीं? 'वर्जीनिया वुल्फ' पर क्या ऐसी ही बीती होगी कि उन्होंने 'अपना निजी कमरा' नाम से पूरी पुस्तक लिख दी। मैं क्या लिखूँ? यही कि मेरी चेतना रोज आहत होती है, घरवाला बेखबर है। मुझे जगह तलाश लेनी चाहिए। मै खानाबदोश जन्मजात अपराधी - जो भी अपनी इच्छा से करूँ, जुर्म लगे।''[206]

स्त्री जिसके लिए सब कुछ त्याग करती है जिसके लिए समर्पित होती है। उसी के विरूद्ध हथियार कैसे उठा लें? उसे नीचा कैसे दिखाए? यह अंतर्द्वंद्व उसे सालता है क्योंकि वह ना ही संबंधों के विश्वास को तोड़ना चाहती है और ना ही वह अपने अन्तरात्मा की पुकार को अनसुना कर देना चाहती है। उसकी स्थिति किसी अधीन के जैसी हो जाती है। ''मेरी जैसी शरणागत स्त्रियाँ शिकार ही होती है, क्योंकि मालिक से वफादारी करते हुए अपनी अंदरूनी भावनाएँ छिपाना भी गुनाह समझती है। लिखते हुए मैं सोचती हूँ सामंती व्यवस्था से लड़ना है, मगर क्या इस स्वामिभक्ति और सदिच्छा के हथियारों से लड़ा जा सकता है? लड़ा जा सकता होता तो डॉ. साहब के मन में मेरे व्यवहार में से बारूद निकाल-निकालकर बम न बन रहे होते कि उनका विस्फोट ऐन उस समय हो जब मेरा आत्म विश्वास जुड़ने लगे।''[207]

पाकिस्तान युद्ध की विभीषिका ने पूरे देश में दंगे-फसाद, मारकाट, हत्या का वातावरण उत्पन्न कर दिया। हिन्दू मुस्लिम के खून का प्यासा और मुस्लिम हिन्दू के खून का प्यासा। धर्म और जाति केनाम पर उत्पीड़न और संघर्ष में सबसे अधिक कहर टूटा स्त्रियों के ऊपर। मैत्रेयी लिखती हैं कि ''असल बात तो यह थी पंजाब से भगाए

गए, खदेड़े गए लोग घायल अवस्था में यहाँ तक जितने पहुँचे, उससे ज्यादा रास्ते में मर गए। आदमी मारे काटे गए तो औरतों की इज्जत लूटी। औरतें कुँओं में गिरी, अपने हाथों अपना गला घोंटा, कुछ मुसलमानों के यहाँ पकड़ ली गयी, कुछ मुसलमान औरतों को हिन्दुओं ने बेइज्जत किया और घरों में बंद कर लिया। वे प्रेगनेंट हई तो मार दी गईं।''[208]

युद्ध की समाप्ति के पश्चात सुख शांति का वातावरण बनने ही पाया था कि पाकिस्तान ने पुन: 1971 में फिर युद्ध छेड़ दिया। फलस्वरूप देश भीतर भी हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य बढ़ा। इन सांप्रदायिक दंगों ने हिन्दू और मुस्लिम को आघात पहुँचाया। अंग्रेजों को शासन, विभाजन युद्ध के कारण देश पर आर्थिक संकट गहराया। वर्तमान सत्ता ने देश को सुदृढ़ बनाने तथा समस्याओं के निवारण हेतु आपातकाल को आवश्यक माना। लेखिका कहती है कि ''आपातकाल की घोषणा हुई। प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने आशंका जताई कि यह युद्ध लंबा चलेगा। यह हमें बरबाद कर सकता है, मगर हम इसे इज्जत से लड़ेंगे।''[209] आपातकालीन स्थितियों ने देश की आंतरिक व्यवस्था को चरमरा दिया। जनता में आक्रोश असंतोष की भावना प्रबल हई। वर्तमान सत्ता देश की स्थितियों को सुधारने में असमर्थ हो रही थी। फलत: इंदिरा गांधी सत्ता से निष्कासित की गई। देश में पुन: चुनाव घोषित हुए और कांग्रेस पार्टी विजयी घोषित हुई। देश की बागडोर पुन: दुस्साहसी और दृढ़ संकल्पी इंदिरा गांधी के हाथा में। लेखिका लिखती हैं कि इंदिरा जी अपूर्व साहस और अपनी विलक्षण क्षमता से देश की सत्ता फिर अपने हाथ में ली। ''सन् 1975 के दौरान भारतीय लोकतंत्र में से ही साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी कट्टर शासक के रूप में दिखाई देने लगी। नियम कानूनों का निर्माता नए सिरे से एक अट्ठाइस साला युवक

बना, जो संयोग से उनका बेटा था। बेटे ने राजनीति की सारी नीतियों को अपनी मुट्ठी में ले लिया। जो कानून अब लागू हो रहे हैं उनका कोई विरोध नहीं कर सकता। जो विरोध करेगा, उनके लिए जेलें तैयार करा दी गई हैं, मीसा जैसे कानून सख्ती से लागू हैं। चार-छ: लोग एक जगह खड़े नहीं हो सकते।''[210]

खानाबदोश कबूतरा जाति जंगलों में रहते हैं और मुख्य रूप से उनके कार्य चोरी, लूटपाट, हत्या, शराब बनाना आदि धंधों में निर्लिप्त रहते हैं। यहाँ तक पैसे लेकर दूसरे के लिए जेल तक काटते हैं। अर्थात भाड़े पर कैदी बन जाते हैं। वह लिखती हैं कि ''पुलिस या शराब के लाइसेंसशुदा ठेकेदार ही कबूतराओं को पीटते हुए गाँव के नजदीक सार्वजनिक रास्ते पर लाते हैं। पता नहीं किस जुर्म में कबूतरा कहा जाने वाला तेल पिए डंडे से, भारी बूटों की ठोकर से पिटता लुढ़कता जनता के आगे तड़पता रहता है।''[211]

अशिक्षित, पिछड़ी जातियों को शोषण का निशाना बनाना सभ्य जातियोंकी प्रथा रही है। कुछ तो ये जातियाँ संस्कारगत कुछ वाह्य समाज के उपेक्षित व्यवहार के कारण इन व्यवसायों में लिप्त होकर अपनी आजीविका चलाते हैं। बर्बर और हिंसक समझने वाली कबूतरा जाति के उत्थान के लिए सरकार ने विमुक्त योजना चलाई जिसका लाभ उन्हें न के बराबर ही प्राप्त हुआ। वह लिखती हैं कि ''1952 में मिले विमुक्त नाम का लाभ जातियों के नाम मात्र के लिए मिला, क्योंकि जिस तरह इन लोगों को अंग्रेजों ने 1871 में अपनी सरकारके तहत जन्मजात अपराधी करार देकर बांधा और 1910 और 1920 में वह बंधन पुन: जाँचा उसी तरह किसानों के समाज में भी इन जातियों की गतिविधियों पर तयशुदा सीमा लागू रही। प्रतिबंध वही था कि वे मनुष्य रूप में

जन्मे लोग मनुष्य की तरह रहने खाने और नित्य क्रियाओं तक की हफ्तेदारी देने की लाचारी उठाते रहते हैं।''[212]

पिंजरे की मैना

'पिंजरे की मैना' चन्द्र किरण सौनरेक्सा कृत आत्मकथा है। जिसका प्रथम संस्करण सन् 2008 ई. में प्रकाशित हुआ। चन्द्र किरण सौनरेक्सा का जन्म आर्य समाजी परिवार में 1920 में हुआ। आत्मकथा दो भागों में विभाजित है पूर्वाद्ध और उत्तरार्ध। पूर्वाद्ध में लेखिका पैतृक वंश का विवरण, बचपन, शिक्षा, साहित्य सृजन, विवाह आदि का अंकन किया गया। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का बचपन आर्यसमाजी संस्कार और शिक्षाकी सीख में बीता। जबकि समाज में अंधविश्वास, रूढ़ियों, छुआछूत, भेदभाव, रीति-रिवाजों का चलन था ''खाने-पीने छुआछूत के संस्कारों की जड़ें तो गहरी थी हीं लड़कियों की शिक्षा के संबंध में भी तरह-तरह के प्रलोभन, आर्य समाजी कार्यकर्ता दिया करते थे। मैं पाँच साल की हो गई थी, घर पर समाज की महिलाएँ आकर समझाती - आपकी बिटिया पाँच साल की हो गयी अब तो इसे पढ़ने भेजिए।''[213] लेखिका के आत्म का विकास शिक्षित और संस्कारपूर्ण वातावरण में होने लगा। बचपन से विलक्षता वरदान रूप में प्राप्त हुई। एक वर्ष में ही दूसरी ओर तीसरी कक्षा उत्तीर्ण की। साहित्यिक रुचि और ज्ञान की पिपासा ने उन्हें बचपन से कई भाषाओं का जानकार बनाया। संवेदनशील लेखिका आस पास घट रही घटनाओं को सूक्ष्मता से देखती, सुनती और अनुभव करती है। उसकी प्रथम कहानी 'अछूत' बहुत छोटी उम्र में प्रकाशित हुई। उसकी शिक्षा उसका लेखन, व्यावहारिक ज्ञान समाज की दृष्टि में खटकने लगा।लोग उसे अपने घर की बहु बनाने से कतराने लगे। उसका आत्म दोहरी मानसिकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। वह अपने व्यक्तित्व को लेकर

चिंतित और लोगों की मानसिकता को परिवर्तित करना उससे भी बड़ी समस्या थी।समाज की दृष्टि में लड़की को लड़के से कमतर ही होना चाहिए बढ़कर नहीं। वह लिखती है कि "मैं उर्दू पढ़ लेती हूँ; मोहल्ले भर के बच्चों के लिए काजल बनाकर बाँटती हूँ। यहाँ तक तो निभा भी जाता शायद - पर सबसे बड़ी गजब यह हो गया कि मेरा नाम अखबार में छप गया। मामूली घरों के लिए मैं एक तेज-तर्रार लड़की हो गयी उनका कहना था, "आपकी लड़की बहुत पढ़ी लिखी है, सारे गुण हैं, बहुत नाम पा लिया है। पर बहु हमारे लड़के के सिर पर पाँव रखकर आवे यह हमें मंजूर नहीं।"[214]

लेखिका का आत्मिक विकास स्व की अपेक्षा पारिवारिक आत्म और सामाजिक आत्म के रूप में अधिक हुआ। वह अपनेको आदर्शवादिता के खाँचे में देखती है। समाज में हो रहे अत्याचार दु:ख दर्द शोषण को भी वह मर्यादित रूप में प्रस्तुत करती है। क्योंकि उसकी सोच की जड़ों में है उसके संस्कार पालन पोषण सुविधा संपन्न, सुरक्षा का भाव जो उसे प्राप्य था। इस सबके कारण उसमें कर्तव्य निष्ठा तो कूट कूट कर भर गई परन्तु आक्रोश, विद्रोह, शोषण को यथार्थ के तराजू पर तौलना नहीं आया। वह कहती है कि "आज मैं जब अपनी मानसिकता का विश्लेषण करती हूँ तो लगता है, मैं मर्यादा और पवित्रता के आर्यसमाजी चश्मे से ही सब कुछ देखती थी। संबंधों की जटिलताओं का, कुरुपता का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। इसलिए बेबाक चित्रण करने में, उस वक्त मेरी लेखनी संकुचित हो गयी।"[215]

लेखिका अपने आपको विपरीत परिस्थितियों में भी अपने आत्मविश्वास और कर्तव्य बोध की सीढ़ी का त्याग नहीं करती, परंतु पति की उपेक्षा और प्रताड़ना उसे अत्यंत दु:ख और पीड़ा देता है विचलित करता है। पति को चन्द्रकिरण की प्रशंसा सहन नहीं होती और वह भाँति-भाँति के उपक्रम करके उसे नीचा दिखाने उसे हीनता

बोध कराता है। इतना शोषित होनेपर भी लेखिका उन संबंधों को खत्म करने का या स्वतंत्र जीवन का ख्याल तक नहीं ला पाती। संबंधों और दायित्वों की पकड़ में वह इस तरह छटपटाती है। ''मैं फिर जिंदगी के दो राहों पर खड़ी थी साधनहीन मित्र व परिजनविहीन। पति परित्यक्ता नारी है यह मैं खूब समझती थी। किंतु गाली खाकर, निर्दोष होने पर भी अविश्वास रूपी धुआँ घर में रहना भी मृत्यु के समान पीड़ादायक था।''[216]

घर परिवार बच्चे नौकरी के जंजाल में उलझी लेखिका अपने स्व के निर्माण, उसकी प्राप्ति, उसका बोध, पहचान को हाशिए पर रख देती है। उसका अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व हो सकता है यह भाव विस्मृत ही कर देती है। निरंतर पति की सेवा के फलस्वरूप मिली उपेक्षा ने उसे हीन भावना से ग्रस्त कर दिया था। जब कांति (पति) के मित्र शैदा हसन ने उससे प्रेम का प्रस्ताव रखा तब मान मर्यादा और संबंधों के महत्व से ओत-प्रोत लेखिका ने बड़ी शालीनता और निर्भीकता से शैदा हसन की दुविधा को दूर किया। वह कहती है ''शैदा! आज तुमने मुझे बड़ी तकलीफ पहुँचाई है। मैंने अपना एक मोहसिन भाई और एक हमदर्द देवर खो दिया। सोचा था -आड़े वक्त में तुमसे मदद की उम्मीद रखते हुए-कभी भी कुछ माँग लूँगी - पर मेरा वह सपना अब टूट गया। असल में, जो तुम्हारे दिल में इस समय जो मेरे लिए जज्बात है वह इश्क नहीं फ़कत हमदर्दी है जो एक मुसीबतजदा औरत से, किसी भी मर्द को हो जाती है।''[217]

इस घटना ने लेखिका के अस्तित्व को पहचानने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मान मर्यादा के बावजूद यह अनुभव होता है कि वह व्यक्तिगत रूप में भी कुछ है। घर परिवार से परे भी उसकी दुनिया है। वह इस बात से इन्कार भी नहीं करती है कि इस घटना ने उसे हीनता के बोध से मुक्त किया। ''कांति जी के आये दिन के प्रेम-प्रसंगों के

कारण, मैं सोचने लगी थी कि मेरे व्यक्तित्व में, गोरे रंग और प्रभावशाली हाव-भाव की है, जो 'ये' सुन्दर स्त्री की ओर आकर्षित हो जाते हैं। शैदा के प्रेम निवेदन ने मुझे, मेरी इस हीन ग्रंथि से मुक्त होने में मदद की - मैं असुंदर नहीं हूँ। पैंतीस वर्ष की आयु में शैदा सदृश्य आकर्षक व्यक्ति को, अपनी ओर आकृष्ट करने की शक्ति है।''[218]

परिवार में अपनी उपेक्षित उपस्थिति के लिए स्वयं को दोषी मानती है। उसे लगता है उसने अपने आपको इतने सीमित दायरे में बांधकर क्यों रखा? वह दबाव सहने को विवश क्यों हुई? उसे यह दु:ख हमेशा टीसता है। ''एक मात्र मौन ही, मेरे दु:ख का साथी था। आज मैं और किसी को नहीं बस स्वयं को इतनी आज्ञाकारी पत्नी होने पर दोषी ठहराती हूँ। और यह कोई गर्व की नहीं, दुख की बात।''[219]

कुशाग्र बुद्धि चन्द्र किरण सौनरेक्सा की आत्मकथा का शीर्षक पिंजरे की मैना उनके आत्म की तड़प और व्याकुलता को दर्शाता है। वह अपने आपको पिंजरे में बंद कैदी की संज्ञा से विभूषित करती है। उतनी ही बेबस उतनी ही लाचार जितना कि वह कैद पंक्षी कि उसके पास उड़ने को पर है पर उड़ न सकती। पारंपरिक सामाजिक मान्यताओं और पुरुषवादी समाज ने उसके पंखों को उड़ान भरनेसे पहले नोंचकर फेंके ही नहीं बल्कि उसे बंद भी कर दिया है। वह कहती है कि ''रह गयी मैं पिंजरे की मैना - खाने पीने, पहनने और कमाने की कोई चिंता नहीं - एक सामान्य लड़की को और क्या चाहिए! पर मेरी पढ़ने, घर-परिवार के अतिरिक्त अन्य विषयों पर व्यक्तियों से चर्चा करने की ललक, हार की चारदिवारी से बाहर की दुनिया देखने की इच्छा मेरे अंत:करण को बेचैन करती रहती।''[220]

आत्मनिर्भर लेखिका अपनी पारिवारिक उपस्थिति से असंतुष्ट और व्यथित है। उसका वैयक्तिक आत्म उसे कचोटता है दुखी करता है कि वह अपना जीवन अपने ढंग

से क्यों नहीं जी पाई और अंतत: उसे अनुभव होता है कि "फलत: मैं न प्रकृति, न प्रवृत्ति और न ही परिस्थिति से - उन्मुक्त सार्वजनिक जीवन व्यतीत कर पायी।"[221]

अर्थात स्त्री का जीवन कभी परिवार के नाम पर कभी समाज के नाम पर कभी इनसे जुड़े संबंधों के नाम पर ही व्याख्यापित किया जाता है किया जाता रहेगा। विरले ही इस परंपरा को खंडित करने का दुस्साहस कर पाते हैं।

लेखिका के बाबा गणेशीवाल ने 1857 के प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन का विद्रोह और अंग्रेजों के दमन से त्रस्त, राजस्थान से लाहौर अपनी जीविका आरंभ कर व्यवसाय स्थापित किया। पिता रामफल की तीसरी पत्नी जानकी चन्द्र किरण की माँ थी। तत्कालीन समाज में विदेशी शासन जनता उसके शोषक और दमनकारी नीतियों से त्रस्त थी। देश की स्वतंत्रता और अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति के लिए सभी एकजुट होकर संघर्ष कर रहे थे। लेखिका का बाल्यकाल इन्हीं विषम परिस्थितियों के बीच गुजरा। "सन् इक्कीस के असहयोग आंदोलन ने देश में तूफान उठा दिया था। स्कूल में, बच्चों ने गाँधी टोपियाँ पहनकर वंदे मातरम् के नारे लगाये। अंग्रेज सरकार ने जुलूसों पर लाठी चार्ज किये, सत्याग्रही जेल गये। बाबू जी सरकारी नौकर थे। सामान्य सुख सुविधा के बीच शांतिपूर्वक जाना चाहते थे। मन में वह देश की स्वतंत्रता भले ही चाहते हैं पर शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार गांधी के अहिंसावादी सत्याग्रह से भारत को आजादी दे देगी इस पर उन्हें विश्वास नहीं था।"[222]

स्त्रियों की शिक्षा व्यवस्था के नाम पर कन्या पाठशाला थी आगे की शिक्षा के लिए ईसाई मिशनरियों के स्कूल थे जहाँ पर हिन्दू बालिकाओं के लिए परंपरागत रूढ़ियाँ आड़े आती थी। यद्यपि माता-पिता उनकी शिक्षा के लिए उतने जागरूक भी नहीं थे। तथापि शिक्षित पिता ने अपनी पुत्री को शिक्षाके लिए प्रेरित किया। जब

लेखिका ने छठी कक्षा उत्तीर्ण की तब असहयोग आंदोलन, नमक आंदोलन, विदेशी वस्तुओं का त्याग आदि क्रांतियों ने अंग्रेजी शासन की नींव हिला दी थी। वह लिखती हैं कि ''सन् इकत्तीस का वर्ष था; गांधी जी का असहयोग आंदोलन पूरे जोश के साथ देश भर में फैला था। स्वदेशी अपनाओ, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करो मंत्र की तरह गूँजता था। मेरठ में भी जुलूस निकलते; विदेशी कपड़ों की होली जलाई जाती। हमारे मँझले भाई किशोरी लाल पूरे तन-मन से समर्पित थे।''[223]

तत्कालीन समय में लड़का या लड़की का विवाह छोटी उम्र में हो जाना साधारण बात थी। माँ की असाध्य बीमारी और पारंपरिक रूढ़ियों ने लेखिका की आगे की शिक्षा पर विराम लगा दिया। छठी कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात उसके विवाह हेतु ''बावू मजबूर हो गये; उन्होंने 'क्रांति' में एक विज्ञापन दे दिया, तेरह वर्षीय मिडिल पास, उर्दू जानने वाली, हारमोनियम बजाने वाली, गृह-कार्य दक्ष वैय कन्या के लिए आर्य समाजी वर चाहिए।''[224]

शिक्षा का अभाव छोटी उम्र में लड़कियों का विवाह परंपरागत रीति-रिवाज, घूँघट आदि की प्रथाएँ राजस्थानी मारवाड़ी समाज में व्याप्त थी। ''उन दिनों रिवाज हतो के बहु अगर आँगन में खड़ीहै और ससुर जेठ कौनो आये गये, तो वहीं आँगने या घूँघट लंबा करिके बैठ जात रहीं, वे चले जात रहे, तब उठके काम करतीं। ऐसन दिन में दुई चार बार हुई जात रहा। जे हमारी सयाम बहादुर की दुलहिन के पेट में बच्चा रहा। आँठवाँ महीना रहा, आँगन में जेन कौन बड़ो मरद घुसो तो, बहु एकदम घूँघट खींच के, धम से बैठी, पर बोझ के कारन गिरि परी वहि दिन बहु के लड़को भयो यपर जन्मते ही मरि गयो।''[225] कैसी-कैसी परंपराएँ और रूढ़ियाँ समाज को अभिशप्त किये थी मनुष्य की जान पर बन जाते हैं ये रीति-रिवाज। एक तरफ देश स्वतंत्रता की ओर

कदम बढ़ा रहा था तो दूसरी तरफ देश का विभाजन का काँटा भी देश वासियों के हृदय को साल रहा था। हिन्दू-मुस्लिम दंगे, वैमनस्य, लूटमार, हत्या, औरतों की इज्जत कुछ भी सुरक्षित नहीं था। मनुष्य को हिकारत की दृष्टि से देख रहा था। वह कहती है कि जनसंघ उन दिनों सक्रिय था। वह मुसलमानों के विरोध में काम कर रहा था। पता चला दिल्ली में; लालकिले में, मुसलमान शरणार्थी जमा हो रहे थे। हमें अपने पड़ोसियों की चिंता थी। कहीं हिन्दू दंगाई तिमारपुर में आ गये तो जो दो चार मुसलमान घर है, उनका वे सफाया कर देंगे। हमने पड़ोसियों से कहा, ''तुम चुपचाप बीबी बच्चों को लेकर लालकिले में चले जाओ - जहाँ सभी इकट्ठा हैं। तुम्हारा रेडियो और कीमती सामान हम अभी रख लेते हैं; फिर मौका देखकर हम खुद सारा सामान तुम्हारे पास पहुँचा देंगे।''[226] बदले की भावना और जाति धर्म के नाम पर मनुष्य मनुष्य के खून क प्यासा हो गया था।

देशवासियों के त्याग और बलिदान की सार्थकता के रूप में देश को वह सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। स्वतंत्रता अर्थात उस समय सबसे बड़ी उपलब्धि। एक शताब्दी के संघर्षका प्रतिफलन थी आजादी। ''धीरे-धीरे सब सामान्य होने लगा। 15 अगस्त 1947 आजादी का दिन भी आया। विभाजन से जख्मी देश ने स्वाधीनता दिवस मनाया। हमारे यहाँ उन दिनों प्रसिद्ध गायक कवि मेहाराज 'मुकुल' ठहरे हुए थे। अपने आँगन में हमने खड़े होकर झंडा फहराया; सबने वंदे मातरम गाया। डेढ़ सौ वर्ष बाद, खंडित भारत को स्वतंत्र देश होने का गौरव प्राप्त हुआ। बाद में भी, कांतिजी और स्वराज ने शरणार्थियों के लिए भोजन, कपड़ा, दवाइयाँ आदि जुटाने में अनथक परिश्रम लगातार किया।''[227]

आजादी के पश्चात शासन की बागडोर देश के हाथों में आ गई। देश सुचारू रूप से कार्यान्वयन हेतु सामाजिक, राजनीतिक, शासनिक परिवर्तन आवश्यक थे। विकास यात्रा की अवधि में व्यवस्थित सरकार चलाने के लिए भर्तियों की पूर्ति आवश्यक थी जिसकी आधारशिला/आरंभ अंग्रेजों ने कर दिया था। वह लिखती है कि स्वाधीनता के पश्चात् सरकारी व्यवस्था को यथावत् चलाने के लिए अंग्रेज अफसरों द्वारा रिक्त किये गये स्थानों की पूर्ति अनिवार्य थी। सिविल और प्रोविंशियल सर्विसेज की परीक्षाओं में बैठने की आयु सीमा बढ़ाकर तीस कर दी गयी थी।

संकट के बादल अभी छंटे नहीं थे। अंग्रेजों की कूटनीति का घाव अभी भरा नहीं था कि पड़ोसी देश चीन ने युद्ध की घोषणा कर दी। देश एक बार पुन: विपत्ति के मुहाने पर खड़ा था। लेखिका कहती है कि ''सन् 62 में चीन का हमला हुआ था; मोरारजी देसाई ने सोने पर कंट्रोल लगाने वाला कानून पास कर दिया। अब जेवर 22 कैरट की जगह चौदह कैरेट के बना करेंगे। सो कानून लागू होने से एक दिन पहले तक, 22 कैरेट के आभूषणों की जबरदस्त बिक्री हुई।''[228]

लगता नहीं दिल मेरा

लगता नहीं दिल मेरा कृष्णा अग्निहोत्री द्वारा कृत आत्मकथा का प्रकाशन सन् 2010 ई. में हुआ। कृष्णा अग्निहोत्री का पालन पोषण शिक्षित पिता और धार्मिक प्रवृत्ति के दादा के बीच हुआ। राजस्थान के इस परिवार पर आर्य समाज का प्रभाव छाया हुआ था। लेखिका का सामाजिक आत्म उसे समाज में घटने वाली धटनाओं और उनके दुष्परिणामों को देखकर कचोटता है। समाज में विधवाओं की स्थिति अत्यंत सोचनीय थी। विधवाओं का रहन-सहन, चाल-चलन उनके कर्तव्य उनके अधिकारों का हनन बड़ी बात नहीं थी। घर हो या बाहर सब उन्हें अपनी संपत्ति समझने लगते थे।

''विधवाओं की जवानी व रूप, जो शायद अभिशाप बन गया था, घर पर आने वाले जवान दामाद, बहनोई, अन्य पुरुष रिश्तेदार जो भी आते,उनके लिए वे खुली सड़क पर पड़ा रुचिकर पकवान थी। दोष खाने वालों का था, पकवानों का इसमें क्या दोष? उनका रुचिकर होना तो गलत नहीं था। यह सब उस समय तो मैं समझ ही नहीं सकती थी, इसलिए केवल सुनी बातों के आधार पर मैं किसे दोष दे सकती हूँ। हाँ जब उनका सौंदर्य स्मरण आता है तो निश्चित ही आकर्षण और भोग का प्राकृतिक संबंध समझ आने लगता है। दोष यदि था तो उन विवाहित पुरुषों का था जो उन पर रिश्तों को अविश्वसनीय बना टूट पड़े।''[229]

जमींदार घराने की माँ ने कभी कार्य नहीं किया। पिता एक महत्वाकांक्षी, कर्मण्य, रोमांटिक आदर्शवादी व्यक्ति। दोनों का एक दूसरे के साथ सामंजस्य न बैठने से माँ का स्वभाव उग्र और चिड़चिड़ा हो गया था। उसकी आँच कृष्णा के बचपन को भी झुलसाती। ''प्रत्येक बात र मुझे डांटा जाता। इतनी बड़ी घोड़ी हो गयी अपने आप नहाओ, अपना फ्राक धोओ, झाड़ू लगाओ, अपने छोटे भाई-बहन को गोदी उठाओं बहलाओ आदि। छोटी सी तकलीफ में भी माँ आपा खो बैठती। उनका गुस्सा बहुत तेज था। पिता से तो कुछ अधिक न कह पाती,मुझे थप्पड़ रसीद कर देती। बेलन फेंक कर मारती। ऐसे ही न जाने किस गलती पर उन्होंने लोहे के चिमटे से मुझे मारा। मेरे अंगूठे का नाखून उखड़ गया।''[230]

जिस प्रकार पुरुषों की आवश्यकताएँ इच्छाएँ और अधिकार है उसी प्रकार स्त्रियों के लिए इनकी अनिवार्यता होती है। पुरुष अपनी तुष्टि का मार्ग खोज ही लेते हैं और यदि स्त्रियाँ अपनी तुष्टि के लिए कदम बढ़ाती है तो तथाकथित समाज उन्हें दोषी क्यों मानने लगता है? लेखिका कहती है कि ''पति से उपेक्षित, नकारी औरत यदि कहीं

तुष्टि पाती है तोवह उसकी अपनी जीवन शैली है। मैं उससे घृणा क्यों करूँ? मैंने तो उन्हें विश्वास व पूरा प्रेम दिया। आखिर अनपढ़ या पढ़ी लिखी कैसी भी सत्री हो, उसकी अनिवार्य शारीरिक, भावनात्मक आवश्यकता तो होती ही है ना।''[231]

आई.पी.एस. अधिकारी की पत्नी होते हुए भी जीवन पर्यन्त अपमान, दु:ख, क्लेश, वेदना, पीड़ा, संताप को ही सहना पड़ा। शराबी और दुराचारी पति की उपेक्षा, मारपीट, गाली गलौज का वातावरण विवाह के पश्चात ही आरंभ हो गया। समाज की दृष्टि में तो उच्च अधिकारी की पत्नी का रुतबा परन्तु उसका अंत:मन तो जार-जार हो रहा था। ''मेरी अपेक्षाएँ, कोमलतर, विश्वास, नए जीवन का अनुभव कसैला हो रहा था। मेरे पति ने पूरे समय में एक भी मधुर या विश्वसनीय वार्तालाप नहीं किया, बस उनके द्वारा आरोपित हुई थी। कच्ची उम्र का सदमा शायद अंदर तक धंस गया था इसलिए सदैव चेहरे पर खिलखिलाते गुलाबी रंग की जगह पीलापन आ गया था।''[232]

पति कितना भी दुराचारी और शोषणकर्ता हो परन्तु पत्नी से यही अपेक्षा की जाती है कि वह सब कुछ भूल कर सामान्यत: अपने दायित्वों और कर्तव्यों का निर्वाह करे। जैसे स्त्री इंसान न होकर बेजान वस्तु है। संवेदाहीन उसे कुछ अंतर नहीं पड़ता उसका आत्म दु:खता नहीं है। जब वह माता-पिता का घर छोड़कर पति के घर आती है तो उसकी भी इच्छाएँ, अरमान, सपने हो सकते हैं लेकिन नहीं उन्हीं से अपेक्षा की जाती है कि वह सती सावित्री बनकर घर की मान मर्यादा बनाए रखें चाहे पति कितने भी पाप करे। ''इस पर यदि लड़की से ही केवल यह आशा की जाए कि वह अनेकों नए व्यक्तियों से समझौता करे, उनकी आदतों-व्यवहार से सामंजस्य बैठाए तो यह स्वाभाविक नहीं। थोड़ी तो इसमें राहत होनी चाहिए कि घर में प्रवेश करते किसी नए सदस्य से ससुराली प्राणी भी थोड़ा सामंजस्य करे। यह क्या कि एकाएक लड़की से

अपनी सारी आदतें, स्वभाव, खान-पान, वेशभूषा सभी में परिवार अपनी अपेक्षानुसार परिवर्तन चाहे? आखिर सारे समझौते, बदलाव की आशा एक तरफ क्यों?''[233]

लेखिका के पति स्वयं तो व्यभिचारी मनुष्यता के नाम पर कलंक। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा मान मर्यादा सब कुछ दांव पर लगाकर पर स्त्री गमन करने वाले। लेकिन हमदर्दी वश कोई अन्य स्नेह रखे तो उनका प्रताड़ना शुरू हो जाता। आखिर वह भी स्त्री है, इंसान है, मनुष्य है और उसे भी प्यार और अपनेपन का संबल चाहिए। वह कहती है कब तक अपनी मन की इच्छाओं को कुचला जा सकता है। ''भावनाओं पर तो प्रतिबंधहो ही नहीं सकता। शरीर पर ही संयम लादा जा सकता है। मैं भी अनिच्छा ही से संयम का भार ढो रही थी, इसलिए इनके उल्टे सीधे आरोप मुझे कभी-कभी तो इतना बौखला देते कि मन करता कैसे भी भागकर किसी भी चाहने वाले की बांहों में ठहर शांति, सुख के कुछ क्षण ही जी लूँ, लेकिन परिवार, समाज, माता-पिता, संतान के अपने घेरे भी तो कुछ कम दृढ़ नहीं होते, इसलिए मैं कछुए की भाँति अपनी भीतरी तड़प को सिकोड़ती ही गई।''[234]

प्रथम विवाह से असंतुष्ट लेखिका ने अपनी खुशियों और सामाजिक सुरक्षा के लिए पुन: जो रास्ता चुना वह पहले से भी अधिक अंधकारमय रहा। अकेली स्त्री का जीवन सामाजिकता की दृष्टि में अशोभनीय और संदेहात्मक स्थिति उत्पन्न् करता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह मुफ्त की वस्तु हो जाती है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति देखना, छूना और पाना चाहता है। यदि वह किसी एक के साथ स्थायी संबंध जोड़ना चाहे तो वहाँ भी संबंधों को वह गरिमा और प्रतिष्ठा मिलेगी इसकी प्रमाणिकता का दावा नहीं किया जा सकता। और यही लेखिका के साथ होता है। ''वहाँ से हटी तो शोषक के कठोर चक्रव्यूह से निकलते-निकलते मैं बेहाल हो गई। जो भी पुरुष आया, उसने शरीर पर

पहले दृष्टि डाली, मदद नहीं दी। अपने तन को बचाते-बचाते मैं थक गई। तन शुद्ध-मन आहत। श्रीकांत ने भी शरीर को ही अधिक चाहा, परंतु कुछ समय तक प्यार दिया और मदद की, भले ही वह नाटकीय ही था, पर अंत में धोखा देकर सबका महत्व घटा दिया। मैं पुन: असुविधाओं व अकेलेपन से लड़ाई लड़ती आगे बढ़ने लगी, निश्चित ही यह दैवी सहयोग था कि मैं जी गई।''[235]

जीवन से जुड़े सारे संबंध लेखिका के लिए बनावटी और निरर्थक रहे। वह अंत तक अपने आपको अकेली पाती है। उसके स्व को कहीं पहचान नहं मिली ना उसे किसी ने समझने की चेष्टा की। उसके भीतरी और बाहरी आत्म का द्वंद्व उसे कचोटता है। बाह्य संबंधों की बलिवेदी पर उसका स्व का आत्म कुंठित हो जाता है। वह कहती है कि ''मेरा जीवन भावनाओं का युद्ध बना हुआ है, मेरे मैं व अहं का प्रदर्शन व्यावहारिक दुनिया में नहीं हो सका। सदा मैं रिश्तों व अपनों के दिए अपमान व अवहेलना से बचने के लिए दहशत की घुटन में जीती आई हूँ।''[236]

लेखिका ने ताउम्र अपनी इच्छाओं और भावनाओं को दमित ही नहीं किया बल्कि उनके दबाव में हमेशा कुंठित भी रही। स्त्री की स्थिति इस पुरुषवादी समाज में दयनीय ही है चाहे वह आत्मनिर्भर आधुनिकता और आत्म बोध से परिचित ही क्यों न हो।

जमींदार घराने की माँ और पिता इंजीनियर। माता और पिता दोनोंएक दूसरे के विपरीत थे। लेखिका के मातृपक्ष पर सामंतवादी प्रवृत्तियों के अनुशेष माँ के रूप में पूर्णत: दृष्टिगोचर होते थे। तीन बहनों में इकलौते मामा की मृत्यु के समय देश की स्थिति बहुत नाजुक थी। वह लिखती है कि ''जिस दिन चन्दर मरे उसी दिन भगत सिंह को फांसी दे दी गई और उत्तर प्रदेश में दंगे भड़क उठे।

कर्फ्यू.....कर्फ्यू..... सारे कार्य ठप्प।

दो दिन की भयाक स्थिति के बाद चन्दर का शव किसी प्रकार पुल से ढकेल गंगा में बहा दिया गया। बहु पत्नीत्व के शौक के तहत एक उत्तम लड़का बलिवेदी पर चढ़ गया!"[237]

चारों तरफ मारकाट, दंगा, फसाद हिन्दू मुस्लिम में तनाव की स्थिति बनी हुई थी। आर्थिक तंगी के कारण बचपन में ही लेखिका अपने माता-पिता को छोड़कर बुआ के पास कानपुर चली गई। अनुशासन प्रिय की शक्ति ने उसके बालमन में दु:ख और भय भर दिया था। लेखिका जब कानपर में थी तब वहाँ का वातावरण दंगों के कारण विषाक्त हो गया था। अपने ही घर में भयभीत होकर लोग रहते थे। ''साम्प्रदायिक झगड़ा फैला - हिन्दू-मुस्लिम मरे, अच्छा नहीं लगा था, वह सब हम लोग छत पर स्टोव रखे - गरम पानी के गंगाल गरम रखते थे। बड़े-बड़े पत्थर और लाल मिर्च का चूर्ण भी तैयार रहता, परंतु झगड़ा मिट गया। शांति से सब पूर्ववत चलायमान हो गया।''[238]

आपसी वैमनस्य के साथ-साथ इंसान इंसान को समझ भी रहा था। आपसी मेल-मिलाप सौहार्द भी बरकरार था। मुस्लिम हिन्दू के हितों के बारे में शुभचिंतक और हिन्दू मुस्लिम की भलाई और सहायतार्थ सदैव तत्पर रहते थे। ''पिताजी के एक मित्र सेठ ने मुस्लिम लड़की से विवाह करने का अपना विचार प्रकट किया तो पिता के साथ पूरी गणेशतलाई के हिन्दू साथ हो गये। कुछ मुस्लिम संप्रदाय के व्यक्ति अवश्य अवश्य विरोध में थे, परंतु उस मुहल्ले के अधिकांश व्यक्तियों ने कोर्ट से मुकदमा जीता। फरीदा बेगम सेठानी बनी। उनका विवाह आर्य समाज में धूमधाम से संपन्न हुआ। मिठाई मैंने भी खाई थी। अपने पिता की सक्रियता देखकर मेरा नन्हा मन भी खुश था। मुहल्ले की एकता उल्लेखनीय थी। हिन्दुओं ने मुस्लिम कन्या को बहु रूप में सहर्ष स्वीकारा।''[239]

देश की राजनीति और स्वतंत्रता आंदोलनों मे पिता की सक्रियता रही क्योंकि स्वतंत्रता आंदोलन का बिगुल बज चुका था। देश के सभी राज्य, राजनीतिक दल, पार्टियां क्रांतिकारी, नेता सभी अपने-अपने स्तर से सहयोग कर रहे थे। लेखिका लिखती हैं कि ''स्वतंत्रता संग्राम छिड़ रहा था। हमारे शहर में भी राजनीतिक दल थे। मंडलोई जी राजनीति पर हावी रहे, पूरी तरह उनकी तानाशाही थी। उनका विरोधी शहर में पनप नहीं सकता था।''[240]

पिता की राजनीतिक गतिविधियों में भागीदारी ने कृष्णा के मन में भी राष्ट्रीय भावना का संचार किया। लेखिका भी देश के स्वतंत्रता आंदोलन में अपना योगदान देने के लिए तत्पर हुई। ''मेरा वश चलता तो मैं भी जेल चली जाती, अंग्रेजोंसे लड़-भिड़ लेती, लेकिन हुआ उलटा कि जब अंग्रेज युद्ध में जीते तो मुझे 'वी फॉर विक्टरी' नाम कविता किसी कार्यक्रम में गाना पढ़ी जो शायद ही सुनाई पड़ी होगी।''[241]

विभाजन की त्रासदी ने हिन्दू मुस्लिम के बीच ऐसी विभाजन रेखा खींच दी थी कि चाहते हुए भी परिस्थितियां सामाय नहीं हो पा रही थी। पाकिस्तान में बसे मुस्लिम यहाँ के मुस्लिमों को हेय दृष्टि से देखते थे। आवागमन की सुविधा बंद कर दी गई। एक बार अगर कोई पाकिस्तान गया तो पुन: आना असंभव हो गया। लेखिका कहती है कि ''यद्यपि हमारा घर इमलीपुरा के मुस्लिम बस्ती के नजदीकी नुक्कड़ पर था। तब भी मुझे एक भी ऐसी घटना नहीं याद, जिसमें कानपुरी साम्प्रदायिकता वाली दहशत रही हो। खंडवा साम्प्रदायिकता का शायद अर्थ ही नहीं जानता था। कर्फ्यू जैसे शब्द का अर्थ इस शहर के लोग समझते ही नहीं थे।

आयशा पाकिस्तान चली गई। जिस तारीख व वर्ष में वह वहाँ गई, उस समय के लोगों को भारत ने वापस आने की अनुमति नहीं दी गई। मेरे पिता ने भी एड़ी चोटी का जोर लगाया, परंतु आयशा वापस न आ सकी।''[242]

माँ हीरामणि और पिता रामचन्द्र तिवारी की पुत्री कृष्णा अग्निहोत्री का पूरा जीवन संघर्षमय रहा। शिक्षित और आत्मनिर्भर होने के उपरांत भी लेखिका अंतर्द्वंद्वों का शिकार रही और जीवन के अंतिम मोड़ तक उनसे छुटकारा नहीं मिला। ''संसार के कटघरे में मुझसे पूछे बिना वर्षों पूर्व मुझे खड़ा कर दिया गया था। हाँ मैं लड़खड़ाई, झुकी गिरी और खड़ी हुई। मेरे इस खड़े होने, झुकने-गिरने की साक्षी वे सब घटनाएँ हैं, जो मेरे पास, आसपास से गुजरती आ रही हैं.....इनका दबाव मुझे रूलाता-कलपाता, हंसाता रहा है।''[243] स्त्रियाँ अपने आत्म को मुख्यत: तीन रूपों में व्यक्त करती हैं जो परिस्थितियों और संदर्भों के संदर्भ में भिन्न रूपों में परिवर्तित होते हैं। स्त्री आत्मकथाकार तत्कालीन समय से अनभिज्ञ न होकर उसके सहभागी रहे।

संदर्भ

1. http://sudha2626yahoo.com
2. as above
3. as above
4. सीमन्तनी उपदेश - सं. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, द्वितीय सं. 2004, पृ.सं. 104
5. वही, पृ.सं. 89
6. वही, पृ.सं. 41

7. वही, पृ.सं. 42

8. वही,पृ.सं. 52

9. वही, पृ.सं. 50

10. http://gadyakosh.org - जगदीश्वर चतुर्वेदी

11. http://sudha2626yahoo.com

12. सीमन्तनी उपदेश - सं. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, द्वितीय सं. 2004, पृ.सं. 84

13. वही, पृ.सं. 60

14. वही,पृ.सं. 67

15. वही, पृ.सं. 71

16. वही, पृ.सं. 79

17. वही, पृ.सं. 90

18. वही, पृ.सं. 90

19. सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे - हंस, 2004

20. वही, पृ.सं. 34

21. वही, पृ.सं. 39

22. वही, पृ.सं. 42

23. वही, पृ.सं. 431

24. वही, पृ.सं. 50

25. वही, पृ.सं. 651

26. वही, पृ.सं. 751

27. सरला एक विधवा की आत्म जीवनी - सं. प्रज्ञा पाठक, पृ.सं. 72

28. वही, पृ.सं. 34

29. वही, पृ.सं. 13

30. स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प - रोहणी अग्रवाल, पृ.सं. 66

31. वही, पृ.सं. 849

32. वही, पृ.सं. 42

33. वही, पृ.सं. 41

34. वही, पृ.सं. 46

35. वही, पृ.सं. 57

36. वही, पृ.सं. 74

37. मेरी जीवन यात्रा - जानकी देवी बजाज, पृ.सं. 19

38. वही, पृ.सं. 4

39. वही, पृ.सं. 21

40. वही, पृ.सं. 44

41. वही, पृ.सं. 54

42. वही, पृ.सं. 79

43. वही, पृ.सं. 134

44. वही, पृ.सं. 12

45. वही, पृ.सं. 15

46. वही, पृ.सं. 17

47. वही, पृ.सं. 18

48. वही, पृ.सं. 31

49. वही, पृ.सं. 50

50. वही, पृ.सं. 64

51. वही, पृ.सं. 113

52. वही, पृ.सं. 174

53. वही, पृ.सं. 3

54. जो कहा नहीं गया - कुसुम अंसल, पृ.सं. 27

55. वही, पृ.सं. 27

56. वही, पृ.सं. 30

57. वही, पृ.सं. 107

58. वही, पृ.सं. 200

59. वही, पृ.सं. 209

60. वही, पृ.सं. 212

61. वही, पृ.सं. 41

62. वही, पृ.सं. 62

63. वही, पृ.सं. 89

64. वही, पृ.सं. 90

65. वही, पृ.सं. 205

66. वही, पृ.सं. 179

67. बूँद बावड़ी - पद्मा सचदेव, वाणी प्रकाशन, प्र.सं. 1999, पृ.सं. 113

68. वही, पृ.सं. 125

69. वही, पृ.सं. 127

70. वही, पृ.सं. 191

71. वही, पृ.सं. 230

72. वही, पृ.सं. 234

73. वही, पृ.सं. 231

74. वही, पृ.सं. 30

75. वही, पृ.सं. 36

76. वही, पृ.सं. 45

77. वही, पृ.सं. 52

78. वही, पृ.सं. 74

79. वही, पृ.सं. 93

80. वही, पृ.सं. 90

81. कुछ कही कुछ अनकही - शीला झुनझुनवाला, प्रका. - टी.पी. झुनझुनवाला फाउंडेशन, पृ.सं. भूमिका से

82. वही, पृ.सं. 8

83. वही, पृ.सं. 155

84. वही, पृ.सं. 168

85. वही, पृ.सं. 334

86. वही, पृ.सं. 352

87. वही, पृ.सं. 355

88. वही, पृ.सं. 2

89. वही, पृ.सं.16

90. वही, पृ.सं. 20

91. वही, पृ.सं. 40

92. वही, पृ.सं. 254

93. वही, पृ.सं. 295

94. वही, पृ.सं.342

95. कस्तूरी कुण्डल बसै - मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2002, पृ.सं. 9

96. वही, पृ.सं. 18

97. वही, पृ.सं. 26

98. वही, पृ.सं. 59

99. वही, पृ.सं.61

100. वही, पृ.सं. 77

101. वही, पृ.सं. 85

102. वही, पृ.सं. 308

103. वही, पृ.सं. 10

104. वही, पृ.सं. 11

105. वही, पृ.सं. 12

106. वही, पृ.सं. 13

107. वही, पृ.सं. 26

108. वही, पृ.सं. 30

109. वही, पृ.सं. 112

110. वही, पृ.सं. 297

111. सतरें और सतरें - अनीता राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2002, पृ.सं. 20

112. वही, पृ.सं. 21

113. वही, पृ.सं. 22

114. वही, पृ.सं. 23

115. वही, पृ.सं. 30

116. वही, पृ.सं. 31

117. वही, पृ.सं. 37

118. वही, पृ.सं. 37

119. वही, पृ.सं. 51

120. वही, पृ.सं. 73

121. वही, पृ.सं. 111

122. वही, पृ.सं. 112

123. वही, पृ.सं. 119

124. वही, पृ.सं. 131

125. वही, पृ.सं. 17

126. वही, पृ.सं. 17

127. वही, पृ.सं. 20

128. वही, पृ.सं. 25

129. वही, पृ.सं. 39

130. हादसे - रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2005, पृ.सं. 18

131. वही, पृ.सं. 17

132. वही, पृ.सं. 26

133. वही, पृ.सं. 53

134. वही, पृ.सं. 21

135. वही, पृ.सं. 52

136. वही, पृ.सं. 79

137. वही, पृ.सं. 250

138. वही, पृ.सं. 17

139. वही, पृ.सं. 62

140. वही, पृ.सं. 19

141. वही, पृ.सं. 20

142. वही, पृ.सं. 29

143. वही, पृ.सं. 177

144. वही, पृ.सं. 185

145. दिल्ली में उनींदे - गगन गिल, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्र.सं. 2006, पृ.सं. VIII

146. वही, पृ.सं. 20

147. वही, पृ.सं. 18

148. वही, पृ.सं. 22

149. वही, पृ.सं. 77

150. वही, पृ.सं. 79

151. वही, पृ.सं. 104

152. वही, पृ.सं. 144

153. वही, पृ.सं. 152

154. वही, पृ.सं. 166

155. वही, पृ.सं. 15

156. वही, पृ.सं. 32

157. वही, पृ.सं. 45

158. वही, पृ.सं. 50

159. वही, पृ.सं. 98

160. वही, पृ.सं. 95

161. वही, पृ.सं. 123

162. वही, पृ.सं. 125

163. वही, पृ.सं. 135

164. अन्या से अनन्या - प्रभा खेतान,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2007, पृ.सं. 26

165. वही, पृ.सं. 29

166. वही, पृ.सं.45

167. वही, पृ.सं. 9

168. वही, पृ.सं. 176

169. वही, पृ.सं. 210

170. वही, पृ.सं.212

171. वही, पृ.सं. 17

172. वही, पृ.सं. 49

173. वही, पृ.सं. 60

174. वही, पृ.सं. 64

175. वही, पृ.सं. 160

176. वही, पृ.सं. 181

177. वही, पृ.सं. 190

178. वही, पृ.सं. 238

179. वही, पृ.सं. 239

180. वही, पृ.सं. 245

181. एक कहानी यह भी - मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2007, पृ.सं. 11

182. वही, पृ.सं. 32

183. वही, पृ.सं. 32

184. वही, पृ.सं. 37

185. वही, पृ.सं. 51

186. वही, पृ.सं. 60

187. वही, पृ.सं. 118

188. वही, पृ.सं. 159

189. वही, पृ.सं. 171

190. वही, पृ.सं. 193

191. वही, पृ.सं. 225

192. वही, पृ.सं. 17

193. वही, पृ.सं. 23

194. वही, पृ.सं. 24

195. वही, पृ.सं. 26

196. वही, पृ.सं. 70

197. वही, पृ.सं. 132

198. वही, पृ.सं. 137

199. वही, पृ.सं. 157

200. गुड़िया भीतर गुड़िया - मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008, पृ.सं. 14

201. वही, पृ.सं. 93

202. वही, पृ.सं. 130

203. वही, पृ.सं. 187

204. वही, पृ.सं. 243

205. वही, पृ.सं. 246

206. वही, पृ.सं. 286

207. वही, पृ.सं. 297

208. वही, पृ.सं. 38

209. वही, पृ.सं. 78

210. वही, पृ.सं. 88

211. वही, पृ.सं. 261

212. वही, पृ.सं. 268

213. पिंजरे की मैना - चन्द्र किरण सौनरेक्सा, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008, पृ.सं. 55

214. वही, पृ.सं. 117

215. वही, पृ.सं. 162

216. वही, पृ.सं. 222

217. वही, पृ.सं. 315

218. वही, पृ.सं. 316

219. वही, पृ.सं. 317

220. वही, पृ.सं. 152

221. वही, पृ.सं. 381

222. वही, पृ.सं.

223. वही, पृ.सं. 83

224. वही, पृ.सं. 103

225. वही, पृ.सं. 230

226. वही, पृ.सं. 230

227. वही, पृ.सं. 244

228. वही, पृ.सं. 350

229. लगता नहीं दिल मेरा - कृष्णा अग्निहोत्री,सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, प्र.सं. 2010,पृ.सं. 16

230. वही, पृ.सं. 21

231. वही, पृ.सं. 85

232. वही, पृ.सं. 99

233. वही, पृ.सं. 112

234. वही, पृ.सं. 130

235. वही, पृ.सं. 289

236. वही, पृ.सं. 350

237. वही, पृ.सं. 11

238. वही, पृ.सं. 27

239. वही, पृ.सं. 24

240. वही, पृ.सं. 49

241. वही, पृ.सं. 50

242. वही, पृ.सं. 70

243. वही, पृ.सं. 10

पंचम अध्याय

साहित्य की विविध विधाओं के संदर्भ में आत्मकथा विधा का वैशिष्ट्य

साहित्य की विधाएँ जैसे उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी, निबंध, आलोचना के साथ-साथ कुछ नवीन विधाएँ जैसे जीवनी, दैनंदिनी, रिपोर्ताज, रेखाचित्र तथा आत्मकथा विधा अपने स्वरूप और सूक्ष्म विवेचन दृष्टि के कारण आधुनिक पाठक को सम्मोहित कर रही है। इन सभी विधाओं में यदि जीवन के सबसे समीप कोई विधा है तो वह है आत्मकथा। आत्मकथा में यथार्थ दृष्टि, तथ्य वर्णन, अभिव्यक्ति कौशल, प्रत्यक्षीकृत अनुभवों को यथातथ्य स्मृति के पुनरावलोकन के दर्पण में सत्य की उपस्थिति में अभिव्यक्त किया ही नहीं जाता बल्कि उनका विवेचन और विश्लेषण भी किया जाता है।

आत्मकथा विधा की श्रेष्ठता का मूल्यांकन करने के लिए हमें अन्य सहधर्मी विधाओं की भिन्नता का विश्लेषण करना आवश्यक होगा। विहंगम दृष्टि डालें तो बाह्य रूप से सभी विधाएँ एक समान दृष्टिगोचर होती है। परन्तु सूक्ष्म रूप से सभी विधाओं में भिन्नता का भाव विद्यमान है।

आत्मकथा और उपन्यास

आत्मकथा जीवन की निकटस्थ विधा है जबकि उपन्यास व्यक्ति और सामाजिक घटनाओं का उत्प्रेरित रूप। आत्मकथा में व्यक्ति स्वयं अपने बारे में लिखता है। स्वयं के द्वारा, स्वयं के लिए स्व की कथा कही जाती है। प्रथम तो आत्मकथा स्वयं के हेतु ही सृजन है। कालांतर में वह दूसरों की जिज्ञासा प्रेरणा एवं पथ-प्रदर्शन का माध्यम बनती है। ''उपन्यास के मुकाबले आत्मकथा बेहद जोखिम भरा चुनौतीपूर्ण कार्य होते हुए भी

अपनी असीम सीमाओं में घिरा है। वह क्षितिजों को देख सकता है, क्षितिजों को छूने और उनके पार की दुनिया का अंग होने की छूट नहीं ले सकता; वह बहते वक्त में जी सकती है, वक्त को बदलने का दावा नहीं कर सकता, वह अतीत को उलट-पलटकर विश्लेषित करते हुए भविष्य का खाका तो खींच सकता है, भविष्य के निर्माण में सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकता।"[1] उपन्यास सामाजिक घटनाओं, मानसिक उद्वेलनों और व्यक्ति की क्रियाओं को आधार बनाकर कल्पना के झरोखों से निकली रचना है। अर्थात मनुष्य और समाज के कार्य व्यापार का संकलिपत रूप उपन्यास में दर्शित होता है। "कल्पित और काफी लंबी कहानी जिसमें प्राय: बहुत से पात्र हों तथा जीवन की विविध जीवन बातों का चित्रण हो।"[2] मुख्य घटना के कई अन्य घटनाओं, मुख्यपात्र के साथ कई अन्य सहयोगी पात्र ही उपन्यास की आधारशिला हैं। उपन्यास में उद्देश्य, घटनाएँ, चरित्र चित्रण, परिवेश तथा शिल्प का होना आवश्यक है।

1. आत्मकथाकार आत्मकथा में स्वयं चरित्र निर्माता है। केवल वह दृष्टिकोण को उद्घाटित करता है। उपन्यास में उपन्यासकार चरित्र, चित्रण, घटनाओं की प्रस्तुति के लिए पूर्णत: स्वतंत्र है।
2. आत्मकथाकार अपने भोगे हुए यथार्थ को उसी शब्दावली या लेखन शैली में जस का तस अभिव्यक्त करता है। उसे कलात्मक बनाने के लिए अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता है। उपन्यास में कल्पित विषय वस्तु के आधार पर उपन्यासकार भाषा और संवादों का चयन करता है जिसमें भाषा और संवाद ही उपन्यास को सार्थकता दिलाने में अहम भूमिका निभाते हैं। इसके लिए उसे अतिरिक्त प्रयास करना पड़ता है।

3. आत्मकथा में उद्घाटित सत्य से ही यथार्थ का आकलन हो पाता है। आत्मकथाकार से जुड़ी घटनाएँ, द्वंद्व तथा परिवेश की प्रमाणिकता सिद्ध होती है। जबकि उपन्यास में उपन्यासकार पूर्णत: स्वतंत्र है। वह घटनाओं को, परिस्थितियों को तत्कालीन समयानुसार जोड़ तोड़ कर सकता है उसमें परिवर्तन ला सकता है।
4. आत्मकथाकार चाहकर भी अपना संपूर्ण जीवन व्याख्यायित नहीं कर सकता है। जन्म और मृत्यु की घटनाओं के अनुभव से वह वंचित रहता है जबकि उपन्यास में व्यक्ति का आद्योपान्त वर्णन संभव है।

अत: आत्मकथा और उपन्यास एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है क्योंकि जहाँ आत्मकथा में सत्य की अनिवार्यता है वहीं उपन्यास कल्पित विषय या वास्तविक घटनाओं को कल्पना और कलात्मक अभिव्यंजना के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

आत्मकथा और कहानी

आत्मकथाकार और कहानी में संबंध यह है कि आत्मकथा स्व की कथा है आत्म की कथा है। कहानी उपन्यास का ही संक्षिप्त या छोटा रूप है। कहानी व्यक्ति विशेष या घटना विशेष की कथा है। ''कहानी उपन्यास के ढंग की छोटी रचना प्राय:एक ही घटना या परिस्थिति को लेकर लिखी गयी हो; मन से गढ़ी, उपजायी हुई बात।''[3]

1. आत्मकथा में सत्य का चित्रण आवश्यक है उसके लिए आत्मकथाकार बाध्य है जबकि कहानी सत्य घटना पर भी हो सकती है और कल्पित विषय पर भी लिखी जा सकती है।

2. आत्मकथा अपने स्वरूप में व्यापक फलक लिए हुए होती है क्योंकि लेखक जन्म से लेकर जीवन के अंतिम पड़ाव तक के अपने अनुभवों को व्यक्त करता है। कहानी का आकार छोटा होता है क्योंकि यह घटना विशेष या व्यक्ति विशेष के किसी एक अंग को रूपायित करती है।
3. आत्मकथा महान व्यक्ति या लोकप्रिय व्यक्तियों की होती है। आत्मकथाकार या लेखक तभी आत्मकथा लिखता है जब उसे यह लगता है कि मेरा जीवन अन्यों के लिए प्रेरक हो सकता है और जीवन का लगभग अधिकांश भाग जी लेने के पश्चात भोग लेने के पश्चात ही लिखता है। जिसमें एकाग्रता और तीव्रता के स्थान पर जिज्ञासा का भाव अधिक रहता है। कहानी लेखक किसी भी उम्र में लिख सकता है। कहानी मन की विशेष स्थिति के भावों का अंकन है जिसमें एकाग्रता और तीव्रता का भाव रहता है।
4. आत्मकथाकार विषय चयन की दृष्टि से स्वतंत्र नहीं है जबकि कहानी में विषय की विविधता रहती है। जिससे स्तरीय और स्तरविहीन दोनों हो सकती है, प्रभावपूर्ण या सतही भी हो सकती है।

अत: आत्मकथा और कहानी में आकार तथा विषय चयन दोनों दृष्टि से अंतर है। आत्मकथा के लिए प्रामाणिकता का विशेष महत्व है। कहानी प्रमाणिक तथा कल्पित दोनों विषयों पर लिखी जा सकती है।

आत्मकथा और डायरी

आत्मकथा लेखक के संपूर्ण जीवन का विवेचन है। डायरी लेखक सदैव वर्तमान से ही जुड़ा रहता है अर्थात दिन दिन का विवरण है। गद्य साहित्य में इसीलिए इसे दैनंदिनी या दैनिकी भी कहते हैं। गद्य की दोनों विधाओं का विकास नवीन

चेतनाओं का प्रतिफलन है। इन दोनों में लेखक अपने गुण दोषों का वर्णन करता है। ''डायरी वह पुस्तिका जिसमें दैनिक कार्यों का विवरण हो।''[4]

1. आत्मकथा में क्रमबद्धता पूर्वापर संबंध और नैरंतर्य बोध आवश्यक होता है। डायरी के लिए न तो क्रमबद्धता न पूर्वापर संबंध और ना ही नैरंतर्य बोध की आवश्यकता है। डायरी प्रत्येक दिन की घटनाओं को लेखक स्वतंत्र रूप से लिखता है।
2. आत्मकथा जीवन के तीसरे पड़ाव पर या आत्मकथाकार का परिपक्व होना आवश्यक है। जीवनानुभव का बाहुल्य आवश्यक है। डायरी के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं। डायरी निरंतर गतिमान होती है।
3. आत्मकथा की सृजन प्रक्रिया अतीत से कुछ विशिष्ट प्राप्त करने के पश्चात आरंभ होती है। डायरी में विशिष्टता की शर्त अनिवार्य नहीं, यह लेखक के साथ-साथ अग्रसर होती है।
4. आत्मकथा में हृदय ग्राहिता, प्रभावपूर्णता, रसानुभूति व संवेदना डायरी की अपेक्षा अधिक रहती है।
5. आत्मकथा एक साथ जीवन का बोध कराती है जबकि डायरी की अपनी सीमा है वह संपूर्ण जीवन का बोध करने में अक्षम है।
6. आत्मकथा का उद्देश्य स्व से अधिक दूसरों तक सम्प्रेषण होने में है। डायरी स्व के दैनिक चर्या मात्र हो सकती है।
7. आत्मकथा क्षणिक भावावेश में लिखी गयी रचना नहीं बल्कि सुनियोजित ढंग से आकार दिया जाता है। जबकि डायरी क्षणिक भावावेश या विशिष्ट परिस्थितियों में लिखी होने से भूल-चूक या दोषमुक्त भी हो सकती है।

8. आत्मकथा विधा में घटनाओं का चुनाव और प्रस्तुतिकरण महत्वपूर्ण है। डायरी में घटनाओं का चयन और प्रस्तुति का महत्व नगण्य है जो दिन भर में घटित होता है उसे डायरी में अंकित कर दिया जाता है।
9. आत्मकथा स्वयं साध्य है तो डायरी साधन मात्र है।

अत: आत्मकथा और डायरी दोनों के लेखक स्वयं होते हैं, परंतु अन्य दृष्टियों से भिन्नता की उपस्थिति रहती है। आत्मकथा और डायरी का संबंध माला और मोती का संबंध है। अगर डायरी मोती है तो आत्मकथा माला है। सर्वोत्कृष्टता तो माला के रूप में ही प्राप्त होती है।

आत्मकथा और जीवनी

आत्मकथा स्वयं के द्वारा लिखा गया जीवन साक्ष्य है। जीवनी किसी अन्य का जीवन साक्ष्य है। किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर किसी अन्य की जीवन गाथा है। आत्मकथा "एक सूक्ष्म अंतर कदाचित यह है कि आत्मचरित्र कहलाने वाली रचना किंचित विश्लेषणात्मक और विवेक प्रधान होती है।"[5] जीवनी "किसी व्यक्ति विशेष के जीवन वृत्तांत को जीवनी कहते हैं।"[6]

1. आत्मकथा एक व्यक्ति की एक ही होती है उसके खंड हो सकते हैं। परंतु जीवनी एक व्यक्ति कई हो सकती है। कई लोग एक ही लेखक या रचनाकार की जीवनी लिख देते हैं।
2. आत्मकथा में आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता होती है। यह अंतरमुखी होते हैं जबकि जीवनी में आत्माभिव्यक्ति की संभावना ही नहीं है जीवनी बहिर्मुखी होती है।

3. आत्मकथा में आत्मकथाकार को अपने निजी जीवन के अनुभवों तटस्थ भाव से गुण दोषों का विवेचन किया जाता है। जीवनी में प्रसिद्ध महापुरुषों का जीवन चरित्र लिखा जाता है।
4. आत्मकथा में जो भी वर्णन होता है वह सत्य होता है परंतु जीवनी में कई बार ऐसा होता है कि जीवनीकार किसी पूर्वाग्रह, श्रद्धा और प्रेम के कारण नायक के गुणों को अधिक महत्व देने लगता है। भिन्न-भिन्न जीवनीकारों की प्रतिपादन शैली, प्राप्त किये गये प्रमाण भिन्न हो सकते हैं, जिससे एकमत होना संदेहगत है।
5. आत्मकथाकार आत्मकथा का भोक्ता होता है, जीवनीकार दृष्टामात्र होता है।
6. आत्मकथाकार के लिए तादात्म्य सहज और स्वयं सिद्ध होता है। जीवनीकार को नायक के साथ तादात्म्य के लिए तत्पर रहना पड़ता है।
7. आत्मकथा में आत्म के विश्लेषण और विवेचन का मुख्य स्थान रहता है जबकि जीवनी में इन तथ्यों का अभाव रहता है।
8. आत्मकथा हमेशा स्तरीय होती है क्योंकि इसके लेखन का साहस तो विरले ही करते हैं जबकि जीवनी तो कोई भी लेखक लिख सकता है। अपने सच की स्वीकृति अर्थात् गुण-दोषों को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करना सभी के लिए उतना सहज नहीं होता है। अन्यों का सच जगजाहिर करने में तो प्रतिस्पर्धा रहती है।
9. आत्मकथा आत्मकथाकार के प्रति जिज्ञासा को तीव्र करती है। उसके बारे में जानने के लिए प्रेरित करती है। अत: प्रेरक की भूमिका अदा करती है। जीवनी की प्रामाणिकता अन्य पर निर्भर होने से यह भाव कम रहता है।

जीवनी और आत्मकथा के अंतर को स्पष्ट करते हुए वेद प्रकाश कहते हैं कि ''जीवनी लेखक पूरी कोशिश करते हैं कि केवल प्रमाणिक बातें ही लिखी जाएं लेकिन एक तो, जीवनी की निरंतरता बनाए रखने के लिए जीवनी-लेखक अपनी ओर से भी कुछ जोड़ता चलता है। दूसरे वह चाहे कितने भी तथ्य इकट्ठे कर ले, अंतत: वह द्वितीय स्रोतों से आई जानकारी ही होती है, ऊपर से लेखक को रोचकता बनाए रखने के लिए घटनाएं और संवाद भी जोड़ने पड़ते हैं। जीवनियों से जहाँ एक ओर लेखक के मानसिक विकास और प्रेरकों को जानने का मौका मिलता है, वहीं तत्कालीन समाज को जानने का मौका भी मिलता है। जीवनियों मे प्रामाणिकता के आग्रह और संभव विवादों से बचने के लिए लेखकों ने आत्मकथाएँ लिखना शुरू किया। आत्मकथा लेखक जहाँ तथ्यों के बारे में जीवनी लेखकों के मुकाबले अधिक जानकार होता है वहीं वह अपने अंदरूनी विकास पसंद-नापसंद से भी भली भाँति वाकिफ होता है। इसलिए आत्मकथा की प्रमाणिकता अधिक मानी जाती है। इनमें तथ्यों के प्रस्तुतिकरण के जरिए अपनी बात कहने की कोशिश की जाती है और इस कोशिश में कथा शैली का इस्तेमाल किया जाता है, इसीलिए इन्हें कथा कहा गया है - आत्मकथा।''[7]

अत: आत्मकथा और जीवनी के लेखक भिन्न होते हुए भी कुछ समानताएँ परिलक्षित होती है। जीवनी से आत्मकथा विधा की विशिष्टता आत्माभिव्यक्ति, विश्लेषण की प्रवृत्ति, सत्य का अंकन आदि से स्पष्ट होती है।

आत्मकथा और रिपोर्ताज

रिपोर्ताज फ्रांसीसी शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है रिपोर्ट या रपट। सूचनार्थ घटना विशेष का विस्तृत वर्णन। रिपोर्ताज शब्द रपट शब्द को साहित्यिक रूप से परिभाषित करने के लिए किया गया। ''किसी घटना, समारोह आदि का अपनी विशिष्ट

आंतरिक प्रतिक्रियाओं सहित दिया गया साहित्यिक विवरण।"[8] हिन्दी साहित्य में इसे प्रसंग चित्र भी कहते हैं। किसी घटना, प्रसंग वस्तु का आँखों से देखा हुआ या कानों से सुना हुआ वृत्तांत रिपोर्ताज कहलाता है। कुशल पत्रकार या लेखक इसमें अपना बुद्धि कौशल, वाक्पटुता और कल्पना का संयोजन कर इसे और भी सम्प्रेषणीय बनाते हैं।

1. आत्मकथा अंत: प्रमाण होती है वहीं रिपोर्ताज बहिप्रमाण होता है।
2. आत्मकथा में आत्मपरक विवेचन मुख्य है जबकि रिपोर्ताज आत्मेतर चित्रक मुख्य होता है।
3. आत्मकथा में घटना, विषय-वस्तु आदि के वर्णन में आत्म कथाकार स्वतंत्र नहीं होता है। यथातथ्यों का विश्लेषण करते हुए आत्मकथा लिखता है। रिपोर्ताज में लेखक घटना विषय वस्तु को स्रोत रूपेण ग्रहण तो करता है परन्तु उसकी प्रस्तुति में उसका दृष्टिकोण स्वतंत्र होता है। लेखक उसे आवश्यकतानुसार सनसनीखेज, मनोरंजक त्रासद बनाता है।
4. आत्मकथा में व्यक्ति के जीवन संघर्ष लेकर अवसाद, द्वंद्व, विद्रोह आदि की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है। रिपोर्ताज में इन तथ्यों का सर्वथा अभाव रहता है।
5. आत्मकथा में पाठक की जिज्ञासा शांत होती है संबंधित व्यक्ति के बारे में जानकर। परंतु रिपोर्ताज में जिज्ञासा शांत होना लेखक की प्रतिभा पर निर्भर करता है।
6. आत्मकथा में तथ्यों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखने की संभावना नगण्य रहती है। रिपोर्ताज में अतिश्योक्ति हो सकती है। अतिश्योक्ति आत्मकथा का विरोधी गुण है।

7. आत्मकथा की सार्थकता उसके तटस्थ आत्मविवेचन और विश्लेषण में निहित होती है। रिपोर्ताज की सफलता सूक्ष्म दृष्टि और लेखन की एकाग्रता पर निर्भर करती है।

अत: आत्मकथा और रिपोर्ताज में अनेक भेद विद्यमान है। आत्मकथा में जहाँ यथातथ्य वर्णन होता है वहीं रिपोर्ताज में लेखक तथ्यों को घटनाओं को सनसनीखेज, मनोरंजक बना देता है। आत्मकथा के लिए आत्मिक विश्लेषण अनिवार्य है। रिपोर्ताज में विश्लेषण की शर्त अनिवार्य नहीं है।

आत्मकथा और रेखाचित्र

रेखाओं द्वारा किसी व्यक्ति वस्तु या दृश्य का बनाया गया चित्र अर्थात रेखाचित्र है। साहित्यिक क्षेत्र में शब्दों के द्वारा किसी वस्तु, व्यक्ति या दृश्य का अंकन करना, जिससे पाठक के मन में एक चित्र या छवि उभर आये। उसे शब्द चित्र या रेखाचित्र कहा जाता है। "किसी व्यक्ति या वस्तु का केवल रेखाओं से बना हुआ चित्र; व्यक्ति, स्थान, दृश्य आदि का शाब्दिक आकलन।"[9] रेखाचित्र गद्य की नवीन विधाओं में से एक है।

1. आत्मकथा में कल्पना का कोई स्थान नहीं होता है जबकि रेखाचित्र कल्पना प्रधान होता है। रेखाचित्र में भाव, बुद्धि तथा कल्पना तत्व का सम्मिश्रण रहता है।
2. आत्मकथाकार अपने चरित्र का उद्घाटन यथास्थिति और यथातथ्य अर्थात जस का तस करता है। भावों की उद्वेगों की द्वंद्वात्मक स्थितियों की अभिव्यक्ति लेखक को अनिवार्य रूपेण करती है। यदि नहीं करता है तो आत्मकथा सतही होती है। रेखाचित्रकार व्यक्तित्व की रेखाओं को उभार देने के लिए कोई भी विधि अपना

लेता है ऐसा वह कहीं व्यंग्यात्मक, कलात्मक और सजीवता लाने के लिए करता है।

3. आत्मकथा में विश्लेषण की प्रधानता होने से तथ्यात्मकता का बोध होता है। रेखाचित्र में भावुकता की प्रधानता होने से सजीवता का बोध होता है और ऐसा आभास होता है कि घटना वस्तु व्यक्ति का आँखों के आगे चित्र रूप में उभरने लगता है। आत्मकथा में जीवन कथा को व्यापक विस्तार मिलता है तो रेखाचित्र में लाक्षणिकता तथा लघुता की आवश्यकता होती है।
4. आत्मकथा की लेखन शैली विवरण प्रधान तथा व्याख्या प्रधान होते हैं जबकि रेखाचित्र में शब्द संयोजन का अधिक महत्व है। उसकी भाषा शैली का नपा-तुला होना अत्यंत आवश्यक है।
5. आत्मकथा में घटनाओं की अधिकता होने से भराव की स्थिति उपस्थित होती है। रेखाचित्र में घटनाओं का न होना ही अपेक्षित है जिससे भराव की संभावना नहीं रहती है। उसका आकार उसके नामानुसार ही रहता है।
6. आत्मकथा में आत्मकथाकार के जीवन की लगभग समग्रता होती है। रेखाचित्र पूर्ण चित्र नहीं होते हैं। वह किसी विशिष्ट केन्द्र पर ही विशेष प्रकाश डालता है।
7. आत्मकथा का नायक प्राय: ख्यात वृत्त (प्रतिष्ठित, विदित) होता है। रेखाचित्र का नायक बहुधा अख्यात वृत्त् (अविदित) होता है।
8. आत्मकथा में आत्मचित्रण होता है जबकि रेखाचित्र में आत्मेतर चित्रण मुख्य होता है।

अत: आत्मकथा और रेखाचित्र एक दूसरे से पूर्णत: भिन्न विधाएँ हैं। आत्मकथा में आत्मचित्रण विश्लेषण प्रधान होता है। रेखाचित्र में आत्मेतर चित्रण, काल्पनिक भाव से वस्तु और व्यक्ति का चित्र या छवि उभारी जाती है।

आत्मकथा और यात्रावृत्तांत

आत्मकथा तथा यात्रा वृत्तांत दोनों ही आत्मपरक एवं तथ्यपरक विधाएँ होने के कारण समरूपता दर्शित होती है। यात्रा वृत्तांत किसी भी व्यक्ति के द्वारा देश-विदेश में किये गये अनुभवों का प्रमाणिक वर्णन होता है। अपितु यह वर्णन कुछ दिनों, कुछ महीनों और कुछ वर्षों का होता है। इसकी समय सीमा है।

1. आत्मकथा में आत्म भाव जबकि यात्रा वृत्तांत में लेखक यात्रा के विवरण में ही निर्लिप्त रहता है।
2. आत्मकथा लेखक आत्मोन्मुख रहता है और यात्रा साहित्य में लेखक बहिर्मुख होता है। बाह्य दृश्यों, घटनाओं और विषयों में अधिक व्यस्त रहता है।
3. आत्मकथा में व्यक्तित्व का वर्णन, विश्लेषण, विवेचन और निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति आवश्यक है। यात्रा वृत्तांत लेखक के जीवन के यात्रानुभवों की अभिव्यक्ति आवश्यक है।
4. आत्मकथा के वर्ण्य विषय में व्यक्ति केन्द्र में होता है। यात्रा साहित्य में वर्ण्य विषय में लेखक के यात्रा स्थान जहाँ भी उसकी उपस्थिति हुई है। अर्थात वर्णन यात्रा के साथ चलता है इससे भटकाव की संभावना रहती है।
5. आत्मकथा लेखक को स्मृत-कोष का आश्रय लेना पड़ता है, तो यात्रा वृत्तांत लेखक को दैनंदिन प्रत्यक्ष का।

6. आत्मकथा लेखक अतीत की गहराइयों में डूबकर लिखता है तो यात्रा वृत्तांत लेखक वर्तमान की नाव में हिचकोले खाता है।
7. आत्मकथा के भीतर अगर ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं तो यात्रा वृत्तांत में भूगोल का ज्ञान परिलक्षित होता है।

अत: आत्मकथा और यात्रा साहित्य के लेखक एक होते हैं। दोनों में ही प्रत्यक्षीकृत दृश्यों, घटनाओं तथा उनके प्रति निजी प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है भेद इतना है। आत्मकथा में इन सबके साथ आत्मकथाकार का आत्म किस रूप में सम्बद्ध है।

आत्मकथा और संस्मरण

आत्मकथा तथा संस्मरण दोनों विधाएँ व्यक्ति के जीवन की निकटता व्यक्त करती है। संस्मरण लेखक के जीवन के अनेक विचारों, अनुभवों, घटनाओं और दृश्य चित्रों से भरा रहता है। संस्मरण का आधार अतीत जीवन की कतिपय (कई कुछ) अविस्मरणीय स्मृतियाँ होती है। ''स्मृति के आधार पर किसी विषय या व्यक्ति के संबंध में लिखित लेख या ग्रंथ (रेमिनिसेंसेज)''

1. आत्मकथा केवल एक ही होती है। संस्मरण आत्मपरक तथा अन्यपरक होते हैं। आत्मपरक संस्मरण में संक्षिप्त और विस्तृत और भिन्नता का आभास होता है।
2. आत्मकथा लेखक अपने जीवन की कथा का वर्णन विश्लेषण करता है। परिस्थितियों और घटनाओं की उपस्थिति केवल जीवन से सम्बद्धता व्यक्त करती है। संस्मरण में लेखक स्वानुभूति का रस डालकर उस वर्णन को कलात्मक और प्रभावकारी बनाता है।

3. आत्मकथा लेखन विषयगत कम विषयीगत अधिक होता है। संस्मरण लेखन विषयगत प्रधान होता है। उसमें निजता का अभाव स्पष्ट होता है।
4. आत्मकथा व्यक्ति के जीवन का संपूर्ण (जन्म और मृत्यु छोड़कर) चित्र होती है। संस्मरण व्यक्ति के जीवन का खण्ड चित्र प्रस्तुत करता है।
5. आत्मकथा में व्यक्ति के जीवन संघर्ष की गाथा का आभास होता है। संस्मरण कभी वैचारिकता लिए हुए निबंधात्मक होते हैं। कभी भावना प्रधान होने से कलात्मक होते हैं।

अत: आत्मकथा और गद्य की अन्य विधाएँ- उपन्यास कहानी, डायरी, जीवनी, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, यात्रा वृत्तांत एवं संस्मरण का संबंध स्थूल रूपेण डालने पर समरूप दिखाई देती है। परन्तु सूक्ष्म रूपेण दृष्टिपात करने पर अंतर स्पष्ट होता है।

आत्मकथा व्यक्ति के जीवन की संघर्ष गाथा है। आत्मगाथा में सत्य की अनिवार्यता को आवश्यक मानते हुए कृष्णा अग्निहोत्री कहती है कि "मैं कृष्णा अग्निहोत्री वल्द रामचन्द्र तिवारी गीता की कसम खाकर कहती हूँ कि जो कहूँगी, सच कहूँगी। कचहरी में तो व्यक्ति कठघरे में खड़ा कसम खाकर झूल जाता है, परंतु आत्मा का कठघरा बड़ा तीखा है, वहाँ व्यक्ति अपरिवर्तित रहता है, और मैं भी दिन-रात कभी-कभार मुखौटे लगाने के बावजूद अपनी आत्मा के तईं निर्वस्त्र ही रहूँगी। रात विश्राम की घड़ी में दिन-भर के छल प्रपंच भूल अपने आपको निश्चित ही नंगा अनुभव कर पुन: अपनी उसी आत्मा के समक्ष नैसर्गिक रूप में उपस्थित हो रही हूँ।"[10] सत्य का प्रतिपादन आत्मकथा को जीवंत बनाता है। जीवन से जुड़ी घटनाएँ जब सत्य के तराजू पर तौलकर अभिव्यक्ति पाती है तो आत्मकथा की विशिष्टता की द्योतक हो जाती है। चन्द्र किरण सौनरेक्सा कहती है कि "मैंने पीड़ाओं को देखा और जिया है। यही जीवन

का सत्य आत्मसात होकर मेरे लेखन का आधार बने।''[11] आत्मकथा और उपन्यास में जहाँ आत्मकथा में सत्य की अनिवार्यता है वहीं उपन्यास में कल्पित विषय या वास्तविक घटनाओं को उत्प्रेरक के रूप में सम्मिलित कर कल्पना और कलात्मक अभिव्यंजना के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। अर्थात आत्मकथा में कल्पना का रंचमात्र भी समावेश नहीं होता है। आत्मकथा और कहानी में आत्मकथा का फलक व्यापक होता है और कहानी का आकार छोटा होता है। कहानी घटना विशेष या व्यक्ति विशेष के किसी एक अंग को रूपायित करती है। कहानी और आत्मकथा की विशिष्टता सिर्फ इस तथ्य पर अवलम्बित है कि कहानी दूसरों की और आत्मकथा अपने जीवन की कहानी है। अपनी कहानी और दूसरों की कहानी में अंतर स्पष्ट करते हुए मन्नू भंडारी कहती हैं कि ''दूसरों की कहानियाँ रचते समय मुझे अपनी कल्पना की उड़ान के लिए पूरी छूट रहती थी, जिसके चलते मैं उनकी जिंदगी से जुड़ी घटनाओं को जितना चाहती काटती छाँटती, बदलती बढ़ाती रहती थी।''[12] अर्थात दूसरों से जुड़ी घटनाओं की कहानी के सृजन के लिए कल्पना की उन्मुक्त उड़ान आवश्यक है परन्तु आत्मकथा के लिए या अपनी कहानी कहने के लिए कल्पना एक निषेधात्मक तत्व होती है। मन्नू भंडारी कहती है कि "अपनी कहानी लिखते समय सबसे पहले तो मुझे अपनी कल्पना के पर ही कतर कर एक ओर सरका देने पड़े, क्योंकि यहाँ तो निमित्त भी मैं ही थी और लक्ष्य भी मैं ही। यहाँ न किसी के साथ तादात्म्य करने की अपेक्षा थी न संभावना। यह शुद्ध मेरी ही कहानी है और इसे मेरा ही रहना था, इसलिए न कुछ बदलने-बढ़ाने की आवश्यकता थी, न कांटने-छांटने की। यहाँ मुझे केवल उन्हीं स्थितियों का ब्योरा प्रस्तुत करना था, वो भी जस का तस, जिनसे मैं गुजरी- दूसरे शब्दों में कहूं तो जो कुछ मैंने देखा, जाना, अनुभव किया, शब्दश: उसी का लेखा-जोखा है

यह कहानी।"[13] कहानी में कल्पना का समावेश होता और आत्मकथा में बिल्कुल नहीं।

आत्मकथा और डायरी के बीच आत्मकथा में एक साथ जीवन का बोध प्रभावपूर्ण ढंग से होता है। डायरी अपनी सीमा है उसमें दिन-दिन की घटनाओं का वर्णन होता है। अर्थात वह संपूर्ण जीवन को बोध कराने में अक्षम होती है। आत्मकथा स्वयं साध्य और डायरी मात्र साधन है। आत्मकथा में आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता होती है और जीवनी की आत्माभिव्यक्ति की संभावना नगण्य है। आत्मकथा एक व्यक्ति की एक ही होती है। उसे भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं लिख सकते हैं जबकि एक ही व्यक्ति की जीवनी कई लोग लिख सकते हैं। जिसमें प्रमाणिकता खतरे होते हैं। जीवनी की प्रमाणिकता जीवनी लिखने की उपलब्ध सामग्री, सूचनाएँ, बौद्धिक क्षमता, प्रस्तुतीकरण आदि पर अवलम्बित होती है। आत्मकथा के लिए प्रमाणिकता को आवश्यक तत्व मानते हुए प्रभा खेतान कहती है कि "स्पष्ट रूप से लिखी गई आत्मकथा का अपना महत्व है। इतना भी जानती हूँ कि उपन्यास से अधिक दिनों तक आत्मकथा जीवित रहती है। किसी भी आत्मकथा में एक में है जो प्रमाणिक रूप से अपनी यात्रा कर रहा है, जिसे खारिज करना किसी के लिए संभव नहीं - पाठक भी इस विशिष्टता को, विशेष व्यक्तित्व को पहचानता है।"[14] आत्मकथा का अभाव आत्मकथा के अस्तित्व को सतही बना देता है। कृष्णा अग्निहोत्री कहती है कि "जीवन भर लू लपटों के थपेड़े झेलने के बावजूद आत्मा निश्चित ही इन सबसे प्रभावित नहीं होती.....मैं मुक्त मन से उसके सामने अपनी बात को विश्वसनीयता एवं प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत कर सकती हूँ।"[15]

आत्मकथा और रिपोर्ताज के संबंध में देखें तो आत्मकथा आत्मपरक और रिपोर्ताज आत्मेतर कृति है। आत्मकथा तथ्यपरक तो रिपोर्ताज अतिश्याक्ति की संभावना से ग्रस्त है। आत्मकथा और रेखाचित्र के संदर्भ में आतमकथा में विश्लेषण की प्रधानता तो रेखाचित्र में भावुकता की प्रधानता होती है। आत्मकथा में व्यक्ति के लगभग जीवन की समग्रता तो रेखाचित्र संपूर्ण चित्र नहीं होते हैं। आत्म का विश्लेषण आत्मकथा को श्रेष्ठ बनाता है। मैत्रेयी पुष्पा कहती हैं कि "जो तत्व किसी आत्म कथा को श्रेष्ठ बनाता है वह है उन अंतरंग और लगभग अनछुए अकथनीय प्रसंगों का अन्वेषण और स्वीकृति जो व्यक्ति की कहानी को विश्वसनीय और आत्मीय बनाते हैं।"[16] आत्म विश्लेषण की प्रक्रिया आत्मकथा को सार्थकता दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। आत्मकथा के लिए इन तथ्यों के अलावा ईमानदारी शर्त भी अनिवार्य है। आत्मकथाकार जीवन के तथ्यों का अंकन करते समय ईमानदारी का निर्वाह करे। यदि वह अपने स्वयं से बेइमानी करता है तथ्यों और घटनाओं को यथातथ्य या बढ़ा-चढ़ाकर लिख देता है तो आत्मकथा बनावटी और कल्पित होने का आभास देगी। कुसुम अंसल कहती है कि "आत्मकथ्य अपने आपको वस्तु रूप में देखने का एक अनुभव है जिसमें किसी भी प्रकार का चकाचौंध कर देने वाली कौध नहीं होती, शायद इसलिए भी कि ईमानदारी से किये हुए किसी भी कार्य में सच्चाई जितनी भी हो, बहुत बार थ्रिल नहीं भी होता, क्योंकि जब हम संबंध बना लेते हैं और उन संबंधों के आधार पर जीवन जीते समय जिन विश्वासों और शक्तियों को प्राप्त कर लेते हैं, वे मृत्यु के समय तक नष्ट नहीं होती।"[17]

आत्मकथा और यात्रा वृत्तांत के संदर्भ में आत्मकथा में जीवन तो यात्रा वृत्तांत में यात्रा वर्णन होता है। आत्मकथा में आत्मकथाकार अतीत की गहराइयों से वर्तमान

को मापता है। यात्रा वृत्तांत लेखक वर्तमान की नाव में हिचकोले खाता है। आत्मकथा और संस्मरण के संदर्भ में आत्मकथा लेखक अपने जीवन की कथा का वर्णन विश्लेषणात्मक विधि से करता है इससे प्रमाणिकता की पुष्टि होती है। संस्मरण में लेखक स्वानुभूति का रस डालकर वर्णन को कलात्मकता का आवरण पहना देता है। ''आत्मकथा के स्वरूप में एक लोकोन्मुख बहस होती है। वह अपनी प्रकृति से ही अभिजात्य का विरोधी है। इसका कारण यह है कि वह अपने अंतर्मन का निश्छल उद्घाटन करता है। आत्मकथा लेखक अपने जीवन के अति व्यक्तिगत को सार्वजनिकता प्राप्त कराता है और पुन: उस सार्वजनिकता से निजता को प्राप्त कर लेने का अपूर्व आनंद प्राप्त करता है।'' आत्मकथा में व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मिक पक्ष के द्वंद्व को अभिव्यक्त करता है। जो किसी और विधा में संभव नहीं है। इसमें कार्यकारण का संबंध विश्लेषित होता है। यह विधा व्यक्ति के वास्तविक संसार को प्रस्तुत करती है। आत्मकथा की विशिष्टता को सुनील विक्रम सिंह अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं कि ''अकाल्पनिक गद्यवृत्त के अंतर्गत आत्मकथा सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है।'' आत्मकथा लेखक समाज विशेष का अंग होने के कारण उस समाज और वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जिसका वह अंग है। अपनी कथा कहते हुए वह उन सबकी अनकही कहता है जो वंचित है। उसकी आत्माभिव्यक्ति एकल न होकर समूह या वर्ग की अभिव्यक्ति बनती है। ''आत्मकथा का 'आत्म' संकीर्ण आत्म-तत्व तक ही नहीं रहता है, उसका विस्तार पूरे समाज में होता है। 'आत्म' की निर्मित, उसे रूप देने का काम समाज ही करता है इसलिए कोई भी आत्मकथा लेखक की मात्र निजी कथा नहीं होती वरन् वह 'आप बीती' के साथ 'जग बीती' की भी कथा होती है। इस तरह आत्मकथा लेखक की सर्जनात्मकता का निखरा हुआ साक्ष्य बनती है।'' अर्थात

आत्मकथा 'मैं' की कथा न होकर 'हम' की कथा है। आत्मकथा विधा एक ऐसा माध्यम है जिसमें व्यक्ति अपने जीवन को पुन: जीने के साथ-साथ विश्लेषित करता है अर्थात सुधार की गुंजाइश और सीख की प्रवृत्ति अवश्य प्रस्तुत होती है। आत्मकथाएँ व्यक्ति के जीवन का इतिहास प्रस्तुत करने के साथ-साथ समाज का इतिहास भी प्रस्तुत करती है। व्यक्ति की भूली-बिसरी स्मृतियों का रचनात्मक प्रस्तुतीकरण आत्मकथा विधा के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। ऐसी अनेकों विशेषताएँ इस विधा गद्य की अन्य विधाओं की तुलना में श्रेष्ठता दिलाती हैं।

संदर्भ

1. किले को तोड़ती औरतें - रोहिणी अग्रवाल, हंस पत्रिका, पृ.सं. 255, संपा. राजेन्द्र यादव, वर्ष 2004, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
2. बृहत हिन्दी कोश - संपा. कालिका प्रसाद, पृ.सं. 174, सप्तम संस्करण 1992, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी
3. वही, पृ.सं. 233
4. वही, पृ.सं. 300
5. हिन्दी साहित्य कोश - भाग 1, पृ.सं. 98 , संपा. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी
6. बृहत हिन्दी कोश - संपा. कालिका प्रसाद, पृ.सं. 305, सप्तम संस्करण 1992, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी
7. खरे अनुभव का दस्तावेज - वेद प्रकाश - समयांतर पत्रिका, जून 2011/41, संपा. पंकज विष्ट, समयांतर प्रकाशन, दिल्ली

8. बृहत हिन्दी कोश - संपा. कालिका प्रसाद, पृ.सं. 959, सप्तम संस्करण 1992, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी
9. वही, पृ.सं. 966
10. लगता नहीं दिल मेरा - कृष्णा अग्निहोत्री, पृ.सं. 9, प्र.सं. 2010, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली
11. पिंजरे की मैना - चन्द्र किरण सोनरेक्सा, पृ.सं. 6, प्र.सं. 2008, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली
12. एक कहानी यह भी - मन्नू भंडारी, पृ.सं. 7, प्र.सं. 2007, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
13. वही, पृ.सं. 8
14. अन्या से अनन्या - प्रभा खेतान, पृ.सं. 255,प्र.सं. 2007, राजकमल प्रकाश्न, नई दिल्ली
15. लगता नहीं दिल मेरा - कृष्णा अग्निहोत्री, पृ.सं. 9, प्र.सं. 2010, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली
16. कस्तूरी कुण्डल बसै - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. आवरण, प्र.सं. 2002, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
17. जो कहा नहीं गया - कुसुम अंसल, पृ.सं. 13, प्र.सं. 1996, राजपाल एंड संस, दिल्ली

उपसंहार

आधुनिक युग में गद्य की विभिन्न विधाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ है। प्राचीन काल में मानव की भावनात्मक प्रवृत्ति उसके संपूर्ण जीवन तथा कार्यों पर स्पष्ट परिलक्षित होती है जिसके कारण वह कविता की ओर आकर्षित होता गया। चाहे वह सृजन का क्षेत्र हो या पठन का। इसलिए काव्य की एक सुदीर्घ परंपरा अपना प्रभाव जमाये रही। इस भावनात्मक प्रवृत्ति को आधुनिक यंत्र युग की बौद्धिकता तथा वैचारिकता ने अपनी उपस्थिति से प्रभावित किया। परिणामत: गद्य की परंपरागत विधाओं - नाटक, उपन्यास, कहानी और निबंध के व्यापक प्रसार के साथ-साथ संस्मरण, रिपोर्ताज, दैनन्दिनी, रेखाचित्र, जीवनी और आत्मकथा को जन्म दिया। प्राचीन काल में मानव अपने आत्मोत्थान हेतु सचेष्ट तो था परंतु आत्मप्रसार और आत्मप्रचार की लालसा से विमुक्त रहा।

साहित्यकार के आत्मोत्थान की चेष्टा उसकी रचना प्रक्रिया के मूल में ही समाहित रही। इसका कारण आत्मकथा का समय सापेक्ष में विकसित न होना। परंतु वर्तमान समय में आत्मकथा साहित्य शनै:-शनै: विकास की ओर अग्रसर तथा अकाल्पनिक गद्यवृत्त के अंतर्गत सर्वाधिक लोकप्रिय विधा के रूप में गतिमान हो रहा है। आत्मकथा शब्द दो शब्दों के युग्म से बना है - आत्म और कथा। इनमें आत्म तत्व तो निश्चित सा ही है, कथा तत्व विशिष्ट और व्याख्या सापेक्ष है। भारतीय साहित्यकारों ने आत्मकथा के लिए अपनी कृतियों के अन्य उपनाम भी दिये। जैसे आत्मगाथा, आत्मबीती, आत्मचरित, निज वृत्तांत, आत्मवृत्त, मेरी कहानी, आत्मविश्लेषण, आत्मजीवनी और अपनी कहानी इत्यादि शीर्षक भी प्रयुक्त किये। आत्मकथा की सृजन प्रक्रिया के निर्धारणार्थ जहाँ स्मृति, संस्कार, सत्य, स्वाध्याय और साहस कारकों

को आवश्यक माना गया वहीं आत्मकथा के तत्वों में वर्ण्य विषय, पात्र, उद्देश्य, देशकाल, संवाद तथा भाषा शैली को समाहित किया गया है। भारत में आत्मलेखन की परंपरा प्राचीन काल से होते हुए संस्कृतकाल, पालिकाल, अपभ्रंशकाल तक आरंभिक अवस्था या बीजाकुंरण के रूप में दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी साहित्य इतिहास में आत्मकथा का आरंभ सन् 1641 ई. में जैन कवि बनारसीदास कृत ब्रजभाषा में 'अर्द्धकथानक' से माना गया। इसका प्रकाशन सन् 1942 ई. में हुआ।

आधुनिक काल में गद्य के विकास तथा आत्मकथा लेखन की अनुकूल परिस्थितियां जैसे - धार्मिक चेतना, जनजागरण, क्रांतिकारी आंदोलन, राजनैतिक आंदोलन, जेल जीवन का अवदान, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियां तथा विदेशी प्रभाव आदि ने उत्पन्न की। इसलिए आत्मकथा का क्रमिक विकास आधुनिक काल में पूर्णरूपेण संभव हो सका। इस काल में क्रांतिकारी, देशभक्त, समाज सुधारक, राजनेता, लेखक, आलोचक, चिंतक आदि व्यक्ति विशेष वर्ग ने अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी।

स्त्री आत्मकथा लेखन के संदर्भ में विभिन्न भारतीय भाषाओं में आत्मलेखन कथाएँ लिखी गई। मराठी में रमाबाई रानाडे द्वारा सन् 1910 ई. में आमच्या आयुष्यांतील कांही आठवणी से लेकर अब तक की आत्मकथाओं में स्त्रियों ने बिना किसी लाग-लपेट, दुराव-छिपाव के अपनी यथागत वास्तविकताओं से, कथनों से सोचने पर विवश किया है कि उनकी इस स्थिति का दोषी कौन? इसके साथ ही अन्यों को प्रेरक करती ये आत्मकथाएँ कि अब मौन या चुप्पी का समय नहीं है और यदि अब चुप रही तो उत्पीड़न और शोषण कम होने की अपेक्षा बढ़ता ही जाएगा। बंग्ला स्त्री आत्मलेखन का आरंभ सन् 1876 ई. में राससुंदरी देवी कृत 'आमार जीबन' से माना गया। सन् 1912 ई. में 'विनोदिनी दासी' की 'आमार कोथा' छत्तीस वर्ष पश्चात

प्रकाशित हुई। सन् 1913 ई. में देवी शरदा सुन्दरी की आत्मकोथा, सन् 1913 ई. में ही निस्तारिणी देवी की 'शेई काले', सन् 1923 ई. में रमा बंदोपाध्याय की आत्मकथा जीवनी 'काछे थेके देखा' से लेकर प्रसन्न्मयी देवी की पूर्व कोथा, अमियबाला की डायरी (1929), दक्षिणा सेन की 'जीवन स्मृति' (1932), प्रतिभा बसु की 'जीवनेर जलछवि' की आत्मकथा सन् 1993 ई. में प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त मीरादेवी, कमला दास, तहमीना दर्शनी, तसलीमा नसरीन, बेबी हलदार की आलो आंधारि आदि आत्मकथाएँ स्त्री जीवन की त्रासदियों की साक्ष्य है। अपनी स्पष्ट बयानी और तर्कशीलता के कारण बंगाल के सामाजिक जीवन और उसमें स्त्रियों की स्थिति का विश्लेषण करने में ये स्त्री आत्मकथाएँ पूर्णतया सक्षम हैं।

पश्चिम में स्त्री आत्मकथा लेखन का आरंभ सन् 1438 ई. में एक अंग्रेजी स्त्री मार्गे केम्प के द्वारा रचित 'द बुक ऑफ मार्गे केम्प' से माना गया। इस आत्मकथा में यूरोप तथा एशिया के स्थानों तथा पवित्र तीर्थों का वर्णन किया गया। मार्गेकेम्प से पूर्व Dame Julian of Norwich की आत्मकथा A Shewing of gods love एक लघु किताब/पुस्तक सन् 1372 ई. में प्रकाश में आई। मार्गे केम्प के पश्चात प्रथम धार्मिकेतर आत्मकथा Margareit Cave की The relation of Birth Breeding and life. हेलेन केलर की सन् 1903 ई. में द स्टोरी ऑफ माई लाइफ, वीरा फिगनर की सन् 1920 ई. में मेमोरिस ऑफ ए रिव्योल्यूनिस्ट, एवजेमिया एस जिम्नवर्ग, केट मिलेट कार्डिनियल मेरी, एलिस कोलर, एन ओकले आदि आत्मकथाएँ स्त्रियों के प्रतिष्ठित व्यक्तित्व जैसे आंदोलन कर्ता, आध्यापक, पत्रकार, समाजसुधारक आदि रूपों को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। अमेरिका में हजारों स्त्री आत्मकथाएँ वहीं के जनजीवन तथा स्त्रियों के प्रति भेदभाव को दर्शाती है। आस्ट्रेलिया में Sally Morgam की My

place, Jackie huggins की Auntie Rita's story, Alice Nannup की when the pelican laughed आदि आत्मकथाएँ वहाँ की श्वेत जाति के द्वारा मूल जाति के शोषण और उत्पीड़न की कहानी कहती है।

स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं के लेखन में वैचारिक स्तर पर भिन्नताओं की अभिव्यक्ति दोनों के सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश की भिन्नता की उपज है। पुरुष जहाँ अपनी आत्माभिव्यक्ति में सही आकार, सही पूर्णता और पूर्ण से विकसित स्व को महत्व देते हैं वहीं स्त्री आत्मकथा लेखन में नाना प्रकार का वैविध्य उनकी जीवन शैली तथा अन्य के साथ संबंधों के कारण उत्पन्न होता है। पुरुषों की आत्मकथाओं में आत्मबद्धता और वैयक्तिक केन्द्रीयता के भावों की अभिव्यक्ति होती है और स्त्रियों की आत्मकथाओं में समुदाय के शोषण, संघर्ष, यातना, पीड़ा, तथा दमन की अभिव्यक्ति होती है। स्त्रियाँ अपने आत्म को स्व को मुख्यत: तीन रूपों में निरूपित करती है - पारिवारिक आत्म, सामाजिक आत्म और निजी आत्म। मुख्य आत्म समय परिस्थिति और संबंधों के अनुरूप अन्य कई स्त्री आत्मों में परिवर्तित होकर आत्मकथा की विषय वस्तु बनते चले जाते हैं। आत्मकथाओं में आत्म वैविध्य की अभिव्यक्ति ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारणों की उपस्थिति पर निर्भर करती है। इतिहास स्त्रियों को मौन की सीख देता है यदि बोला तो सिर धड़ से अलग। जीवन की जटिलता और पारिवारिक और सामाजिक उपेक्षा उनके भीतर मानसिक कुंठा को जन्म देते हैं। कुंठाएँ अत्यधिक दबाव में आकर अभिव्यक्त होने लगती है। समाज के बदलते संदर्भ आत्माभिव्यक्ति के मार्ग को गतिशील करते हैं। स्त्री और पुरुष आत्मकथा लेखन में विचारों की परिणति निम्न प्रकार से स्पष्ट होती है -

1. पुरुष आत्मकथाओं की अपेक्षा स्त्री आत्मकथाओं में लैंगिक पूर्वाग्रह कम होते हैं।
2. पुरुषों की आत्मकथाओं में आत्मबद्धता और मैं की केन्द्रियता अधिक होती है।
3. पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अक्सर संबंध तत्वों को अधिक गंभीरता से अभिव्यक्त करती है।
4. स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा धारा प्रवाह और सुस्पष्ट अभिव्यक्ति करती है।
5. पुरुषों की आत्मकथाओं में यशोगान या उपलब्धि का अंकन होता है जबकि स्त्रियों की आत्मकथाओं में संघर्ष की अभिव्यक्ति होती है।
6. स्त्री आत्मकथाएँ द्वंद्व की परिणति होती है।
7. स्त्रियाँ आत्माभिव्यक्ति के औजार के रूप में आत्मकथा का प्रयोग करती हैं।
8. आत्मकथा लेखन के उत्प्रेरण में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तथ्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारणों ने आत्मकथा लेखन की वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इस वैचारिक दस्तक में आधुनिक स्त्री की संवेदनाओं, अनुभूतियों तथा आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से समाहित थी। परंतु जिस जाति, धर्म, वर्ग, समाज को एक परिधि के अंतर्गत रखा गया हो उसको यों अचानक अस्तित्व में आ जाना कोई चमत्कार या वरदान का प्रतिफलन नहीं वरन् शनै:-शनै: अपने अस्तित्व को पहचानना तथा कुछ पुरुष वर्चस्व के अपने स्वार्थ के उदारवादी नजरिये का परिणाम था, क्योकि यह समय की मांग ही नहीं बल्कि विकास की अनिवार्यता भी है। स्त्रियों की आत्मलेखन यात्रा पुरुष वर्चस्व का अवरोध आड़े आया। पुरुष वर्चस्व अपना प्रतिरोध जातिगत, वर्गगत, पितृसत्ता तथा लिंगभेद के

माध्यम से व्यक्त करता है। एक तरफ तो पुरुष वर्ग स्त्री का आगे बढ़ना अपनी आवश्यकता का पूरक मानता है दूसरी तरफ उसकी अस्मिता, अधिकार और स्वतंत्रता पर अपना आधिपत्य भी रखना चाहता है।

स्त्री आत्मकथात्मक स्वर अपनी पुरजोर कोशिश में लगा है कि पुरष के वर्चस्व को नकारकर, अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर अपनी अस्मिता के बचाव और सम्मान को स्थायित्व दिलाने में समर्थ हो सके? स्त्रियों ने पुरुष सत्ता को अपनी आत्माभिव्यक्ति के द्वारा यह सोचने पर विवश किया है कि जो पठनीयता में इतना भयावह है वह भोगने और सहने में कितना दर्दनाक होगा? सदियों से चली आ रही पितृसत्ता जहाँ पुरुषों को सिरमौर देती है वहीं स्त्रियों को जमीन दिखाने में कोताही नहीं बरतती है। अच्छा-बुरा, ऊँच-नीच, महत्वपूर्ण-महत्वहीन जैसे वर्गीकरण में स्त्रियों के खाते में ऋणात्मक पद के विशेषण रूप ही आते हैं। स्त्री-पुरुष की सृजनात्मकता का मूल्यांकन पुरुष की दृष्टि से पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था ही करती है। तमिल की लेखिका की आत्मकथा 'बामा', कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप', शीला झुनझुनवाला की आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही' मैत्रेयी की गुड़िया भी गुड़िया, चन्द्र किरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' आदि ऐसी अनगिनत आत्मकथाऐं हैं जो घर से लेकर बाहर तक पुरुष सत्ता की दमनकारी नीतियों का जीता जागता उदाहरण है। स्त्री की इच्छा, मनोकांक्षा, स्वतंत्रता अपनी न होकर उसके अधिकार पुरुष वर्ग के उदारवादी दृष्टिकोण पर ही अवलम्बित हैं। वह कभी मान मर्यादा, कभी स्वयं की संकुचित मानसिकता का हवाला देकर वर्चस्व की दीवारें इतनी सख्त कर देता है कि स्त्री को अपने रास्ते स्वयं निर्धारित करने पड़ते हैं। वह अपने अधिकारों के लिए सोचने पर विवश हो जाती है।

पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने पर किसी अन्य पुरुष के वर्चस्व की सत्ता इतनी आसानी से स्वीकार नहीं करता, (परंतु स्वयं दूसरों के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से नहीं चूकता, सेंध लगाने से नहीं चूकता) उसकी अधिकारिक सीमा में जो वस्तु या व्यक्ति है उस पर वह अपने संपूर्ण आधिपत्य का दावा अवश्य प्रस्तुत करता है। अपनी अधिकारिक वस्तु या व्यक्ति पर दूसरों का अधिकार सहन नहीं कर पाता है। पुरुष चाहे किसी वर्ग का हो, जाति का हो, शिक्षित हो या अशिक्षित उसका मात्र पुरुष होना ही दुनिया की सर्वोच्च सत्ता के भाव का द्योतक है और यह स्वामी भाव उसे स्त्री पर शासन करने का जन्म सिद्ध अधिकार देता है।

पुरुषों के पारंपरिक ढांचे में कमजोर और निस्सहाय स्त्री के लिए तो स्वार्थगत उदारवादी दृष्टिकोण तो रहता है परंतु सब अर्थात आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और सामाजिक दृष्टि में अपना स्थान बनाने वाली स्त्री के लिए न तो कोई उदारवादी दृष्टिकोण है और ना ही सहानुभूति। प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' प्रत्यक्ष साक्ष्य है कि प्रभा खेतान डॉ. सर्राफ के सम्मान का विषय थी और ना ही उनके परिवार और ना ही समाज की दृष्टि में। आजीवन उन्हें स्त्री होने के नियति को झेलना पड़ा। प्रभा खेतान ही क्यों? चन्द्र किरण सौनरेक्सा, मन्नू भंडारी, कृष्णा अग्निहोत्री आदि ऐसे नाम हैं जिन्होंने आर्थिक संपन्नता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा दोनों को प्राप्त करने पर भी व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में उपेक्षा और तिरस्कार को सहना पड़ा, क्योंकि पुरुष स्त्रियों के प्रति उदारवादी होने का प्रपंच भले ही रच ले, लेकिन अंतर्मन से वह पुरातनपंथी ही रहता है। स्त्रियाँ अपने संबंधों के प्रति पूर्णत: समर्पित भी रहती और उन संबंधों को स्वीकृत भी करती है चाहे वह संबंध पिता-भाई-पति किसी का भी हो। परंतु

पुरुष स्त्रियों के लिए सदैव द्वैय की स्थिति में रहते हैं। एक तरफ तो उन्हें स्त्रियों के दाय की प्राप्ति की इच्छा तो दूसरी तरफ उनके अस्तित्व को ही अस्वीकृत करते हैं।

आत्मकथा विधा का आधार तत्व आत्म या स्व माना गया है। आत्म के अभाव में आत्मकथा की विकास यात्रा संदेहास्पद होगी। स्त्री आत्मकथाओं में आत्म की उपस्थिति वैयक्तिक होते हुए भी जातिगत और समूहगत होती है। यह आत्म कहीं होता नहीं बल्कि अर्जित करना पड़ता है। स्त्री आत्मकथाओं में इस आत्म की अभिव्यक्ति कहीं स्वीकृत कहीं उद्घाटित और कहीं सम्मिलितरूप में स्पष्ट होतीहै। बाह्य जगत के साथ इस आत्म का समन्वय ही स्त्री आत्मकथा का केन्द्र बिन्दु माना जा सकता है। क्योंकि व्यक्ति के अंत:जगत से बाह्य जगत का संबंध ही स्त्री आत्मकथाओं को गति प्रदान करती है। स्त्री आत्मकथा में मुखयत: तीन स्थितियों में व्यक्त करती है। पारिवारिक आत्म, निज आत्म और सामाजिक आत्म। ये तीनों आत्म व्यक्तिगत स्व न रहकर संपूर्ण स्त्री स्व बन जाते हैं।

हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं के लेखन के संदर्भ में देखें तो धर्मवीर भारती द्वारा संपादित 'सीमन्तनी उपदेश' (सन् 1882 ई.) प्रथम स्त्री वैचारिक उन्मेष, प्रज्ञा पाठक द्वारा संपादित 'सरला एक विधवा की आत्मजीवनी' (सन् 1915 ई.), जानकी देवी बजाज कृत 'जो कहा नहीं गया' (सन् 1996 ई.), पद्मा सचदेव कृत 'बूँद बावड़ी' (सन् 1999 ई.), शीला झुनझुनवाला कृत 'कुछ कही कुछ अनकही' (सन् 2000 ई.), मैत्रेयी पुष्पा कृत 'कस्तूरी कुंडल बसै' (सन् 2002 ई.), अनीता राकेश कृत 'सतरें और सतरें' (सन् 2002 ई.), रमणिका गुप्ता कृत 'हादसे' (2005 ई.), गगन गिल कृत 'दिल्ली में उनींदे' (सन् 2006 ई.), प्रभा खेतान कृत 'अन्या से अनन्या' (सन् 2007 ई.), मन्नू भंडारी कृत 'एक कहानी यह भी' (सन् 2007 ई.), मैत्रेयी पुष्पा कृत 'गुड़िया भीतर

गुड़िया' (सन् 2008 ई.), चन्द्र किरण सौनरेक्सा कृत 'पिंजरे की मैना' (सन् 2008 ई.), कृष्णा अग्निहोत्री कृत 'लगता नहीं दिल मेरा' (सन् 2010 ई.) आदि आत्मकथाओं में स्त्री आत्मकथाकार ने आत्म और तत्कालीन समय को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

इन स्त्री आत्मकथाओं में आत्म के भिन्न-भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति की गई है। सीमन्तनी उपदेश में वैचारिक आत्म, दु:खी आत्म को मुख्य रूप से व्यक्त किया गया है। सरला विधवा की आत्म जीवनी में एक विधवा के आत्म को समूहगत विधवा के आत्म में प्रस्तुत किया गया है। विधवा आत्म के साथ पारिवारिक आत्म, दु:खी आत्म, तर्कशील आत्म, समानता का दावा प्रस्तुत करता आत्म अभिव्यक्त हुआ है। 'जो कहा नहीं गया' में लेखिका के उपेक्षित आत्म, शोषित आत्म, कुंठित आत्म की अभिव्यक्ति मिली। 'बूंद बावड़ी' में दृढ़ संकल्पी आत्म का स्वरूप मुख्य रूप से उभरा है। 'कुछ कही कुछ अनकही' में निज आत्म, पारिवारिक आत्म तथा सामाजिक आत्म की अभिव्यक्ति हुई है। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में विद्रोही आत्म, लाचार आत्म, बेबस आत्म और सामाजिक आत्म को व्यक्त किया गया है। 'सतरें और सतरें' में उपेक्षित आत्म, विद्रोही आत्म और पारिवारिक आत्म का स्वरूप निखरा है। 'हादसे' में दुस्सहासी आत्म, विद्रोही आत्म, संघर्षी आत्म तथा सामाजिक आत्म को व्यक्त किया है। 'दिल्ली में उनींदे' में लेखिका का सामाजिक, जागरूक आत्म, निज आत्म को अभिव्यक्ति प्रदान की गई। 'अन्या से अनन्या' में उपेक्षित आत्म, निज आत्म, सामाजिक आत्म को व्यक्त किया गया है। 'एक कहानी यह भी' में पारिवारिक आत्म, निज आत्म और सामाजिक आत्म को व्यक्त किया गया है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में पारिवारिक आत्म, निज आत्म और सामाजिक आत्म को अभिव्यक्ति प्रदान की गई। 'पिंजरे की मैना' में लेखिका ने अपने पारिवारिक आत्म, निज आत्म और सामाजिक आत्म को विकसित

किया है। 'लगता नहीं दिल मेरा' में पारिवारिक आत्म, उपेक्षित आत्म, शोषित आत्म तथा सामाजिक आत्म को व्यक्त किया गया।

कोई भी साहित्यिक कृति अपने साथ-साथ तत्कालीन समय की कहानी भी कहती है। पहले के समय में यदि हम देखें तो साहित्य ने इतिहास का आश्रय लिया है और इतिहास ने साहित्य का बहुत ही कम। परंतु कालांतर में मान्यताएँ तथा संदर्भ परिवर्तित हुए और आज इतिहास साहित्य के माध्यम से अपने रास्ते नवनिर्मित कर रहा है। साहित्य और इतिहास एक दूसरे पर कम या अधिक निर्भर होते ही हैं। आत्मकथा के संदर्भ में देखें तो चूंकि आत्मकथाकार उस समय की समकालीन घटनाओं और सामाजिक शक्तियों का स्वयं भोक्ता होने के कारण उनका विश्लेषण वह अपने बौद्धिक ज्ञान स्तर पर करता है या कहें कि ऐतिहासिक बोध होने पर ही अभिव्यक्ति के माध्यम से वास्तविकता को प्रकट करता है। जिसमें हेर-फेर की गुंजाइश या संभावना गौण होगी। इन स्त्री आत्मकथाओं में तत्कालीन समय की घटनाओ, रीति-रिवाजों, संस्कृति को विश्लेषित किया गया है। तत्कालीन समय में अंग्रेजी शासन, स्वतंत्रता आंदोलन, देश की स्वतंत्रता, भारत और पाकिस्तान का विभाजन, हिन्दू-मुस्लिम दंगे, साम्प्रदायिक विवाद जैसी राजनीतिक परिस्थितियाँ उपलब्ध थीं। आत्मकथाकार इन घटनाओं से अनभिज्ञ नहीं था बल्कि उसने अपनी सहभागिता भी दर्ज करायी। समाज की रूढ़ियाँ, परम्पराएँ आत्मकथा लेखकों की पैरों की जंजीर बनी हुई थी।

साहित्य की विधाएँ जैसे उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी, निबंध, आलोचना के साथ-साथ कुछ नवीन विधाएँ जैसे जीवनी, दैनंदिनी, रिपोर्ताज, रेखाचित्र तथा आत्मकथा विधा अपने स्वरूप और सूक्ष्म विवेचन दृष्टि के कारण आधुनिक रचनाकार

को सम्मोहित कर रही है। इन सभी विधाओं में यदि जीवन के सबसे समीप कोई विधा है तो वह है आत्मकथा। आत्मकथा में यथार्थ दृष्टि, तथ्य वर्णन, अभिव्यक्ति कौशल, प्रत्यक्षीकृत अनुभवों को यथातथ्य स्मृति के पुनरावलोकन के दर्पण में सत्य की उपस्थिति में अभिव्यक्त किया ही नहीं जाता बल्कि उनका विवेचन और विश्लेषण भी किया जाता है।

आत्मकथा और उपन्यास एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है क्योंकि जहाँ आत्मकथा में सत्य की अनिवार्यता है वहीं उपन्यास कल्पित विषय या वास्तविक घटनाओं को कल्पना और कलात्मक अभिव्यंजना के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

आत्मकथा और कहानी में आकार तथा विषय चयन दोनों दृष्टि से अंतर है। आत्मकथा के लिए प्रमाणिकता का विशेष महत्व है। कहानी प्रमाणिक तथा कल्पित दोनों विषयों पर लिखी जा सकती है।

आत्मकथा और डायरी दोनों के लेखक स्वयं होते हैं, परंतु अन्य दृष्टियों से भिन्नता की उपस्थिति रहती है। आत्मकथा और डायरी का संबंध माला और मोती का संबंध है। अगर डायरी मोती है तो आत्मकथा माला है। सर्वोत्कृष्टता तो माला के रूप में ही प्राप्त होती है।

आत्मकथा और जीवनी के लेखक भिन्न होते हुए भी कुछ समानताएँ परिलक्षित होती है। जीवनी से आत्मकथा विधा की विशिष्टता आत्माभिव्यक्ति, विश्लेषण की प्रवृत्ति, सत्य का अंकन आदि से स्पष्ट होती है।

आत्मकथा और रिपोर्ताज में अनेक भेद विद्यमान है। आत्मकथा में जहाँ यथातथ्य वर्णन होता है वहीं रिपोर्ताज में लेखक तथ्यों को घटनाओं को सनसनीखेज,

मनोरंजक बना देता है। आत्मकथा के लिए आत्मिक विश्लेषण अनिवार्य है। रिपोर्ताज में विश्लेषण की शर्त अनिवार्य नहीं है।

आत्मकथा और रेखाचित्र एक दूसरे से पूर्णत: भिन्न विधाएँ हैं। आत्मकथा में आत्मचित्रण विश्लेषण प्रधान होता है। रेखाचित्र में आत्मेतर चित्रण, काल्पनिक भाव से वस्तु और व्यक्ति का चित्र या छवि उभारी जाती है।

आत्मकथा और यात्रा साहित्य के लेखक एक होते हैं। दोनों में ही प्रत्यक्षीकृत दृश्यों, घटनाओं तथा उनके प्रति निजी प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है भेद इतना है। आत्मकथा में इन सबके साथ आत्मकथाकार का आत्म किस रूप में सम्बद्ध है।

आत्मकथा और यात्रा वृत्तांत के संदर्भ में आत्मकथा में जीवन तो यात्रा वृत्तांत में यात्रा वर्णन होता है। आत्मकथा में आत्मकथाकार अतीत की गहराइयों से वर्तमान को मापता है। यात्रा वृत्तांत लेखक वर्तमान की नाव में हिचकोले खाता है। आत्मकथा और संस्मरण के संदर्भ में आत्मकथा लेखक अपने जीवन की कथा का वर्णन विश्लेषणात्मक विधि से करता है इससे प्रमाणिकता की पुष्टि होती है। संस्मरण में लेखक स्वानुभूति का रस डालकर वर्णन को कलात्मकता का आवरण पहना देता है। आत्मकथा में व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मिक पक्ष के द्वंद्व को अभिव्यक्त करता है। जो किसी और विधा में संभव नहीं है। इसमें कार्यकारण का संबंध विश्लेषित होता है। यह विधा व्यक्ति के वास्तविक संसार को प्रस्तुत करती है।

आत्मकथा विधा एक ऐसा माध्यम है जिसमें व्यक्ति अपने जीवन को पुन: जीने के साथ-साथ विश्लेषित करता है अर्थात सुधार की गुंजाइश और सीख की प्रवृत्ति अवश्य प्रस्तुत होती है। आत्मकथाएँ व्यक्ति के जीवन का इतिहास प्रस्तुत करने के साथ-साथ समाज का इतिहास भी प्रस्तुत करती है। व्यक्ति की भूली-बिसरी स्मृतियों का

रचनात्मक प्रस्तुतीकरण आत्मकथा विधा के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। ऐसी अनेकों विशेषताएँ इस विधा गद्य की अन्य विधाओं की तुलना में श्रेष्ठता दिलाती हैं।

बीसवीं सदी से लेकर 21वीं सदी तक की यह स्त्री आत्मकथाएँ अपने स्व की अभिव्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक पक्ष की अभिव्यक्ति को भी व्यक्त करती हैं। ये आत्मकथाएँ केवल एकल स्त्री की कथा को न कहकर बल्कि उन तमाम स्त्रियों की आवाजें हैं जिन्होंने अपने जीवन में घटित उपेक्षा, तिरस्कार, शोषण, संघर्ष को मौन रूप से सहा है। यदि अब भी उन आवाजों को उपेक्षित किया गया तो परिणाम भयावह होंगे। परिवार और समाज की धुरी (स्त्री) को इस तरह हाशिए पर नहीं रखा जा सकता है। संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है इस बात की ओर आत्मकथाएं संकेत करती हैं।

*****

आधार ग्रंथ

क्र.सं.	शीर्षक	लेखक	प्रकाशक
1.	अन्या से अनन्या	डॉ. प्रभा खेतान	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2007
2.	एक कहानी यह भी	मन्नू भंडारी	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली -02, प्रथम संस्करण 2007
3.	कस्तूरी कुंडल बसै	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2002
4.	गुड़िया भीतर गुड़िया	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2008
5.	कुछ कही कुछ अनकही	शीला झुनझुनवाला	टी.पी. झुनझुनबाला फाउंडेशन, आर-18, साउथ एक्सटेंशन पार्ट-।।, नई दिल्ली - 110049, प्र.सं. 2000
6.	जो कहा नहीं गया	कुसुम अंसल	राजपाल एंड संस, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996
7.	दिल्ली में उनींदे	गगन गिल	भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, प्रथम संस्करण 2006
8.	बून्द बावड़ी	पद्मा सचदेवा	वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1999

9.	लगता नहीं दिल मेरा	कृष्णा अग्निहोत्री	सामयिक बुक्स, 3320-21 जटवाड़ा, दरियागंज, एन.एस. मार्ग, नई दिल्ली 110002, प्रथम संस्करण 2010
10.	पिंजरे की मैना	चन्द्र किरण सौनरेक्सा	पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8, दरियांगंज, नई दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण 2008
11.	मेरी जीवन यात्रा	जानकी देवी बजाज	मार्तण्ड उपाध्याय मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1956
12.	सरला एक विधवा की आत्म जीवनी	सं. प्रज्ञा पाठक	परमेश्वरी प्रकाशन, बी.109 प्रीत विहार, दिल्ली-110092, प्रथम संस्करण 2008
13.	सतरें और सतरें	अनीता राकेश	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., जी-17 जगतपुरी, दिल्ली -110051, प्रथम संस्करण 2002
14.	सीमन्तनी उपदेश	एक अज्ञात हिन्दू औरत सं. डॉ. धर्मवीर	वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1982, द्वितीय संस्करण 2004
15.	हादसे	रमणिका गुप्ता	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., जी-17 जगतपुरी, दिल्ली -110051, प्रथम संस्करण 2005

संदर्भ ग्रंथ सूची

क्र.सं.	शीर्षक	लेखक	प्रकाशक
1.	अपने अपने पिंजरे	मोहनदास नैमिशराय	वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1995
2.	अर्ध कथानक	बनासीदास जैन अनु. रोहिणी चौधरी	पेंगुइन बुक्स इंडिया प्रा.लि., 11 कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017, हिन्दी प्रथम संस्करण 2007 मूल (1641)
3	अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य	राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2001
4 .	आत्मकथाकार बच्चन	डॉ. स्नेहलता	आर्य बुक डिपो, 30, नाई वाला, करोल बाग, नई दिल्ली-110005, प्रथम संस्करण 1986
5.	आत्मकथा की संस्कृति	पंकज चतुर्वेदी	वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2003
6.	आदमी की निगाह में औरत	राजेन्द्र यादव	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2001
7.	आधी आबादी	इंदु भारती	अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., 469/3ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2005
8.	आधुनिक साहित्य और अनुसंधान	सं. डॉ. भ.ह. राजूकर, डॉ. राजमल बोरा	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1997

9.	आलो-आंधारि	बेबी हलदार अनु. प्रबोध कुमार	रोशनाई प्रकाशन, 212सी.एल./ए, अशोक मित्र, कांचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, पश्चिम बंगाल, प्रथम संस्करण 2002
10.	इक्कीसवीं सदी की ओर	सं. संमन कृष्णकांत	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2001
11.	उपन्यास का सिद्धांत	ले. जार्ज लुकाच अनु. आनंद प्रकाश	मैकमिलन इंडिया लि., 4 कम्युनिटी सेंटर, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फेज 1, नई दिल्ली-110028, प्रथम संस्करण 1981
12.	उपनिवेश में स्त्री	प्रभा खेतान	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2003
13.	एक सैक्स वर्कर की आत्मकथा	नलिनी जमीला	राजपाल एंड संस, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण 2008
14.	औरत: अस्तित्व और अस्मिता	अरविंद जैन	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2001
15.	औरत : उत्तरकथा	सं. राजेन्द्र यादव अर्चना वर्मा	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2002
16.	औरत की अभिव्यक्ति एवं आदमी का अधिकार	डॉ. प्रोमिला के.पी.	कुंज बिहारी पचौरी जवाहर पुस्तकालय, सदर बाजार, मथुरा, उत्तर प्रदेश-281001, प्रथम संस्करण 2004

17.	चर्चित महिला कथाकारों की कहानियाँ	सं. दिनेश द्विवेदी	विद्या विहार, 1685, कूचा दखनीराय, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण 1985
18.	जिंदगी कोई सौदा नहीं	इंदिरा गोस्वामी	सरस्वती विहार, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण 1992
19.	दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर	विमल थोरात	अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., 469/3,21ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्र.सं. 2010
20.	दलित महिलाएँ - इतिहास, वर्तमान और भविष्य	सं. एवं संकलन एस. विक्रम	श्री नटराज प्रकाशन, 4378/4बी, 306 जे.एम.डी. हाउस, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
21.	देहरि भई विदेस	सं. राजेन्द्र यादव	किताब घर प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2009
22.	नागपाश में स्त्री	सं. गीताश्री	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2010
23.	नारी एक सफर	सं. निदेश नंदिनी डालमिया संतोष गोयल	ज्ञान भारती, 4/14, रूपनगर, दिल्ली-110007, प्रथम संस्करण - 2008
24.	नारी प्रश्न	सरला महेश्वरी	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली -02, प्रथम संस्करण 1998
25.	पंत-साहित्य : आत्मकथा परिदृश्य	डॉ. विर्मल बख्शी	सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण 1997

26.	पितृसत्ता के नए रूप	सं. राजेन्द्र यादव प्रभा खेतान अभय कुमार दुबे	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2003
27.	बधिया स्त्री	जर्मेन ग्रीयर अनु. मधु बी. जोशी	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2005
28.	बीसवीं सदी का तेलुगु साहित्य	सं. डॉ. विजय राघव रेड्डी	आलेख प्रकाशन, बी-8, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण 2006
29.	भारतीय लेखिकाओं से साक्षात्कार	डॉ. रणवीर रांग्रा	जगतराम एंड संस, 1x/221, मेन रोड, गांधी नगर,दिल्ली-110031, प्रथम संस्करण 1997
30	भारतीय भाषाओं में महिला लेखन	सं. आशारानी व्होरा	श्री नटराज प्रकाशन, ए507/12, साउथ गांवडी एक्सटेंशन, दिल्ली-110052
31.	मन मांझने की जरूरत	अनामिका	सामयिक बुक्स, 3320-21 जटवाड़ा, दरियागंज, एन.एस. मार्ग, नई दिल्ली 110002, प्रथम संस्करण 2006
32.	मानविकी पारिभाषिक कोश	हरदेव बाहरी	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, साहित्य खंउ 1965
33.	मेरा जीवन	आचार्य शिवजूजन सहाय	आचार्य शिवपूजन सहाय स्मारक न्यास के सहयोग से सारांश प्रकाशन प्रा.लि., बहल हाउस, 13, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002, प्रथम संस्करण 1985

34.	मेरी कहानी	कमला दास	हिन्द पॉकेट बुक्स, जी.टी. रोड, शाहदरा,दिल्ली-110032,प्रथम संस्करण 1978
35.	मुड़ मुड़ के देखता हूँ	राजेन्द्र यादव	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2001
36	महिला आत्मकथेगलु: अनुसंधान	सं. सबिहा	कर्नाटक् साहित्य अकादमी, कन्नड़ भवन, जेसी रोड, बेंगलोर, प्र.सं. 2005
37.	वृहत कोश	सं. कालिका प्रसाद	ज्ञान मंडल लि. विक्रम भवन, लंका वाराणसी-221005, सप्तम संस्करण 1992
38.	स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ	रेखा कस्तवार	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2006
39.	स्त्री : उपेक्षिता	सीमोन द बोउवार अनु. डॉ. प्रभा खेतान	हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा.लि., जे.-40, जोरबाग लेन, नई दिल्ली-110032,प्रथम संस्करण 2002
40.	स्त्री लेखन स्वप्न और संकल्प	रोहिणी अग्रवाल	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2011
41 .	स्त्रियों की पराधीनता	जान स्टुअर्ट मिल अनु. प्रगति सक्सेना	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02, प्रथम संस्करण 2002

42.	स्त्री सशक्तीकरण के विविध आयाम	डॉ. ऋषभदेव शर्मा	गीता प्रकाशन, समतल 4-2-771, गीता भवन, रामकोट चौरस्ता, हैदराबाद-500095, प्रथम संस्करण 2004
43.	स्त्रीवादी साहित्य विमर्श	जगदीश्वर चतुर्वेदी	अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., 4697/3,21ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2002
44 .	साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार	डॉ. हरिमोहन	वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1997
45.	स्त्री लेखन और समय के सरोकार	हेमलता महिश्वर	नेहा प्रकाशन, 295 बैंक इन्क्लेव, लक्ष्मीनगर, नई दिल्ली-110092, प्रथमसंस्करण 2006
46.	हंस आत्मकथा अंक	सं. प्रेमचंद मूल (1932) प्र.सं. की आवृत्ति 2008	विश्वविधालय प्रकाशन, चौक वाराणसी - 210001
47.	हिन्दी साहित्य कोश भाग-1 (पारिभाषिक शब्दावली)	सं. धीरेन्द्र वर्मा	ज्ञान मंडल लि., संत कबीर रोड, वाराणसी-01
48.	हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास	डॉ. सुमन राजे	भारतीय ज्ञानपीठ, 18ए, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, प्रथम संस्करण 2003
49.	हिन्दी आत्मकथा साहित्य	डॉ. विश्वबंधु शास्त्री विधालंकार	राधा प्रकाशन,1528, आर्यसमाज गली, सीताराम बाजार, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण 1989

50 .	हिन्दी आत्मकथा: स्वरूप एवं साहित्य	डॉ. कमलेश सिंह	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1989
51.	ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ	सुधा सिंह	श्याम बिहारी राय द्वारा शिल्पी इंडिया प्रा. लि., बी. सरस्वती काम्पलेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-92, प्रथम संस्करण 2008

पत्र-पत्रिकाएँ

क्र.सं.	शीर्षक	लेखक	प्रकाशक
1.	अन्यथा	सं. कृष्ण किशोर	2035,फेज-1, अरबन इस्टेट, डुमरी लुधियाना-141013
2.	आलोचना	सं. नामवर सिंह	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 02
3.	कथादेश	सं. हरिनारायण	सहयात्रा प्रकाशन प्रा.लि., सी.-521/जेड-3, दिलशाद गार्डेन, दिल्ली-110095
4.	कथाक्रम	सं. शैलेन्द्र सागर	4, ट्रांजिट हास्टल, वायरलेस चौराहे के पास, महानगर लखनऊ
5.	पंचशील शोध समीक्षा	सं. डॉ. हेतु भारद्वाज	एम-31, निराला नगर,दुष्यंत कुमार मार्ग, भदभदा रोड, भोपाल-462003
6.	वागार्थ	सं. रवीन्द्र कालिया	वागार्थ भारतीय भाषा परिषद, 36-ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-700017

7.	वर्तमान साहित्य	सं. विभूति नारायण	28 एम आई जी, अवंतिका-1, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
8.	समकालीन साहित्य समाचार	सं. सत्यव्रत	किताब घर प्रकाशन, पो.बा.7240, नई दिल्ली-02
9.	समकालीन भारतीय साहित्य	सं. अरूण प्रकाश	रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-110001
10.	समयांतर	पंकज बिष्ट	79ए, दिलशाद गार्डेन, दिल्ली-110095
11.	समीक्षा	सं. गोपाल राय हरदयाल	द्वारा-सत्यकाल सम्पादन समीक्षा एच-2, यमुना इं.गां.रा.मु. विश्वविधालय,मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-68
12.	साक्षात्कार	सं. आनन्द सिन्हा	साहित्य अकादमी, म.प्र. संस्कृति परिषद, संस्कृति भवन, बाण गंग भोपाल-3
13.	हिन्दुस्तानी	सं. डी एस के पाण्डेय	हिन्दोस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, त्रैमासिक शोध पत्रिका
14.	हिन्दी प्रचार वाणी	सं. प्रधान श्रीमती बी.एस. शांताबाई	कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति, 178, 4वां मैन चामराजपेट, बेंगलोर
15.	हंस	सं. राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन प्रा.लि., 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

अंग्रेजी की संदर्भ सूची

क्र.सं.	शीर्षक	लेखक	प्रकाशक
1.	Women on women a Feminist study	Bhaskara Shukla	Sarup & sons, 4740/23, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002

2.	Autobiography and Gender in early modern literature	Sharan Codman Seelig	Cambridge University Press, Newyork, Melbourne, Madrid, Cape town
3.	Hindi widow	Mrs. Parvati Athavale translated by Rev. Justin E. Abbott, D.D.	S.K. Bhatia for Reliance Publishing House, 3026/7H, Ranjit Nagar, New Delhi-110008
4	History of Oriya Literature	Jatindra Mohan Mohanti	Sahitya Academy, Edition 2006
5	Early women's writing in Orissa 1898-1950	A last tradition, Edited by Sachidanand Mohanty	SAGE Publication, New Delhi, Edition 2005
6	A History of Punjabi literature	Sant Singh Shekhar, Kartar Singh Duggal	Sahitya Academy, First Edition 1992
7	Reform and Nationalist Movements	Kusemawali Deshpandey	M.V. Rajadhyaksha Sahitya Academy, 1988